Psychological Foundation of Education

MAE-102

Self Learning Material

Directorate of Distance Education

SWAMI VIVEKANAND SUBHARTI UNIVERSITY

MEERUT-250005

UTTAR PRADESH

विषय-सूची

इकाई (Units) (CONTENTS) पृष्ठ संख्या (Page No.)

1.	शैक्षिक मनोविज्ञान	1
2.	मानव विकास	41
3.	अधिगम	93
4.	समूह गतिशास्त्र	160
5.	व्यक्तिक भिन्नता	182

Syllabus

UNIT-I

- ❖#Educational Psychology : Concept, concerns and scope of educational psychology, contribution of psychology to education.

UNIT-II

- ❖#Human Development : Concept, principles, sequential stages of development; factors influencing development and their relative role; general characteristics and problems of each stage.
- ❖#Theories of Piaget and Bruner – major concepts and stages and implications for education.
- ❖#Indian theory of Psychological Development.

UNIT- III

- ❖#Learning : Concept, kinds, levels of learning various view points on learning, Gagne's conditions of learning; cognitive view point and information processing; issues related to learning. Educational implications of the view points on learning.

UNIT- IV

- ❖#Group Dynamics: Group process, interpersonal relations, sociometry grouping, Social-Emotional climate of the classroom and influence of teacher characteristics.

UNIT – V

- ❖#Individual Difference: Concept of intra and inter differences:
- ❖#Intelligence and cognitive abilities, identification fostering
- ❖#Creativity – Nature, Process, Identification, fostering and Guiding creative children.
- ❖#Interests, attitude and values
- ❖# Adjustment of teaching – learning process to suit individual
- ❖#differences – learning styles and teaching strategies.

Practicum (any one)

- ❖#Preparing a lesson plan incorporating the various psychological principles
- ❖#Administering any one psychological test to 5 peers and writing a report.

नोट

अध्याय-1

शैक्षिक मनोविज्ञान

(Structure)

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 मनोविज्ञान का अर्थ
1.4 मनोविज्ञान के क्षेत्र और विधियाँ
1.5 मनोविज्ञान एक विज्ञान
1.6 मनोविज्ञान की शाखाएँ
1.7 शिक्षा-मनोविज्ञान का अर्थ एवं परिभाषा
1.8 शिक्षा-मनोविज्ञान: एक स्वतंत्र अनुशासन
1.9 शिक्षा-मनोविज्ञान का विषय-क्षेत्र
1.10 शिक्षा-मनोविज्ञान की विधियाँ
1.11 प्रयोगात्मक विधि
1.12 जीवन-इतिहास विधि
1.13 सारांश
1.14 अभ्यास-प्रश्न
1.15 संदर्भ पुस्तकें

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मनोविज्ञान का अर्थ, क्षेत्र एवं उसकी विधियों को समझने में;
- मनोविज्ञान एक विज्ञान है–यह जानने में;
- शिक्षा-मनोविज्ञान को समझने में;
- शिक्षा-मनोविज्ञान के विषय-क्षेत्र को समझने में;
- शिक्षा-मनोविज्ञान की विभिन्न विधियों को समझने में;
- व्यक्ति-इतिहास पद्धति के विषय में जानकारी प्राप्त करने में।

1.2 प्रस्तावना

मनोविज्ञान समूचे मानव-व्यवहार का अध्ययन है। मनुष्य के भीतर घटने वाली मानसिक घटनाओं का सूक्ष्म से सूक्ष्म अध्ययन मनोविज्ञान के अध्ययन का आधार है। मानव-व्यवहार स्वाभाविक एवं

नोट

अर्जित दोनों प्रकार का होता है अत: इन दोनों का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से मनोविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है। इस रूप में वह पशु-व्यवहार का भी अध्ययन करता है ताकि मानव-व्यवहार से उसकी तुलना कर अपने निष्कर्षों को अधिक सफल रूप में प्राप्त कर सके। इन सभी के अध्ययन हेतु उसने विभिन्न अध्ययन-क्षेत्र एवं पद्धतियाँ विकसित की हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। परिवार में जन्म लेने के साथ ही वह किसी न किसी रूप में समाज से जुड़ जाता है। समाज में मानव का व्यवहार कैसा हो अथवा होना चाहिए, इसकी शिक्षा भी हम समाज से ही प्राप्त करते हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति के व्यवहार में शिक्षा के माध्यम से परिवर्तन लाना है। शिक्षा-मनोविज्ञान के अंतर्गत शैक्षिक वातावरण में उत्पन्न समस्याओं और उनके समाधान का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार का तथा विभिन्न समस्याओं का अध्ययन शैक्षिक परिस्थितियों में करता है। यह अध्ययन एक विधि से किया जाता है। विधि का अर्थ उस प्रणाली या तरीके से है जिसकी सहायता से व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन, विश्लेषण और व्याख्या करके एक निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। विधि तथ्यों की जानकारी का एक तरीका है। शिक्षा-मनोविज्ञान भी अपनी विभिन्न समस्याओं का अध्ययन एवं समाधान करने के लिए वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करता है। शिक्षा-मनोविज्ञान में किसी पदार्थ विज्ञान की भाँति अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणालियों को कठोरता से लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ अध्ययन की विषय-वस्तु जीवित शरीरधारी शिक्षार्थी का

शैक्षिक व्यवहार होता है। हम यह भलीभाँति जानते हैं कि शिक्षाशास्त्र और शिक्षा-मनोविज्ञान को कुछ कारणों से विशुद्ध विज्ञान (रसायन एवं भौतिक शास्त्र) की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इनके नियम अटल होते हैं और उनका सम्बन्ध भौतिक पदार्थों (Matter) से है जबकि शिक्षा एक मानवीय विषय है और यह मानव-समाज तथा शैक्षिक क्रिया-कलापों से सम्बन्ध रखती है।

अब शिक्षा-मनोविज्ञान को भी विज्ञान की कोटि में रखा जाने लगा है, क्योंकि इसने कल्पना, अनुमान तथा अन्धविश्वास को त्याग करके अपने कार्यों के लिए वैज्ञानिक विधि को अपनाया है। वैज्ञानिक भाषा की 'अध्ययन विधि' का तात्पर्य उस मार्ग से है जिस पर चलकर सत्य की खोज की जाती है।

वैज्ञानिक विधि क्या है?–यह अध्ययन की एक पद्धति है जो वैज्ञानिक नियमों के अन्तर्गत संचालित होती है। वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग केवल प्राकृतिक या भौतिक वस्तुओं के विषय में अध्ययन करने के लिए ही किया जा सकता है, यह एक भ्रान्त धारणा है। आज सामाजिक घटनाओं के संम्बन्ध में सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति में धर्म, दर्शन या कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत पर्यवेक्षण (observation), परीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण की एक व्यवस्थित कार्य-प्रणाली को वैज्ञानिक पद्धति कहते हैं। श्री **जार्ज ए. लुण्डबर्ग** (Lundberg) ने वैज्ञानिक पद्धति के अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है– "सामाजिक वैज्ञानिकों में यह विश्वास पुष्ट हो गया है कि उनके सम्मुख जो समस्याएँ हैं उनका हल यदि होना है तो सामाजिक घटनाओं के निष्पक्ष एवं व्यवस्थित निरीक्षण, सत्यापन, वर्गीकरण तथा विश्लेषण द्वारा ही होगा। इसी दृष्टिकोण को, उसके अति ठोस एवं सफल रूप में, मोटे तौर पर वैज्ञानिक पद्धति कहा जाता है।" (Social scientists are committed to the belief that the problems which confront them are to be solved if at all, by judicious and systematic observations, verification, classification and interpretations of social phenomenon. This approach in its most rigorous and successful from is broadly designated as the scientific method.)

वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Scientific Method)–

श्री **मार्टिन डाल** तथा **मोनाकेसी** (Martin Dale and Monachesi) ने कहा है- "विज्ञान भी विचार का एक तरीका है। अन्य सभी विचारों की तरह यह भी समस्याओं के प्रत्युत्तर में ही उदय होता है। यह अन्य सभी विचारों से प्रधानत: पद्धति में ही भिन्न है। विज्ञान की पद्धति की विशेषता यह है कि यह (1) अवलोकन पर बल देती है। (2) विचारों की व्यवहारत: या वास्तविक परीक्षा करने का प्रयत्न करती है। (3) उन प्रयोगों (Experiments) या आदर्श परिस्थितियों (Model situations) का विकास करती है जिनसे उनके विचारों की परीक्षा हो सके। (4) ऐसे नए उपकरण ाों (Tools) का आविष्कार करती है जिनसे अधिक निश्चित रूप में निरीक्षण और अधिक यथार्थ माप सम्भव हो। (5) अपने अध्ययन से वैज्ञानिकों के निजी आदर्शात्मक मूल्यांकनों का दृढ़ता से बहिष्कार करती है और इस समय पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है कि घटनाएँ वास्तविक रूप में कैसे घटित होती हैं न कि क्यों होती हैं या क्या होना चाहिए।" संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक विधि अध्ययन की एक पद्धति है जो वैज्ञानिक नियमों के अन्तर्गत संचालित होती है।

शिक्षा-मनोविज्ञान अपनी समस्याओं के अध्ययन एवं शोध कार्यों में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करता है। इस विधि में विश्वसनीयता, यथार्थता, विशुद्धता, वस्तुनिष्ठता, निष्पक्षता निहित हैं। आधुनिक युग में विषय की वैज्ञानिकता का मापदण्ड उसकी पद्धति है। वैज्ञानिक पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ हैं- सत्यापनीयता (Verificability), fu'p;kRedrk (Definiteness) वस्तुनिष्ठता (Objectivity), सामान्यता (ळमदमतंसपजल) पूर्वकथनीयता (Predictability), वैज्ञानिक पद्धति में अध्ययनकर्ता अवलोकन या निरीक्षण द्वारा सत्य परख करके, विषय से सम्बद्ध कोई निष्कर्ष निकाल कर नियम का प्रतिपादन करता है।

1.3 मनोविज्ञान का अर्थ

'मनोविज्ञान' पद का अंग्रेजी रूपांतर ष्टच्ल्बीवसवहलष्ठ दो ग्रीक शब्दों के मिलने से बना है– 'Psyche' तथा 'logos'। 'Psyche' का अर्थ है आत्मा (soul) तथा 'logos' का अर्थ है अध्ययन या विवेचन। इस शाब्दिक अर्थ के अनुसार मनोविज्ञान का अर्थ हुआ आत्मा के संबंध में अध्ययन करने वाला एक विषय। प्राचीन दार्शनिकों जिनमें अरस्तू (Aristotle) तथा प्लेटो (Plato) का नाम अधिक मशहूर है, इसी शाब्दिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए मनोविज्ञान को आत्मा के बारे में अध्ययन करने वाला विषय माना था। परंतु प्राचीन दार्शनिकों द्वारा दी गई यह परिभाषा अब मात्र एक ऐतिहासिक परिभाषा बनकर रह गई है।

17वीं शताब्दी तथा 18वीं शताब्दी के दार्शनिकों (Philosophers) ने, जिनमें लिबिनिट्ज (Leibnitz), हॉब्स (Hobbes), लॉक (Locke), कांट (Kant), ह्यूम (Hume) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'Psyche' शब्द का अर्थ मन (Mind) बताया और कहा कि मनोविज्ञान की विषय-वस्तु मन है। फलत: मनोविज्ञान मन के अध्ययन का विज्ञान माना गया। मनोविज्ञान की यह परिभाषा करीब-करीब 1870 ई॰ तक सर्वमान्य रही और मनोविज्ञान, जो उस समय दर्शनशास्त्र (Philosophy) की एक शाखा थी, की विषय-वस्तु मन (mind) बनी रही।

इन दार्शनिक परिभाषाओं में मुख्यत: दो तरह के दोष पाए गए। पहला, आत्मा (Soul) या मन (Mind)। मन एक दऐसी अमूर्त (Abstract) वस्तु है जिसे देखा या सुना नहीं जा सकता। फलत: इसका अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से सम्भव नहीं है और न इसपर कोई प्रयोग ही किया जा सकता है।

नोट

दूसरा, मनोविज्ञान को मन या आत्मा का विज्ञान मान लेने से उसकी विषय-वस्तु अस्पष्ट ही बनी रहती है, क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है और मनोविज्ञान में यह किस अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

नोट

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मनोविज्ञान पहले दर्शनशास्त्र (Philosophy) की एक शाखा था और 1879 ई॰ में जब **विलियम वुण्ट** (Wilhelm Wundt) ने जर्मनी के लिपजिग विश्वविद्यालय (अब इसका नाम कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय कर दिया गया है) में मनोविज्ञान की सबसे पहली प्रयोगशाला स्थापित की, उस समय से मनोविज्ञान का संबंध दर्शनशास्त्र से धीरे-धीरे कम होता गया और इसका स्वरूप प्रयोगात्मक अधिक होता गया। फलस्वरूप मनोविज्ञान की विषय-वस्तु मन या आत्मा से हटकर मानसिक क्रियाएँ (Mental Activities) या चेतन अनुभूति (Conscious Experience) हो गई। इस परिभाषा को माननेवाले मनोवैज्ञानिकों को संरचनावादी (Structuralists) कहा गया। जिसमें विलियम वुण्ट तथा टिचेनर (Titchener) प्रमुख थे। इन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनोविज्ञान चेतन अनुभूति या तात्कालिक अनुभूति (Immediate Experience) के अध्ययन का विज्ञान है। चेतन अनुभूति या तात्कालिक अनुभूति का अर्थ यहाँ संवेदना (Sensation), कल्पना (Imagination), प्रतिमा (Image), भाव (Feeling) आदि मानसिक क्रियाओं से है। वुण्ट के अनुसार संवेदना (Sensation) चेतन अनुभूति के वस्तुनिष्ठ तत्व (Objective element) तथा भाव चेतन अनुभूति के आत्मनिष्ठ तत्व (Subjective Element) कहे जाते थे। लेकिन, संरचनावादियों की इस परिभाषा में अनेक दोष पाए गए। सबसे प्रमुख दोष यह बताया गया कि चूँकि चेतन अनुभूति का वस्तुनिष्ठ ढंग से अध्ययन नहीं किया जा सकता है, अतः इस परिभाषा से मनोविज्ञान के प्रयोगात्मक स्वरूप की व्याख्या नहीं हो पाती है। इस परिभाषा में मात्र चेतन अनुभूति के अध्ययन पर बल डाला गया है, परंतु व्यक्ति के सभी अनुभव चेतन नहीं होते, बल्कि अधिकांश अनुभव अचेतन होते है। इस परिभाषा से तब यह बिलकुल स्पष्ट नहीं होता है कि मनोविज्ञान मन की सभी अवस्थाओं का अध्ययन करता है या नहीं।

संरचनावादियों की परिभाषा में त्रुटि पाए जाने पर मनोविज्ञान की दूसरी परिभाषा दी गई जो व्यवहारवादियों (Behaviourists) की थी। व्यवहारवादियों में **जे॰ बी॰ वाटसन** (J. B. Watson) का नाम प्रमुख है। इन लोगों ने मनोविज्ञान को व्यवहार का एक वस्तुपरक विज्ञान (Positive Science of Behaviour) माना है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि इसमें चेतन अनुभूति (Conscious Experience) को मनोविज्ञान की विषय-वस्तु से अलग कर दिया गया तथा उसकी जगह व्यवहार (behaviour) को रखा गया जिसका स्वरूप अधिक वस्तुनिष्ठ (Objective) था, क्योंकि इसे देखा या सुना जा सकता है। दौड़ना, रोना, हँसना, सोचना आदि व्यवहार के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। इस परिभाषा में मनोविज्ञान को एक वस्तुपरक विज्ञान (Positive Science) माना गया, क्योंकि इसमें व्यवहार से संबद्ध तीन पक्षों—क्या (What), क्यों (Why), तथा कैसे (How) का अध्ययन किया जाता है। इस परिभाषा का प्रमुख दोष यह बताया गया कि मात्र व्यवहार का अपने-आपमें कोई अर्थ नहीं होता। सचाई यह है कि किसी भी व्यवहार की व्याख्या हम अपनी अनुभूतियों के आधार पर ही करते हैं और तब उसका सही अर्थ निकलता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान का जो अर्थ बताया है उसमें सच पूछा जाए तो उपर्यूक्त दोनों तरह की परिभाषाओं का संगम देखने को मिलता है। एटकिन्सन, एटकिन्सन, स्मिथ तथा हिलगार्ड (Atkinson, Atkinson, Smith & Hilgard) ने मनोविज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा है, "मनोविज्ञान व्यवहार तथा मानसिक प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन है।" परिभाषा से स्पष्ट है कि मनोविज्ञान में सिर्फ व्यवहार का ही अध्ययन नहीं किया जाता है, बल्कि उन मानसिक प्रक्रियाओं (Mental Processes) का भी अध्ययन किया जाता है जिन्हें बाहर

से नहीं देखा जा सकता है और जिनके बारे में व्यवहारों के आधार पर अनुमान मात्र लगाया जाता है मॉर्गन, किंग, विस्ज तथा स्कॉपलर (Morgan, King, Weisz & Schopler) ने भी स्पष्ट किया है कि मनोविज्ञान मानव-व्यवहार तथा पशु-व्यवहार के अध्ययन का विज्ञान है। साथ-ही-साथ इन लोगों ने आगे स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि मनोविज्ञान को व्यवहार का विज्ञान कहते समय मन (Mind) अर्थात आंतरिक मानसिक घटनाओं (Internal Mental Events) के अध्ययन को अलग नहीं किया जा रहा है, बल्कि उसी में इसे भी सम्मिलित किया जा रहा है। मॉर्गन, किंग, विज तथा स्कौपलर (Morgan, King, Weisz & Schopler, 1986) के शब्दों में, "जब हमलोग मनोविज्ञान को व्यवहार के विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं, तो हमलोग मन को अलग नहीं कर देते हैं, हमलोग इतना ही कहते हैं कि जो व्यक्ति करता है, अर्थात् उसका व्यवहार ही वह मार्ग (Avenue) है जिसके सहारे आंतरिक मानसिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है।"

नोट

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है आधुनिक समय में मनोविज्ञान का अर्थ एक ऐसे विज्ञान से लिया जाता है जिसमें व्यवहारों एवं मानसिक प्रक्रियाओं (Mental Processes) दोनों का अध्ययन किया जाता है।

1.4 मनोविज्ञान के क्षेत्र और विधियाँ

मनोविज्ञान का स्वरूप

मनोविज्ञान विषय का महत्त्व मनोविज्ञान के स्वरूप को समझने पर ही पता चलता है। मनोविज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए हमें जानना होगा कि मनोविज्ञान क्या है, मनोविज्ञान किस प्रकार का विज्ञान है, मनोविज्ञान की कौन-कौन-सी शाखाएँ हैं, मनोविज्ञान के उद्देश्य क्या हैं और इसकी समस्याएँ क्या हैं। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य क्या है और मनोविज्ञान की मानव जगत को क्या-क्या देन है, इन बातों का अध्ययन करने से भी मनोविज्ञान के स्वरूप (The Nature of Psychology) को भली प्रकार समझा जा सकता है।

प्रारम्भ में शताब्दियों तक मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र (Philosophy) का ही एक अंग बना रहा। गत पचास वर्षों में मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान को एक स्वतंत्र विषय के रूप में प्रस्तुत करके विज्ञान (Science) का एक स्वरूप दिया। इसी कारण अब विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान के पृथक् विभाग खुल गये हैं और इसे स्वतंत्र विषय के रूप में पढ़ाया जाता है।

मनोविज्ञान का जो वर्तमान स्वरूप हमारे सामने है, प्रारम्भ में मनोविज्ञान का स्वरूप इससे भिन्न था। इसे शुरू-शुरू में आत्मा का शास्त्र (Science of Soul) माना जाता था। उस समय इस विषय का उद्देश्य आत्मा के सम्बन्ध में अन्वेषण (Investigation) करना और इसी सम्बन्ध में चिन्तन (Thinking) करना था। इस प्रकार मनोविज्ञान आध्यात्मवाद (Spiritualism) से सम्बन्धित था और दर्शनशास्त्र (Philosophy) का अंग था। सोलहवीं शताब्दी तक मनोविज्ञान आत्मा का विज्ञान बना रहा। लोग आत्मा (Soul) को प्रत्यक्ष रूप में न तो देख सके और न उसे परिभाषित कर सके, अत: इसे आत्मा का विज्ञान मानने में लोगों को आपत्ति होने लगी। इसमें परिवर्तन लाने की दृष्टि से लोगों ने इसे मन (Mind) का विज्ञान कहना शुरू किया। परन्तु मन (Mind) का स्वरूप भी आत्मा (Soul) की भाँति निश्चित और परिभाषित नहीं किया जा सका। इसलिए मनोविज्ञान को मन का विज्ञान स्वीकार नहीं किया गया और मनोविज्ञान को अभी तक शुद्ध विज्ञान (Pure Science) जैसा स्थान नहीं मिल सका।

मनोविज्ञानिकों ने गहन अध्ययन करके देखा कि मनुष्य के व्यवहार में चेतना (Consciousness) का प्रभाव रहता है। अत: मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान (Science of Consciousnes) मान लिया गया, परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने पाया कि व्यक्ति सभी व्यवहार चेतना के वशीभूत होकर नहीं करता, वह अचेतन (Unconsciousness) से भी व्यवहार करता है। इसलिए मनोविज्ञान को अचेतना का विज्ञान (Science of Unconsciousness) मान लिया गया, परन्तु आगे चलकर मनोविज्ञान की यह परिभाषा भी लोगों को मान्य न रही और मनोविज्ञान का स्वरूप बदलता चला गया।

अब मनोविज्ञान को मानव और पशु के व्यवहार का विज्ञान (Science of Human and Animal Behaviour) माना जाता है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानव व्यवहार का अध्ययन करना ही लक्ष्य होता है, परन्तु इस अध्ययन का आधार पशु व्यवहार को भी बनाया जाता है। पहले मनोविज्ञान की सहायता से पशुओं के व्यवहार का प्रयोगात्मक अध्ययन (Experimental Study) कर लिया जाता है और बाद में मानव व्यवहार के साथ पशु व्यवहार की तुलना करके मानव का अध्ययन करने में सफलता प्राप्त कर ली जाती है। मानव व्यवहार स्वाभाविक (Natural) तथा अर्जित या अधिगमित (Acquired or learned) दो प्रकार का होता है। इन दोनों ही प्रकार के व्यवहारों का अध्ययन आधुनिक मनोविज्ञान में किया जाता है।

इस प्रकार मनोविज्ञान का स्वरूप आध्यात्मवाद (Spiritualism) से हटाकर मानव और पशु के व्यवहार पर केन्द्रित हुआ।

1.5 मनोविज्ञान एक विज्ञान

मनोविज्ञान पशु और मानव के व्यवहार के अध्ययन का एक विज्ञान है। इसे अब एक पूर्ण विज्ञान का स्थान प्राप्त हो चुका है। जैसे शुद्ध विज्ञान (Pure Science) में प्रयोगों (Experiments) के आधार पर निश्चित सिद्धान्त और नियम निकाले जाते हैं, वैसे ही मनोविज्ञान में भी व्यवहार-सम्बन्धों नियमों और सिद्धान्तों का निरूपण कर लिया गया है। इन्हीं नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर मानव व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इन्हीं के आधार पर व्यवहारों के कारणों की खोज कर ली जाती है और व्यवहार के भूत (Past) तथा भविष्य (Future) की सम्भावनाओं का पता भी लगा लिया जाता है। मनोविज्ञान कोरे चिन्तन (Thinking) का विषय नहीं है, इसमें तो प्रयोगात्मक (Experimental) जैसी वैज्ञानिक पद्धतियाँ अपनाकर प्रमाण जुटाये जाते हैं। मनुष्य अपने वातावरण (Environment) के उद्दीपकों (Stimulants) के प्रति जो अनुक्रियाएँ (Responses) दर्शाता है उन्हीं का अध्ययन मनोविज्ञान द्वारा किया जाता है, अत: हम कह सकते हैं, –"मनोविज्ञान मानव व्यवहार अथवा वातावरण में स्थित उद्दीपकों के प्रति मानव द्वारा दर्शायी गयी अनुक्रियाओं के अध्ययन का विज्ञान है।"

वास्तव में मनोविज्ञान मानव व्यवहार का विज्ञान है। इसे पदार्थ विज्ञान (Material Science) नहीं माना जा सकता। इसे प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) भी कहा जा सकता है। मनोविज्ञान (Psychology) और पदार्थ विज्ञान (Material Science) में एक विशेष और मौलिक अन्तर है। पदार्थ विज्ञान में पदार्थ पर सभी प्रकार का नियंत्रण (Control) रखा जा सकता है, और प्रयोगशाला में मनोवांछिक परीक्षण करके सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसके विपरीत मनोविज्ञान में पदार्थ के स्थान पर एक ऐसा मनुष्य विषय (Subject) होता है जिस पर पदार्थ की भाँति नियंत्रण नहीं रखा जा सकता। मानव-मस्तिष्क पर पूर्ण नियंत्रण रखना सम्भव नहीं होता। मस्तिष्क की दौड़ पर

नियंत्रण नहीं हो पाता। वह न्यूयार्क की सोचता है तो क्षण भर में वह पीकिंग की सोचने लगता है। यदि किसी की बात सुनने में वह व्यस्त है तो त्तकाल ही मन में कोई और बात घूमने लगती है। इस प्रकार मानव मस्तिष्क पर पदार्थों की भाँति नियंत्रण सम्भव नहीं होता। यही कारण है कि मनोविज्ञान के प्रयोगों के फलस्वरूप जब मानसिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है या मस्तिष्क-सम्बन्धी नियम और सिद्धान्त निरूपित किये जाते हैं तो उनमें अनुमान (Inferences) और सम्भावनाएँ (Probabilities) अवश्य ही रहती हैं। इसलिए मनोविज्ञान भौतिक विज्ञान (Physics) तथा रसायन विज्ञान (Chemistry) की भाँति शुद्ध विज्ञान (Pure Science) नहीं है।

नोट

पदार्थ विज्ञान और मनोविज्ञान में दूसरा अन्तर यह है कि पदार्थ विज्ञान में सार्वभौमिकता (Universality) पायी जाती है, जबकि मनोविज्ञान में वैयक्तिकता (Individualness) और वैयक्तिक (Individual Differences) रहते हैं। उदाहरण के लिए, जब मनोवैज्ञानिक मानव व्यवहार का प्रयोगशाला में अध्ययन करता है तब उसका विषय 'व्यक्ति-विशेष' का मस्तिष्क होता है जिससे उसके व्यवहार संचालित होते हैं। यदि इस व्यक्ति के स्थान पर दूसरा व्यक्ति परीक्षण या अध्ययन के लिए लाया जाए तो उस पर किया गया अध्ययन पहले के अध्ययन के समान नहीं होगा। इसी प्रकार यदि वैज्ञानिक हाथी पर प्रयोग करता है तो वह सभी मनुष्यों की हाथी के प्रति होने वाली प्रतिक्रियाएँ देखेगा और सामान्य नियम निकाल लेगा, परन्तु जब मनोवैज्ञानिक हाथी के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया का अध्ययन करेगा तब उसे व्यक्ति-व्यक्ति की पृथक्-पृथक् प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करना होगा। उनके आधार पर वह कोई सामान्य नियम नहीं निकाल सकेगा।

मनोविज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की तीन प्रमुख विधियों–निरीक्षण (Observation), परीक्षण (Experimentation) और वर्णन (Description) को अपनाता है। इसलिए वह भी एक प्राकृतिक विज्ञान है। वह जब व्यक्ति या वस्तु-विशेष का अध्ययन करता है तो वह वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करता है। मनोविज्ञान में दर्शनशास्त्र (Philosophy) नीतिशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र (Ethics or Aesthetics) की भाँति केवल सैद्धान्तिक आदर्शवाद की चर्चा नहीं होती।

1.6 मनोविज्ञान की शाखाएँ

उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए मनोविज्ञान को दो प्रमुख शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है–

(1) सामान्य मनोविज्ञान (Normal or General Psychology)

(2) असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology)

सामान्य मनोविज्ञान में मनुष्य और पशु के सभी व्यवहारों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है, परन्तु असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology) में मनुष्य की अस्वस्थ या असामान्य अवस्था का अध्ययन किया जाता है। ये दोनों शाखाएँ आगे चलकर अन्य प्रतिशाखाओं (Sub-branches) में बाँट दी गयी हैं। जैसे सामान्य मनोविज्ञान को शुद्ध वैयक्तिक (Individual), सामूहिक (Group),सामाजिक (Social) और व्यावहारिक (Applied) आदि प्रतिशाखाओं में विभक्त कर दिया गया है। असामान्य (।इदवतउंस) मनोविज्ञान को केवल वैयक्तिक (Individual) तथा सामूहिक (Group) मनोविज्ञानों में बांटा गया है। इन प्रतिशाखाओं के अतिरिक्त भी इनकी और प्रतिशाखाएँ निकली हैं जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकेगा।

व्यावहारिक मनोविज्ञान (Applied Psychology) से यही कार्य-क्षेत्र प्रभावित हुए हैं। जैसे व्यावहारिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत शिक्षा मनोविज्ञान (Educationl Psychology), औद्योगिक मनोविज्ञान

(Industrial Psychology), धार्मिक मनोविज्ञान (Religious Psychology) आदि प्रशाखाएँ हैं। यहाँ हम शिक्षा मनोविज्ञान पर विचार करेंगे।

मनोविज्ञान की शिक्षा

नोट

शिक्षा और मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस विषय पर पूर्व अध्यायों में प्रकाश डाला गया है। मनोविज्ञान द्वारा हमें मानव-मस्तिष्क का ज्ञान होता है, अतः शिक्षा से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होना अनिवार्य है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यवहार की व्याख्या, मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न ढंग से की है। शिक्षा-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक व्यावहारिक शाखा है। शिक्षार्थी के व्यवहार का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करने के लिए एक शिक्षक को मनोविज्ञान के क्रमिक विकास का ज्ञान होना आवश्यक है ताकि वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए वह उसे प्रभावित करके व्यवहार में परिवर्तन और परिमार्जन कर सके। मनोविज्ञान के विकास और व्यवहार की व्याख्या में मनोवैज्ञानिकों में मतभेदों के फलस्वरूप ही सम्प्रदायों (Schools) की उत्पत्ति हुई। इन सम्प्रदायों ने केवल व्यवहार के स्वरूप की व्याख्या ही नहीं प्रस्तुत की, वरन् शिक्षा-मनोविज्ञान की धारणाओं, अध्ययन विधियों तथा क्षेत्र में भी ये परिवर्तन उत्पन्न किए।

मनोविज्ञान के सम्प्रदाय का अर्थ–यहाँ सम्प्रदाय का अर्थ मनोविज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों का संगठित समुदाय और उनके चिन्तन और विचार करने की विधि से है।

मनोवैज्ञानिक **वुडवर्थ** का विचार है- "हमारे लिए 'सम्प्रदाय' मनोवैज्ञानिकों का एक समूह है जो एक निश्चित विचार प्रणाली रखते हैं, जिससे सभी लोगों को उनके अनुसरण हेतु मार्ग-संकेत किया जाता है, यदि मनोविज्ञान को सदा के लिए सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक मूल्य वाला एक सही व उत्पादक विज्ञान बनाना है।"

"For us a 'School' is a group of psychologists who put forward a certain system of ideas designed to point the way that all must follow if psychology is everto be made a genuine productive service of both theoritical and practical value."

—R. S. Woodworth

इस कथन से स्पष्ट है कि मनोविज्ञान का सम्प्रदाय मनोविज्ञान के क्षेत्र में सिद्धान्त निरूपण करने वालों का एक ऐसा संगठन है जो उसे वैज्ञानिक अध्ययन का स्वरूप प्रदान करते हैं।

बीसवीं शताब्दी में मनोवैज्ञानिकों ने जो प्रयोग किए, उसमें उन्होंने प्राणी के व्यवहार की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है। इसलिए मनोविज्ञान में विभिन्न मत के सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। इन सम्प्रदायों ने एक ही समस्या का समाधान, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से किया। प्रत्येक सम्प्रदाय का अलग-अलग क्षेत्र और चिन्तन प्रणाली रही है। शिक्षा-मनोविज्ञान में शिक्षा की समस्याओं का उपयुक्त समाधान करने के लिए इन विचारधाराओं में समन्वय की आवश्यकता नहीं है। ये सम्प्रदाय अपने विशेष क्षेत्र से सम्बन्धित योगदान करके शिक्षा प्रक्रिया में सहायक हो सकते हैं।

शिक्षा-मनोविज्ञान का प्रमुख उद्देश्य बालक के सर्वांगीण विकास में सहायता प्रदान करना है। मनोविज्ञान के सम्प्रदाय मानव मन को अपने-अपने दृष्टिकोण से समझने का प्रत्यत्न करते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय ने मानसिक समस्याओं का गहन अध्ययन किया है। कुछ सम्प्रदायों ने शिक्षा के क्षेत्र में सीखने की प्रक्रिया, बौद्धिक विकास और व्यक्तित्व-विकास आदि से सम्बन्धित विषयों का अन्वेषण कर शिक्षा प्रक्रिया को प्रभावित किया है। यहाँ मनोविज्ञान के कुछ प्रमुख सम्प्रदायों का संक्षेप में

विवेचन किया जायेगा। जिन प्रमुख सम्प्रदायों का प्रत्यक्ष प्रभाव शिक्षा तथा शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र पर पड़ा है, उनका क्रमबद्ध वर्णन निम्नांकित है–

1. संरचनावाद (Structuralism)
2. प्रकार्यवाद (Functionalism)
3. व्यवहारवाद (Behaviourism)
4. मनोविश्लेषणवाद (Psychoanalysis)
5. अवयवीवाद (Gestalt School)
6. क्षेत्र सिद्धान्त (Field Theory)
7. पूर्णांगवाद (Holostic Psychology)
8. प्रयोजनवाद (Purposivism)

नोट

1. संरचनावाद (Structuralism)

मनोविज्ञान में संरचनावादी विचारधारा के प्रवर्तक **विलियम वुन्ट और टिचनर** (Wundt and Titchener) हैं। इन्होंने 1879 ई. में जर्मनी में **लिपज़िग** (Leipzig) नगर में सबसे पहली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना की। इस प्रयोगशाला में मानसिक संरचना और क्रियाओं के प्रयोगात्मक अध्ययन का आरम्भ हुआ। संरचनावादियों के अनुसार मनुष्य की चेतना विभिन्न मानसिक क्षमताओं और क्रियाओं का योग है। इस विचारधारा में मन, चेतना; अनुभव आदि की संरचना क्या और किस प्रकार है, यह बताने का प्रयत्न किया जाता है। संरचनावादी सम्प्रदाय एक ऐसी मनोवैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली है जिसका अध्ययन क्षेत्र और विषय प्राणी के चेतन अनुभव का स्वरूप होता है। इसका प्रमुख लक्ष्य वैज्ञानिक विधि से चेतन अनुभवों का अध्ययन करना है। मनोविज्ञान आन्तरिक अनुभवों का सर्वेक्षण करता है। इस विचार से कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इस सम्प्रदाय को 'अन्तर्दर्शनवाद' भी कहा है। यह अन्तर्दर्शन विधि पर आधारित है। इस विधि द्वारा चेतना के विभिन्न अंगों और अनुभवों का अध्ययन भली-भाँति किया जा सकता है।

संरचनावादी सम्प्रदाय की विशेषताएँ

1. ये अनुभव का आधार तंत्रिका तंत्र (Nervous System) को मानते हैं जो अनुभव प्राप्त करने में सहायता करता है। टिचनर के अनुसार व्यक्ति के अनुभवों की इकाई मानसिक तत्व है। अनुभव व्यक्ति की चेतन आन्तरिक संरचना है। चेतना किसी निश्चित समय में घटित होने वाली मानसिक क्रियाओं का योग है।
2. इसमें मन और चेतना के स्वरूप की जानकारी विश्लेषण द्वारा की जाती है। चेतना के तीन तत्व हैं– **संवेदन, प्रतिभा** और **भाव।** संवेदन का सम्बन्ध प्रत्यक्षीकरण से, प्रतिभा का सम्बन्ध विचारों से और भाव का सम्बन्ध संवेगों से होता है।
3. मन और शरीर दोनों का स्वतंत्र अस्तिव है और दोनों मिलकर मानसिक प्रक्रियाओं के घटित होने की व्यवस्था करते हैं।

संरचनावाद का शिक्षा में योगदान– इस विचारधारा का प्रभाव मनोविज्ञान पर ही नहीं शिक्षा पर भी पड़ा–

नोट

1. इस विचाधारा ने शिक्षा को मानसिक क्रिया और शिक्षा का उद्देश्य अनुभवों की वृद्धि माना है।
2. शिक्षा-मनोविज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक अध्ययन पर बल दिया।
3. मानसिक क्रियाओं के स्वरूप और रचना के क्रमबद्ध निरीक्षण पर बल दिया।
4. इस विचारधारा का मनोविज्ञान के वैज्ञानिक ढंग से विकसित होने में ऐतिहासिक महत्त्व है।

संरचनावाद की सीमाएँ–

(1) इस सम्प्रदाय ने अन्तर्दर्शन विधि अपनाने के कारण मनोविज्ञान के एक सीमित क्षेत्र में ही कार्य किया।

(2) इन्होंने मन की समग्रता की दिशा में कोई कार्य नहीं किया।

(3) अभिप्रेरणा और व्यक्तित्व जैसे विषयों से सम्बन्धित समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया।

20वीं शताब्दी के आरम्भ में इसकी तीव्र आलोचना हुई, जिसमें प्रमुख आलोचक **विलियम जेम्स** थे। उनका विचार था कि चेतना के त्तवों का अध्ययन और विश्लेषण करना व्यर्थ है। इसके बदले हमें यह देखना चाहिए कि चेतना का हमारे शरीर के विभिन्न अंगों पर क्या प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप एक नवीन विचारधारा का जन्म हुआ जिसे
'प्रकार्यवाद' या 'चेतना कार्यवाद' कहा गया।

2. प्रकार्यवाद (Functionalism)

इस विचारधारा का विकास अमेरिका में (1842-1910) हुआ। इसका विकास संरचनावादी सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। इस विचारधारा पर डारविन के विकासवादी सिद्धान्त का प्रभाव है। प्रकार्यवाद को वास्तविक स्वरूप जॉन डीवी और रोनेल्ड एंजिल ने दिया। इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रयोजनवाद (Pragmatism) है। इस वाद का आधार क्यों और कैसे है? इस सम्बन्ध में **वुडवर्थ** महोदय का विचार है- "एक मनोविज्ञान जो इस प्रश्न पर मनुष्य क्या करते है? का सही और व्यवस्थित उत्तर देता है और आगे के प्रश्नों, किस प्रकार वे उसे करते हैं? और क्यों वे उसे करते है? का भी उत्तर देता है, प्रकार्यवाद सम्प्रदाय कहलाता है।" मनोविज्ञान में ज्ञान (Knowing), संकल्प (Willing) तथा क्रिया (Feeling) का समावेश प्रकार्यात्मवाद) के कारण हुआ। यह विचारधारा मन की शक्तियों की गत्यात्मकता पर बल देती है।

प्रकार्यवाद सम्प्रदाय का प्रसार विभिन्न देशों में मनोवैज्ञानिकों द्वारा हुआ। इसके प्रमुख सम्प्रदाय निम्नांकित हैं–

शिकागो सम्प्रदाय– इसमें जॉन डीवी, जेम्स रोनेल्ड एंजिल और हार्बेकर के नाम विशेष उल्लेखनीय है। जॉन डीवी ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में मन और बुद्धि की उपयोगिता पर विशेष बल दिया। इन्होंने समस्या समाधान में किस प्रकार चिन्तन प्रक्रिया कार्य करती है-इस पर भली-भाँति प्रकाश डाला। **जॉन डीवी** ने अपने एक लेख 'रिफलेक्स आर कानसेप्ट ऑफ़ साइकोलॉजी, (The Reflex are Concept of Psychology) में इस बात पर बल दिया है कि मानसिक कार्यों में निरन्तरता होती है। वे बिना एक क्षण भी रुके होती रहती हैं। उन्होंने उद्दीपन और अनुक्रिया में पृथकता और सम्बन्धों की खोज की है। उद्दीपन और अनुक्रिया दो अलग वस्तुएँ नहीं हैं। मानव के समस्त मानसिक कार्य का कोई उद्देश्य या प्रयोजन होता है। इन्होंने संरचनावाद की तरह मन और चेतना

को मानसिक त्तवों का योग नहीं माना, बल्कि मानसिक त्तवों के प्रकार्य पर बल दिया। इसीलिए उन्होंने मानसिक प्रकार्य पर बल दिया है।

नोट

जेम्स रोनेल्ड एंजिल–इन्होंने प्रकार्यवाद की स्पष्ट व्याख्या की है। इनके अनुसार संरचनावाद का सम्बन्ध जहाँ 'तत्व' या 'वस्तु' से है वहाँ प्रकार्यवाद का सम्बन्ध 'प्रक्रिया' से है। इनके अनुसार मानसिक प्रक्रियाओं का स्वरूप क्या है और ये किस प्रकार कार्य करती हैं इनकी जानकारी पर बल देते हैं। मानसिक प्रकार्य परिस्थितियों के अनुरूप सम्पादित होते है। मन और शरीर दोनों संयुक्त रूप से क्रियाशील होते हैं और प्राणी को अपने पर्यावरण से समायोजन करने में सहायता देते हैं। सभी मानसिक क्रियाएँ मन और शरीर के सम्मलित प्रयास और योग पर निर्भर हैं। प्रकार्यवाद मन और शरीर को दो भिन्न वस्तुओं के रूप में नहीं स्वीकार करता। **हार्वेकार** ने मनोविज्ञान को मानसिक क्रियाओं का विज्ञान बताया है। प्रकार्यवादी मनोविज्ञान का विषय 'क्यों' और 'कैसे' है।

कोलम्बिया सम्प्रदाय– इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कोलम्बिया विश्वविद्यालय के **जेम्स कैटल, एडवर्ड थर्नडाइक** और **राबर्ट वुडवर्थ** थे। कैटल ने साहचर्य, प्रत्यक्ष ज्ञान और मनोभौतिकी पर कार्य किया। थार्नडाइक ने बुद्धिमापन और अधिगम प्रक्रिया पर कार्य किया। **राबर्ट वुडवर्थ** ने 'समकालीन मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय' (Contemporary Schools of Psychology) पुस्तक लिखकर ख्याति प्राप्त की। इन्होंने अपने विभिन्न प्रयोगों के आधार पर प्रयोगात्मक मनोविज्ञान पर भी पुस्तक लिखी। प्रकार्यवाद में समंजन पर बल देने के कारण गत्यात्मक मनोविज्ञान का विकास हुआ। इन्होंने व्यवहार में प्रेरणा को महत्त्व दिया। प्रकार्यवाद ने जो पशुओं की बुद्धि और व्यवहार का अध्ययन किया उसके आधार पर 'व्यवहारवाद' नामक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का उदय हुआ।

प्रकार्यवाद का शिक्षा में योगदान–शिक्षा के क्षेत्र में इस सम्प्रदाय की प्रमुख देन इस प्रकार है–

1. इस विचाधारा ने अधिगम प्रक्रिया में पर्यावरण और समायोजन पर बल दिया।
2. इस सम्प्रदाय के लोगों के द्वारा वैयक्तिक भिन्नता, अधिगम, बुद्धि, समायोजन, परीक्षण व मूल्यांकन आदि के क्षेत्रों में बहुत से शोधकार्य हुए जिसका प्रभाव शिक्षा पर पड़ा।
3. इस विचाधारा ने शिक्षा प्रक्रिया में बालक को महत्त्व देते हुए बाल मनोविज्ञान के विकास में योगदान किया।
4. विभिन्न आयु स्तर के बालकों की शिक्षा में उनकी आवश्यकताओं को समझने पर बल दिया।
5. इसने शिक्षा में उपयोगिता के सिद्धान्त को जन्म दिया। पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों को महत्त्व दिया जो व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी हों।
6. इसने मन और शरीर की संयुक्त (एक साथ) क्रियाशीलता पर बल दिया। उनका विचार था कि मन के बिना शरीर और शरीर के बिना मन का अध्ययन अधूरा है। मन और शरीर दोनों एक साथ क्रिया करते है। इसी कारण अध्ययन विधि के रूप में तीन रीतियों पर ज़ोर दिया–

   (क) दैहिक रीति–इसमें प्रत्येक क्रिया के दैहिक आधार का अध्ययन करने का प्रयास किया गया।

   (ख) विभिन्न अवस्थाओं में अध्ययन रीति–इसमें विभिन्न अवस्थाओं में प्राणी का निरीक्षण किया जाता हौ

   (ग) अन्तर्दर्शन विधि।

नोट

3. व्यवहारवाद (Behaviourism)

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संरचनावाद और प्रकार्यवाद का विरोध होने के कारण व्यवहारवाद की स्थापना हुई। इसके पहले चेतना के त्तवों के अध्ययन पर बल दिया गया, जिसे कुछ मनोवैज्ञानिकों ने निरर्थक समझा और कहा कि चेतना का हमारे शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है उसका अध्ययन सार्थक है। इसलिए चेतना की रचना के स्थान पर उसके कार्यों पर बल दिया गया। किन्तु कुछ समय बाद चेतना का अध्ययन करने वाली पद्धति अन्तर्दर्शन विधि की कटु आलोचना होने लगी। इनमें विलियम जेम्स प्रमुख आलोचक थे। व्यवहारवाद के जन्मदाता जे. बी वाटसन थे। इस वाद का क्षेत्र व्यवहार का अध्ययन करना है। वाटसन ने चेतना जैसी अस्पष्ट वस्तु को स्वीकार नहीं किया। इनके अनुसार प्राणी को समझने के लिए उसके शरीर के कार्य, इन्द्रियों की चेष्टाएँ और बाहरी क्रियाओं को देखना और समझना चाहिए। मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की जाँच, उसके व्यवहार और क्रियाओं से होती है। इसलिए केवल चेतना का अध्ययन करना उपयोगी नहीं बल्कि संवेदन, भाव, प्रतिभा और स्मृति के स्थान पर उसकी चेष्टा या व्यवहार पर ध्यान दिया जाए जो कि प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ये चेष्टाएँ और व्यवहार दोनों स्वाभाविक और अर्जित होते हैं जिनका अध्ययन मनोवैज्ञानिक करते हैं। व्यवहारवादी सम्प्रदाय मनोवैज्ञानिकों का वह समुदाय है जो प्राणी मात्र के प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले स्वाभाविक और अर्जित दोनों प्रकार के व्यवहारों का अध्ययन करता है। प्रमुख व्यवहारवादी मनावैज्ञानिकों में मेक्समेयर, पी. बीस, हल और टालमैन और बी. एफ. स्किनर आदि हैं।

सन् 1912-14 में जिस समय अमेरिका में व्यवहारवादी आन्दोलन चल रहा था, उसी समय रूस में मनोवैज्ञानिक वेशेरेव और पावलोव (1857-1936) सम्बद्ध सहज क्रिया, अभिसन्धानित सहज क्रिया और गतिवाहक सहज क्रियाओं पर प्रयोग कर रहे थे। (Associated Reflex Action, Conditioned Reflex Action, Motor Reflexes) इन लोगों ने पशु और मनुष्य दोनों पर प्रयोग किए।

व्यवहारवादी मत के अनुसार वातावरण में उत्तेजना के उपस्थित होने पर ही प्राणी अनुक्रिया करता है। इस वाद ने प्राणी की क्रिया पर विचार किया और मांसपेशीय तथा ग्रंथीय क्रियाओं का अध्ययन किया। इसमें 'उत्तेजना अनुक्रिया सिद्धान्त' (Theory of Stinulu-Response) को प्रमुख स्थान दिया गया है। जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने को परिरिथति और पर्यावरण के अनुकूल बनाने के लिए व्यवहार करता है।

व्यवहारवाद के उदय में पशु मनोविज्ञान के क्षेत्र में थार्नडाइक महोदय का उल्लेखनीय योगदान है। इन्होंने मछली, मुर्गी और बिल्लियों पर कई प्रयोग किये। इन प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि पशु बुद्धि कम होने के कारण प्रयास और त्रुटि (Trial and Error) द्वारा बहुत-सी बातें सीखते हैं। पशु प्रयत्न करते-करते किसी कार्य को पूरा करने में सफल हो जाता है। अधिगम नामक अध्ययन में इन प्रयोगों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

व्यवहारवाद का शिक्षा में योगदान

1. व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने पशुओं पर जो प्रयोग किये उनसे सीखने के नियमों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। प्रयत्न और त्रुटि विधि को अधिगम में लागू किया गया।
2. बाल मनोविकास के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला।
3. मानव विकास और अभिवृद्धि पर पर्यावरण के प्रभाव और महत्त्व पर बल दिया।

नोट

4. अधिगम की विधियाँ, अधिगम के नियम एवं सिद्धान्त, संवेदगात्मक व्यवहार, मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्धित आदतों आदि पर व्यवहारवादी सम्प्रदाय के मनोवैज्ञानिकों ने काफी प्रकाश डाला। इससे शिक्षा-मनोविज्ञान की प्रगति हुई।
5. शिक्षा का सम्बन्ध मानव व्यवहार से है। व्यवहार का वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों पक्ष होता है। इस मत का विश्वास है कि मानव के सभी व्यवहार पर्यावरण से निरन्तर अन्त:क्रिया द्वारा सम्पन्न होते हैं।
6. शिक्षण विधि के रूप में 'पूर्व नियोजित अधिगम' का विकास हुआ। (7) इस सम्प्रदाय ने निरीक्षण और मापन पर बल दिया।
8. व्यवहारवादियों ने बालक के व्यक्तित्व के अध्ययन को सरल और वस्तुनिष्ठ बना दिया। विभिन्न परिस्थितियों और पर्यावरण में बालक के व्यवहार का अध्ययन करके, व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने की उपयोगी विधियों को जन्म दिया।
9. उत्तेजना-अनुक्रियावाद के फलस्वरूप शिशु शिक्षा प्रणाली में इन्द्रिय प्रशिक्षण पर बल दिया।

4. मनोविश्लेषणवाद (Psychoanalysis)

मनोविश्लेषणवाद के प्रमुख प्रवर्तक वियना के सिगमंड फ्रायड (1856-1939) थे। यह सम्प्रदाय विशेष रूप से अज्ञात मन की चेष्टाओं का अध्ययन करता है। **डॉ. फ्रायड** (S. Freud) ने मूर्छा और स्नायु रोगों की चिकित्सा के लिये सम्मोहन या मोह-निद्रा विधि को अपनाया। इस विधि द्वारा वह रोगियों को अचेतन अवस्था में करके उससे प्रश्न पूछता था। मोह-निद्रा के सहारे रोगी ऐसी बातों को कह डालता था जिससे उसके संवेगात्मक कष्टों का पता लग जाता था। मोह-निद्रा की अवस्था में रोगी अज्ञात चेतना के सहारे अपनी उन सभी बातों को प्रकट कर देता था जिन्हें वह चेतन अवस्था में लज्जा, भय या संकोच के कारण नहीं बताता। अचेतन अवस्था में सम्मोहन की स्थिति में कही हुई बातों को सुनकर फ्रायड उसके रोग के कारण को तर्क कर लेता था। कुछ रोगियों पर मोह-निद्रा या सम्मोहन का प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे रोगियों की चिकित्सा के लिए उसने 'स्वतंत्र साहचर्य' विधि का प्रयोग किया। फ्रायड ने मानव मन का विश्लेषण करने के लिए युक्तियाँ (विधि) निकालीं। मन का गहन अध्ययन करने के बाद जो तथ्य प्राप्त हुए उनके आधार पर जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया उन्हें मनोविश्लेषणवाद का नाम दिया गया। इस सम्बन्ध में **अरनेस्ट जॉन** (Earnest Jones) ने कहा है- मनोविश्लेषण शब्द का प्रयोग तीन वस्तुओं को बताने के लिये किया जाता है-

1. मनोविश्लेषण का अर्थ चिकित्सा की एक विशेष विधि से, जिसका प्रयोग वियना के प्रोफेसर फ्रायड ने स्नायुविक रोगों के कुछ विशिष्ट वर्ग के लोगों को ठीक करने के लिए किया था, इस प्रकार यह नियंत्रित अर्थ में सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ।
2. इसका अर्थ मन के गहरे स्तरों की खोज की एक विशेष प्रविधि भी है।
3. अन्त में इस शब्द का प्रयोग ज्ञान के एक क्षेत्र के लिए भी किया जाता है, जो कि इस विधि द्वारा प्राप्त किया जाता है और इस अर्थ में यह व्यावहारिक रूप में 'अचेतन मन का विज्ञान' होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय मानव के असाधारण आचरण का अध्ययन, अचेतन मन की विशेषताओं के साथ करता है। मनो-विश्लेषणवादी सम्प्रदाय में **फ्रायड, एडलर** तथा **युंग** तीन प्रमुख मनोवैज्ञानिक हैं,

नोट

जिन्होंने अचेतन मन की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। इन महानुभावों के विचारों को संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है-

फ्रायड–फ्रायड मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय के पहले मनोवैज्ञानिक हैं। फ्रायड ने मन के तीन स्तर बताए हैं– चेतन (Conscious), अवचेतन (Sub-conscious) तथा अचेतन (Unconscious)। मन के अज्ञात या अचेतन मन की अपेक्षा चेतन मन अधिक छोटा है। मानव व्यवहार अचेतन मन से बहुत अधिक नियंत्रित होता है। अचेतन मन का चेतन मन पर बहुत प्रभाव रहता है। अचेतन मन में अनेक अतृप्त भावनाएँ, संवेग और आवेग दबे पड़े रहते हैं। फ्रायड ने मन की तुलना समुद्र में तैरते हुए एक हिमखंड (Ice berg) से की है जिसका अधिकांश भाग पानी की सतह के नीचे होता है। इस प्रकार चेतन मन बहुत छोटा होता है और अचेतन मन अधिक प्रबल होता है। किन्तु मन के दोनों भाग क्रियाशील रहते हैं। अज्ञात चेतन में मानव की अतृप्त इच्छाएँ और भावनाएँ एकत्रित हो जाती हैं जो कि निष्क्रिय नहीं होती हैं। व्यक्ति सामाजिक या अन्य कारणों से उन्हें चेतन मन पर आने से रोकता है। इस प्रकार चेतन और अचेतन मन की शक्तियों में बराबर संघर्ष जारी रहता है। मन में दबी हुई भावनाएँ जब अपनी अभिव्यक्ति और प्रकाशन नहीं कर पातीं तब मन में इनकी गांठ या गुत्थी बन जाती है जिसे भावना ग्रन्थि कहते हैं। इन ग्रन्थियों का प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है। फ्रायड ने मन पर शासन करने वाली तीन शक्तियाँ बताई हैं- **इदम्, अहम् और परम्** (Id, Ego, Super-Ego)। इनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है-

इदम् (Id) – इसका सम्बन्ध आनुवंशिकता से है। इसमें व्यक्ति के जन्मजात गुण व्याप्त रहते हैं। इसमें पाये जाने वाले विचार और वस्तु की चेतना व्यक्ति की नहीं होती, किन्तु यह व्यक्ति की मानसिक शक्तियों और वृत्तियों का स्रोत है। यह दमित इच्छाओं और वासनाओं का आधार है। इसमें विवेक नहीं होता। इसका स्वरूप, अचेतन और वास्तविकता से सम्बन्धित नहीं है। इसका सम्बन्ध काम प्रवृत्ति से है जिसे फ्रायड ने लिबिडो (Libido) कहा है।

अहम् (Ego) – यह इदम् का वह अंश है जिसका विकास बाहरी पर्यावरण में होता है। इसका सम्बन्ध पर्यावरण की वास्तविकता से होता है। यह चेतन होता है और अचेतन मन की अवांछित इच्छाओं पर नियंत्रण रखता है। यह व्यक्ति का 'साधारण अन्तःकरण' है। इसमें व्यक्ति की अच्छी और बुरी सभी प्रकार की इच्छाएँ रहती हैं। अच्छी इच्छाओं पर कोई रोक नहीं होती पर बुरी इच्छाओं को बाहर आने के लिये हमारा 'परम् अहम्' जाग्रत रहता है।

परम अहम् (Super Ego) – यह बुरी इच्छाओं को चेतन मन में आने से रोकता है। इसका **काम अहम्** (Ego) पर शासन करना है। यह चेतन और अचेतन मन के बीच प्रहरी का कार्य करता है। हमारा साधारण अंतःकरण सभी प्रकार की इच्छाओं को पूरा करना चाहता है, किन्तु सामाजिक नियमों और मान्यताओं का ज्ञान शैशवकाल में ही व्यक्ति को धीरे-धीरे होने लगता है जिसके फलस्वरूप परम अहम् या 'उच्च अन्तःकरण' का निर्माण हो जाता है। फ्रायड के अनुसार इदम् का आधार सुख है और अहम् का आधार वास्तविकता। इसके अनुसार व्यक्ति की सभी मानसिक क्रियाएँ 'सुख सिद्धान्त' से प्रेरित होती हैं। यदि व्यक्ति का 'अहम्' समुचित रूप से विकसित है तो वह उचित या वांछनीय निर्णय लेने में सफल होता है और यदि उसका अहम् दुर्बल है तब अधिकतर उसकी इदम्-प्रेरित इच्छाओं की पूर्ति होती है। किन्तु जब व्यक्ति की आयु और अनुभव में वृद्धि होने लगती है तब उसी के अनुसार उसका अहम् वास्तविकता और यथार्थ सिद्धान्त के अनुसार काम करने पर बल देता है।

नोट

एलफ्रेड एडलर– मनोविश्लेषणवाद के दूसरे मनोवैज्ञानिक एडलर ने फ्रायड के साथ बहुत दिनों तक कार्य किया। एडलर का फ्रायड से सैद्धान्तिक मतभेद था। इस कारण वह फ्रायड के सभी निष्कर्षों को मानने के लिए तैयार न था। फ्रायड ने समस्त क्रियाओं के आधार रूप में काम भावना को प्रधान शक्ति या प्रेरणा माना है जबकि एडलर का विचार था कि जीवन एक संघर्ष है और व्यक्ति को समाज में रहकर विभिन्न परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा और उचित विकास करना चाहता है। व्यक्तित्व-विकास के लिए उसकी कुछ इच्छाएँ, अभिलाषाएँ और मानसिक आवश्यकताएँ होती हैं। इसलिए इन बातों को ध्यान में रखते हुए, उसके लिए शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा को एडलर ने जीवन-कार्यों का आधार माना है और महत्त्व दिया है। शैली अध्ययन पर बल दिया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति का व्यवहार भावना-ग्रन्थियों के कारण असाधारण हो जाता है।

एडलर के अनुसार सभी प्रकार के मानसिक रोगियों के रोग का कारण कोई अपराध नहीं बल्कि 'हीनता की भावना' होती है। उसका विचार है कि हीनता की भावना से बचने के लिए वह एक विचित्र जीवन शैली (Style of Life) को अपनाता है। यह भावना अज्ञात चेतना में होती है और यही ज्ञात चेतना में 'श्रेष्ठता की भावना' के रूप में दिखाई देती है। इस प्रकार व्यक्ति अपनी कमजोरियों को छिपाना चाहता है और अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए एक अनोखी जीवन-शैली अपनाता है। व्यक्ति के सामाजिक-व्यवहार प्रदर्शन में अज्ञात और ज्ञात दोनों प्रकार की चेतना का सहयोग होता है। एडलर के इन विचारों को 'वैयक्तिक व मनोविज्ञान' कहा गया है। व्यक्ति की जीवन शैली के अध्ययन से मनोविश्लेषणवादी को काफी सहायता मिल सकती है।

कार्लजुंग (Carl Jung)– इस सम्प्रदाय के तीसरे मनोवैज्ञानिक **जुंग** है। इसके सिद्धान्त फ्रायड और एडलर से भिन्न हैं। जुंग ने साहचर्य-परीक्षण और विश्लेषण का कार्य किया। इन परीक्षणों द्वारा व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों का अनुमान किया जा सकता है। इनका फ्रायड से दो बातों में मतभेद दिखाई देता है–

1. फ्रायड मानसिक रोग का कारण बाल्यकाल में बनी भावना ग्रन्थियों को मानता है, जबकि जुंग अतीत की बातों के साथ वर्तमान परिस्थिति पर भी बल देता है।
2. जुंग ने 'कामभावना' Libido का विस्तृत अर्थ लिया है। यह जीवन की मुख्य शक्ति है जो दो रूपों में दिखाई देती है- कामवासना सम्बन्धी प्रवृत्ति और जीवन-शक्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति। जुंग ने अज्ञात चेतना को ज्ञात चेतना से अधिक महत्त्व दिया है और अज्ञात चेतना को ज्ञात चेतना का क्षतिपूरक कहा है। जैसे जो व्यक्ति ज्ञात चेतना में साहसी दिखाई देते हैं अज्ञात चेतना में डरपोक या भीरु होते हैं। अज्ञात चेतना में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के विचार होते हैं। जुंग के विचारों में फ्रायड और एडलर दोनों के मतों का समन्वय है।

मनोविश्लेषणवाद का शिक्षा में योगदान–शिक्षा पर इस सम्प्रदाय का बहुत प्रभाव पड़ा। बालक के व्यक्तित्व-विकास का सम्बन्ध शिक्षा से होता है। संक्षेप में इस वाद का प्रभाव इस प्रकार पड़ा-

1. व्यक्ति के विकास में आनुवंशिकता और पर्यावरण मुख्य तत्व होते हैं। इनका सम्बन्ध अचेतन मन से होता है।
2. मनोविश्लेषणवाद ने शिक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों पर प्रभाव डाला है। सीखने की प्रक्रिया में अज्ञात चेतना या अचेतन मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

नोट

3. शिक्षा-प्रक्रिया में बालक के प्रारम्भिक जीवन के अनुभवों और संस्कारों का बहुत महत्त्व है, शैशव और बाल्यकाल में पड़ी यही भावना-ग्रन्थियाँ बालक के भावी जीवन और व्यवहार को प्रभावित करती हैं।
4. इसने शिक्षा में संवेगों के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।
5. मनोविश्लेषणवाद की सहायता से बालकों में कुसमायोजन के कारणों का पता लगाया गया जा सकता है। यह वाद समायोजन प्रक्रिया को समझने में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।
6. मनोविश्लेषणवाद ने बालक के व्यक्तित्व-विकास में प्रकृतिवादियों के समान 'स्वतंत्रता के सिद्धान्त' पर बल दिया है।
7. शिक्षा का एक प्रमुख कार्य मूल प्रवृत्तियों का शोधन है। इसमें मनोविश्लेषणवाद से सहायता मिलती है।
8. शिक्षा का सम्बन्ध बालक के समाजीकरण से होता है। इस प्रकार के विचारों के समर्थक जुंग महोदय हैं, उनका विचार है कि सामूहिक भावना और अचेतन मन का गहरा सम्बन्ध है। वास्तव में समाजीकरण और सांस्कृतिकरण व्यक्तिगत अचेतन एवं सामूहिक अचेतन का सामंजस्य है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनोविश्लेषणवाद का शिक्षा पर कितना प्रभाव है।
9. इस वाद की सहायता से मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को समझने एवं दूर करने में सहायता मिली है।

5. अवयवीवाद (Gestalt School)

व्यवहारवाद के साथ ही जर्मनी में 1912 ई. के लगभग अवयवीवाद का जन्म हुआ। जर्मन भाषा में अवयवीवाद को 'गेस्टाल्ट साइकोलॉजी' कहते हैं। गेस्टाल्ट का अर्थ- रूप, आकृति, अवयवी, समग्र, पूर्ण आकार या प्रतिदर्श (Shape, Form, Whole, Pattern) होता है। शिक्षाशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक शब्दावली में इसे 'समग्राकृति' भी कहा गया है। इस समप्रदाय के मनोवैज्ञानिक केवल व्यवहार, चेतना और अचेतन मन के विश्लेषण से संतुष्ट नहीं हुए। उनके अनुसार व्यवहार या अनुभूतियों के विश्लेषण में मानव-व्यक्तित्व को ठीक से नहीं समझा जा सकता। उन्होंने मानसिक अध्ययन में समग्रता और अखंडता के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। ये लोग व्यवहार क्रिया, चेतना आदि के विशेष लक्षणों के अलावा सभी लक्षणों और अंगों को एक साथ रखकर उसकी समग्राकृति या रूप पर अपना ध्यान देते हैं। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति की मुखाकृति में विभिन्न अवयवों- आँख, नाक, कान आदि को मिलाकर देखने से उसके पूरे चेहरे का बोध होता है। इसी प्रकार मनुष्य में शरीर के विभिन्न अंगों को अलग-अलग न करके एक साथ मिलाकर जो आकृति, रूप या प्रतिदर्श मिले उसे मनुष्य कहा जाए। अवयवों (Parts) का अध्ययन 'अवयवी' (Whole) के सम्बन्ध में किया जाए तभी उसका कुछ अर्थ होता है। उसी प्रकार ज्ञान, भाव और क्रिया के सग्रम रूप को ही ध्यान में रखकर समझा जाए। गेस्टाल्टवादियों ने किसी वस्तु को समझने के लिए पूर्ण से अंश की ओर (From Whole to Parts) चलने पर बल दिया है अर्थात् पहले हमें पूर्ण वस्तु का एक अवयवी के रूप में ज्ञान प्राप्त करना सरल है। गेस्टाल्टवादी सम्प्रदाय उन मनोवैज्ञानिकों का समुदाय है जो "व्यवहार, क्रिया, घटना, व्यक्ति, वस्तु सभी के सम्पूर्ण रूप को आधार बनाकर अध्ययन करता है।" इस सम्प्राय के प्रमुख मनोवैज्ञानिक **एम. वर्दीमर** (M. Wertheimer), के. **कॉफ्का** (K. Koffka) और **कोहलर** (W. Kohler) हैं।

अवयवीवाद का शिक्षा में योगदान–अवयवीवाद ने भी शिक्षा को किस प्रकार प्रभावित किया है उसका संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है-

नोट

1. इस सम्प्रदाय ने सीखने की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष ज्ञान पर बहुत बल दिया है। शिक्षक को पाठ्यवस्तु को पहले समग्र रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। किसी वस्तु या घटना का ज्ञान उसकी सम्पूर्ण स्थिति को समझ कर ही होता है। कोहलर महोदय का प्रयोग और उसका अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त इस तथ्य को सिद्ध करता है। यह 'सीखना' अध्याय में विस्तार से समझाया गया है। सीखना के अन्तर्गत संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, निरीक्षण, अवधान, स्मरण, चिन्तन, कल्पना, तर्क आदि की प्रक्रियाएँ सन्निहित हैं। अतः इस सम्प्रदाय का सीखने की प्रक्रिया पर बहुत प्रभाव पड़ा है।
2. इसने बाल-मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में काफी महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं।
3. व्यक्तित्व के विकास पर एवं पर्यावरण के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।
4. बुद्धि की व्याख्या अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और युक्तिपूर्ण ढंग से की है। बुद्धि ही 'सूझ' या अन्तर्दृष्टि का आधार होती है। पर्यावरण के साथ समायोजन बुद्धि द्वारा ही होता है। अतः शिक्षा में बालक के पर्यावरण पर ध्यान देना आवश्यक है।
5. इसने सीखने में चिन्तन और समस्या-समाधान के लिए नवीन विचार प्रस्तुत किए हैं। यह अन्य सम्प्रदायों से अधिक प्रगतिशील विचार रखता है।
6. उत्तजेना-अनुक्रियावाद पर भी इन्होंने महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है। यह सम्प्रदाय व्यवहार को समझने के लिये उसके विभिन्न अंगों का पृथक्-पृथक् अध्ययन नहीं करता वरन् उसे समझने के लिये सम्पूर्ण परिस्थिति का अध्ययन करता है क्योंकि व्यवहार सम्पूर्ण स्थिति का फल है।
7. सीखना एक सप्रयोजन एवं उद्देश्य क्रिया है। शिक्षक को शिक्षार्थी के सामने एक समस्या प्रस्तुत करनी चाहिए। समस्या उत्पन्न करके, उसके मन में तनाव की स्थिति उत्पन्न होने पर उसकी क्रिया-शक्ति बढ़ जाती है। इस तनाव को दूर करने के लिए वह उस कार्य को जल्दी पूरा कर लेता है। प्रोजेक्ट और ह्यूरिस्टिक प्रणाली में इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है।

6. क्षेत्र सिद्धान्त (Field Theory)

मनोविज्ञान में क्षेत्र सिद्धान्त का प्रतिपादन **कुर्ट लेविन** (Kurt Levin) ने किया। पहले साहचर्यवादी मनोवैज्ञानिक थे, किन्तु उन्होंने गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों – कोहलर, कोफ्का तथा वर्दाईमीर के साथ भी कार्य किया। अतः वह गेस्टाल्टवाद से प्रभावित थे। मनोविज्ञान में उनकी दो पुस्तकें– **प्रिंसिपल ऑफ टोपोलाजिकल साइकोलॉजी** तथा **कामेंश्चुअल रिप्रेजन्टेशन एण्ड मेजरमेन्ट ऑफ साइकोलॉजिकल फोर्सेज** विख्यात हैं। कुर्ट लेविन ने गेस्टाल्टवादियों से भिन्न मनोवैज्ञानिक विचारधारा प्रस्तुत की। उनके मनोवैज्ञानिक विचार स्थान-विज्ञान (Typology) तथा सदिशता (Vector) पर आधारित हैं। उनके अनुसार व्यवहार भूत अथवा भविष्य पर नहीं वरन् वर्तमान क्षेत्र पर निर्भर करता है। व्यवहार की व्याख्या क्षेत्र (Field) के आधार पर करने के कारण उनका मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त 'क्षेत्र सिद्धान्त' कहलाया। क्षेत्र का तात्पर्य जीवन-स्थान से है, जो एक व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक जगत (Psychological World) होता है। मनोवैज्ञानिक जगत, जो एक प्रकार से भौतिक-सामाजिक पर्यावरण के रूप में

नोट

होता है, का मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण एक व्यक्ति के व्यवहार का कारण बनता है। लेविन ने अपने क्षेत्र सिद्धान्त को दो भागों में प्रस्तुत किया है यथा – संरचना तथा गतिशील।

लेविन के अनुसार 'क्षेत्र' की संरचना व्यक्ति तथा उसके मनोवैज्ञानिक द्वारा होती है। क्षेत्र की संरचना में क्षेत्रीय स्थान (Regions), उसकी सीमा (Boundary) तथा उसके विस्तार (Scope) के साथ बाहरी सीमा से जुड़े तत्व (Foreign Hull) सम्मिलित होते हैं इनके द्वारा व्यक्ति संवेदना एंव प्रत्यक्षीकरण अथवा उत्तेजना (Stimulus) प्राप्त कर उसके प्रतिगामक प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।

लेविन ने गतिशील के सम्बन्ध में बताया है कि गतिशीलता व्यक्ति को एक जीवन-स्थान में गतिशील या चलायमान बनाती है अर्थात् यह व्यक्ति में गति की शक्ति उत्पन्न करता है। ये शक्तियाँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती हैं– (अ) कर्षण शक्ति (Valence), जिसके द्वारा व्यक्ति किसी कार्य को करता अथवा नहीं करता है। कर्षण शक्ति सकारात्मक अथवा नकारात्मक हो सकती है, जो क्रमशः कार्य करने अथवा न करने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करती है। (ब) सदिश शक्ति (Vector) इसका सम्बन्ध यन्त्र विज्ञान से है। इसके अनुसार बल के दो गुण हैं – (1) दिशा और (2) शक्ति। इन दोनों गुणों का योग सदिश है। कर्षण का स्वरूप दिशा निर्धारित करता है अर्थात् यदि कर्षण सकारात्मक है तो वह व्यक्ति को उस जीवन-स्थान की ओर ले जायेगा जहाँ उसे व्यवहार प्रदर्शित करना है। किन्तु यहाँ कार्य करने में यदि कोई अवरोध (BaÙkier) आ जाए तो व्यक्ति भग्नाशा का शिकार हो जाता है और वह द्वन्द्व (Conflict) की स्थिति में आ जाता है। (स) गति (Locomotion), द्वन्द्वात्मक स्थिति से उत्पन्न तनाव (Tension) को कम करने वाली व्यक्ति की क्रियाएँ गति कहलाती हैं, जो आराम (Relief) प्राप्त करने के उद्देश्य से होती हैं।

लेविन के उपर्युक्त सिद्धान्त व्यक्ति के अधिगम, प्रेरणा, व्यवहार के संगठन एवं पुनर्संगठन आदि में वांछित तथा दक्ष संरचना बनाने तथा गतिशीलता लाने में महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं।

क्षेत्र सिद्धान्त का शिक्षा में योगदान–क्षेत्र मनोविज्ञान का शिक्षा में क्या योगदान है, इसके सम्बन्ध में संक्षिप्त बातें निम्नलिखित हैं-

1. लेविन का अधिगम सम्बन्धी क्षेत्र सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अधिगम पर कर्षण शक्ति का प्रभाव पड़ता है। अध्यापक को ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना चाहिए जिससे बालक की सकारात्मक कर्षण शक्ति सक्रिय हो।
2. बालक की उचित शैक्षिक परिस्थिति के सम्बन्ध में क्षेत्र-मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान है।
3. क्षेत्र मनोविज्ञान में आकांक्षा स्तर (Level of Aspiration) के सम्बन्ध के विचार व्यक्त कर शिक्षा में अभिप्रेरणा को प्रोत्साहित किया गया। शिक्षा के प्रति आकांक्षा स्तर जितना ऊँचा होगा बालक उतना ही अधिक रुचि लेगा।
4. सामूहिक शिक्षा को प्रभावशाली बनाने में लेविन का समूह गत्यात्मकता वाद (Group Dynamism) का विचार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।
5. लेविन के विचारों में वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धान्त परिलक्षित होता है तथा शिक्षा में उसके उपयोग को बल मिलता है।
6. लेविन ने क्षेत्र मनोविज्ञान में भग्नाशा, द्वन्द्व, तनाव तथा आराम आदि का उल्लेख कर शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, क्योंकि इन बातों का बालक की निष्पत्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

7. लेविन के विचारों के अनुसार बालक की शक्तियों, शैक्षिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं, अध्यापन विधियों तथा लक्ष्य को पहचान कर बेहतर शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है।

7. पूर्णांगवाद (Holostic Psychology)

नोट

पूर्णांगवाद (Holostic Psychology) का विचार जर्मनी और अमेरिका में विकसित हुआ। पूर्णांगवादी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति एक एकात्मक अवयव (Unitary Organism) है तथा मानव एक पूर्ण व्यक्तित्व (Whole Person) है। इस विचारधारा को मानने वाले मनोवैज्ञानिकों को दो समूहों में रखा जा सकता है-

(1) अवयवादी मनोवैज्ञानिक (Organismic Psychologist) तथा (2) व्यक्तित्ववादी मनोवैज्ञानिक (Personalistic Psychologist)। प्रथम का विचार अधिकतर जीव वैज्ञानिक तो दूसरे का अधिकतर विचार सामाजिक बिन्दु वाला है। इन दोनों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित रूप से है-

1. **अवयववादी मनोविज्ञान** (Organismic Psychology)-अवयववादी मनोवैज्ञानिक में **एडोल्फ मेयर** (Adolf Meyer), **जी. ई कागहिल** (G. E. Coghill) तथा **कुर्ट गोल्डस्टीन** (Kurt Goldstein) प्रमुख हैं। इन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं-
   (i) मनोशारीरिक स्वास्थय के लिए मनोजैविकी (Psycho-biological) ज्ञान आवश्यक है, जिससे रोगों का निदान एवं निवारण किया जा सके।
   (ii) मानव शरीर के अंगों का विकास 'पूर्ण से अंश' की ओर होता है तथा अधिगम गतियाँ 'सामान्य से विशिष्ट' की ओर चलती हैं।
   (iii) जीव अथवा मानव के शारीरिक अवयवों में शक्ति समान रूप से फैली रहती है। इस विचार से मनोविज्ञान में शक्ति के समीकरण (Equalization of Energy) के सिद्धान्त का प्रचलन हुआ।
   (iv) जीव वातावरण के साथ समायोजन करने के लिए दो स्थितियों का सामना करता है- पहला, वास्तविक वातावरण-जैसा वातावरण उसके समक्ष है तथा दूसरा, अवास्तविक वातावरण से उत्पन्न सम्भावित एंव अनुमानित वातावरण जिसके लिए जीव स्वयं के व्यवहार में परिवर्तन लाता है।
2. **व्यक्तित्ववादी मनोविज्ञान** (Personalistic Psychology)-व्यक्तित्ववादी मनोवैज्ञानिकों में **जी. डब्लू. आलपोर्ट** (G. W. Allport) का नाम, व्यक्तित्व के विज्ञान को बनाने के लिए, विशेष रूप से जाना जाता है। यद्यपि कि **स्टर्न** (Stern) ने व्यक्तित्ववादी मनोविज्ञान की विचारधारा विश्व में पहले (1906) में प्रस्तुत की थी। **स्टर्न** के अनुसार व्यक्ति में एकता, मूल्य तथा उद्देश्य निहित रहते हैं (Personality has Unity, Value and Purpose)। व्यक्ति अनेक भागों का पूर्णांग (Unitas Multiplex) होता है। स्टर्न ने अपने व्यक्तिवादी मनोविज्ञान का व्यावहारिक उपयोग चिकित्सकीय तथा निदर्शन मनोविज्ञान में किया। **आलपोर्ट** व्यक्तित्व की पूर्णता पर बल देता है। उसके अनुसार एक व्यक्ति विचित्र संगठित पूर्णांग (The Individual As a Unique Organised Whole) होता है। उसके अनुसार व्यक्तित्व की परिभाषा निम्नलिखित है-

   "व्यक्तित्व, व्यक्ति में निहित मनोदैहिक प्रणालियों का एक ऐसा गत्यात्मक संगठन है, जो व्यक्ति का उसके वातावरण के साथ विशिष्ट समायोजन निश्चित करता है।"

नोट

उपर्युक्त परिभाषा के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्ववादी मनोविज्ञान के समग्र रूप को महत्त्व देता है तथा उसे शारीरिक तथा मानसिक रूप से गतिशील मानता है, जिससे वह वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करता है।

पूर्णांगवाद का शिक्षा में योगदान–शिक्षा में पूर्णांगवाद का योगदान निम्नलिखित रूप से है–

1. पूर्णांगवाद ने ही सर्वप्रथम यह मनोवैज्ञानिक तथ्य उद्घाटित किया कि बालक का विकास पूर्ण से अंश की ओर होता है तथा ज्ञान सामान्य से विशिष्ट की ओर बढ़ता है। इस सिद्धान्त से ही दो शिक्षण सूत्र (Maxims) बने, यथा– 'अंश से पूर्ण की ओर' तथा 'सामान्य से विशिष्ट की ओर'।
2. पूर्णांगवाद का महत्त्वपूर्ण योगदान 'व्यक्तित्व के मनोविज्ञान' के विकास के रूप में है, जिसके द्वारा व्यक्तित्व का ज्ञान तथा मापन विधियाँ विकसित की जा सकीं।
3. पूर्णांगवाद के प्रभाव के करण ही शिक्षाविदों ने समायोजन के महत्त्व को समझा तथा बालक को कु-समायोजन से बचाने तथा सु-समायोजन को अपनाने के प्रयासों को कम करने पर बल दिया।
4. यदि शिक्षा में गेस्टाल्टवादियों का योगदान स्वीकार्य है तो पूर्णांगवाद भी शिक्षा में महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि पूर्णांगवादी मनोवैज्ञानिक विचारधारा ने गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के विकास हेतु पृष्ठभूमि का निर्माण किया।
5. पूर्णांगवाद द्वारा मनोजैविकी का विकास करना भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बालकों के मनोविकारों का निदान एवं उपचार करने में इस विचारधारा का विशेष योगदान है।

8. प्रयोजनवाद (Purposivism)

प्रयोजनवाद (Purposivism) को प्रेरकीयवाद (Hormic) के नाम से भी जाना जाता है। मनोविज्ञान में इस विचारधारा के जनक इंग्लैंड के **विलियम मैक्डूगल** (William Mc. Dougall) हैं। हार्मिक (Hormic) ग्रीक शब्द हार्म (Horme) से बना है, जिसका अर्थ है- प्रेरक। अत: जो मनोवैज्ञानिक प्रेरणा, प्रेरक तथा प्रयोजन को मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं, वे हार्मिक अथवा प्रयोजनवादी मनोवैज्ञानिक कहलाते हैं। यह वह मनोवैज्ञानिक विचारधारा है जिसमें व्यवहार का सूत्रपात प्रयोजन द्वारा होना माना जाता है। प्रयोजन एक समिष्ट शब्द है। प्रयोजनशील व्यवहार लक्ष्य प्राप्ति के समान होता है जिसमें दो घटक- इच्छा शक्ति एवं दूरदृष्टि संयुक्त होते है। व्यक्ति किसी प्रयोजन से प्रेरित होकर व्यवहार करता है। अत: प्रयोजनवाद मनोविज्ञान में उन तथ्यों के अध्ययन पर बल देता है जो किसी कार्य प्रारम्भ एवं पूर्ण करने अर्थात् व्यवहार करने की प्रेरणा देते हैं। **मैक्डूगल** के अनुसार पशु तथा मनुष्य 'एक यंत्र' के समान व्यवहार करते हैं और व्यवहार करना जीवित प्राणी की विशेषता है। इसी विचारधारा के अंतर्गत मैक्डूगल ने मूल-प्रवृत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

मूल प्रवृत्ति का सिद्धान्त– मैक्डूगल के इस सिद्धान्त के अनुसार मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं किन्तु अधिगम प्रयासों से इनमें सुधार किया जा सकता है। मैक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्ति प्राथमिक स्तर पर एक पूर्ण मानसिक प्रक्रिया होती है जिसका विश्लेषण तीन भागों में किया जा सकता है यथा – (1) संग्राहकिक दिशा की ओर (On the receptive side), (2) कार्यान्वयन दिशा की ओर (On the executive side) तथा (3) संवेगात्मक गति (Emotional impulse or striving)। **मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल** के अनुसार कुल चौदह मूल प्रवृत्तियाँ तथा उनसे सम्बन्धित संवेग होते हैं, जिनका अवलोकन निम्न सूची में किया जा सकता है-

नोट

तालिका 1.1

क्रम सं.	मूल प्रवृत्ति	संवेग
1.	युयुत्सा (Combat)	क्रोध (Anger)
2.	पलायन (Escape)	भय (Fear)
3.	भोजनावेषण (Food Seeking)	भूख (Hunger)
4.	निवृत्ति (Repulsion)	घृणा (Disgust)
5.	सन्तान रक्षा (Parental)	स्नेह (Affection)
6.	काम (Sex)	कामुकता (Lust)
7.	जिज्ञासा (Curiosity)	आश्चर्य (Wonder)
8.	प्रार्थना (Apeal)	दुख (Distress)
9.	दैन्य (Submission)	आत्महीनता (Negative Self Feeling)
10.	आत्म गौरव (Self Assertion)	आत्माभिमान (Positive Self feeling)
11.	सामूहिकता (Company Seeking)	एकाकीपन (Loneliness)
12.	रचना (Coustruction)	कृतिभाव (Feeling of Creativity
13.	हास (Laughter)	आमोद (Amusement)
14.	संग्रह प्रवृत्ति (Collection)	अधिकार भावना (Ownership feeling)

मैक्डूगल के मूल प्रवृत्ति तथा सम्बन्धित संवेग के सिद्धान्त की कटु आलोचना वाटसन, बर्नार्ड तथा थार्नडाइक आदि मनोवैज्ञानिकों ने की और प्रेरक के सिद्धान्त के रूप में इसे स्वीकार नहीं किया। फिर भी इसका शौक्षिक महत्त्व है।

प्रयोजनवाद का शिक्षा में योगदान–यद्यपि मानवीय व्यवहार के प्रेरक के रूप में आज प्रयोजनवाद, विशेष रूप से मूल प्रवृत्ति का सिद्धान्त, मान्य नहीं रह गया फिर भी इसकी कुछ बातें शिक्षा में महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं, जिससे शिक्षा में प्रयोजनवाद का योगदान सिद्ध होता है, जैसे-

(1) अधिगम के लिए प्रेरणा आवश्यक है। शिक्षक मूल प्रवृत्तियों के ज्ञान का लाभ उठाकर बालकों को प्रभावशाली अधिगम के लिए प्रेरित कर सकते है।

(2) बालकों के मूल प्रवृत्तियों का परिमार्जन तथा उसका उचित दिशा में मार्गान्तरण करने के द्वारा बालकों को सु-समायोजन के लिए अध्यापक अपनी सहायता दे सकता है।

(3) मैक्डूगल द्वारा बताई गई कुछ मूल प्रवृत्तियाँ शिक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं- जैसे- जिज्ञासा, आत्म-गौरव तथा रचना। शिक्षा में इनका उचित उपयोग कर अधिगम तथा शिक्षण को प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

1.7 शिक्षा-मनोविज्ञान का अर्थ एवं परिभाषा

शिक्षा और मनोविज्ञान का अर्थ समझ लेने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य मानव-व्यवहार में रूपान्तर लाना है और मनोविज्ञान एक ऐसा विज्ञान है

जिसका सम्बन्ध व्यावहारिक परिवर्तनों के अध्ययन से है। यह सामान्य मनोविज्ञान का व्यावहारिक रूप है। शिक्षा-मनोविज्ञान शिक्षार्थी तथा सीखने और शिक्षक की क्रियाओं से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है।

नोट

शिक्षा-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। यह दो शब्दों से मिलकर बना है-'शिक्षा' और 'मनोविज्ञान'। इसका शाब्दिक अर्थ है-शिक्षा सम्बन्धी मनोविज्ञान अर्थात् यह शिक्षा की प्रक्रिया में मानव-व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन है तथा यह शैक्षिक समस्याओं को हल करने में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग करता है। स्किनर (Skinner) के शब्दों में "शिक्षा-मनोविज्ञान, अपना अर्थ शिक्षा से, जो सामाजिक प्रक्रिया है और मनोविज्ञान से, जो व्यवहार सम्बन्धी विज्ञान है, ग्रहण करता है।" (Educational Psychology takes its meaning from education a social process and from psychology a behavioural science.)

शिक्षा द्वारा मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और मनोविज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जो मानव-व्यवहार के सभी रूपों का अध्ययन करता है। इस दृष्टि से शिक्षा और मनोविज्ञान दोनों ही मानव व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धि त हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान का आधार मनोविज्ञान व्यक्तिगत आचरण के तथ्य और नियमों का अध्ययन करता है उसी प्रकार शिक्षा-मनोविज्ञान एक विशेष प्रकार के व्यक्तियों अर्थात् विद्यालय या विद्यालय के बहार शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के आचरण व व्यवहार का अध्ययन करता है। इसका अध्ययन-क्षेत्र अधिक संकीर्ण एवं विशिष्ट है। शिक्षा मनोविज्ञान अपने विषय के अध्ययन के लिए सामान्य मनोविज्ञान की पद्धतियों का प्रयोग करता है। यह बालक की प्रवृत्तियों, स्वभाव तथा उसके व्यवहार का शैक्षिक परिस्थितियों में अध्ययन करता है तथा शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का विवेचन, विश्लेषण और समाधान प्रस्तुत करता है। **स्किनर** के शब्दों में, "शिक्षा-मनोविज्ञान उन खोजों को शैक्षिक परिस्थितियों में प्रयोग करता है जो कि विशेष तथा मानव-प्राणियों के अनुभव और व्यवहार से सम्बन्धित हैं।" (Educational Psychology utilizes those findings that deal specifically with the experiences and behaviour of human being in educationl situation.)

शिक्षा-मनोविज्ञान उन प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है, जो मानव-व्यवहार को प्रभावित करती हैं। मनोविज्ञान में केवल सिद्धांतों का प्रतिपादन ही नहीं किया जाता, बल्कि यह भी बताने का प्रयत्न किया जाता है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का उपयोग करके किस प्रकार जीवन को स्वस्थ एवं समृद्धशाली बनाया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग व्यावहारिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उठने वाली विभिन्न समस्याओं और स्थितियों में किया जाता है। इस विभिन्न क्षेत्रों में शैक्षिक विषय महत्त्वपूर्ण है। चूँकि मनोविज्ञान के विभिन्न सिद्धांन्तों और नियमों का प्रयोग शैक्षिक परिस्थितियों में किया जाता है इसलिए शिक्षा-मनोविज्ञान को व्यावहारिक मनोविज्ञान भी कहते हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान क्या है? उसका क्या अर्थ है? यह उसकी विभिन्न परिभाषाओं, उद्देश्यों तथा उसके विषय-क्षेत्र सम्बन्धी विवरण से और अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

शिक्षा-मनोविज्ञान की परिभाषा मनोवैज्ञानिकों तथा शिक्षाशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से की है जिसमें से कुछ का उल्लेख किया जा रहा है-

(1) **स्किनर**–"शिक्षा-मनोविज्ञान मानवीय व्यवहार का शैक्षिक परिस्थितियों में अध्ययन करता है।'' (Educational Psychology deals with the behaviour of human being in educational situations.)

नोट

(2) **क्रो और क्रो–**''शिक्षा-मनोविज्ञान व्यक्ति के जन्म से वृद्धावस्था तक सीखने के अनुभवों का वर्णन और व्याखा करता है।'' (Educational Psychology describes and explains the experinces of an individual from birth to the old age.)

(3) **नाल और अन्य–**''शिक्षा-मनोविज्ञान मुख्य रूप से सामाजिक प्रक्रिया से परिवर्तित या निर्देशित होने वाले मानव-व्यवहार के अध्ययन से सम्बन्धित है।'' (Educational Psychology is concerned primarily with the study of human behaviour as it is changed or directed under the social pro- cess of education.)

(4) **स्वारे तथा टेलफोर्ड–** ''शिक्षा-मनोविज्ञान का मुख्य सम्बन्ध सीखने से है। यह मनोविज्ञान का वह अंग है, जो शिक्षा की मनोवैज्ञानिक पहलुओं की वैज्ञानिक खोज से सम्बन्धित है।'' (The major concern of educa- tional psycholgy is learning, It is that field of psychology which is primarily concerned with the scientific investigation of the psychological aspects of education.)

(5) **एलिस क्रो–**''शिक्षा मनोविज्ञान, वैज्ञानिक विधि से ग्राह्य किये जाने वाले मानव-प्रतिक्रियाओं के उन सिद्धन्तों के प्रयोग करता है, जो शैक्षिक और अधिगम को प्रभावित करता हैं।'' (Educational psychology represents the application of scientifically derived principles of human reactions that affefct teaching and learning.)

(6) **कॉलसनिक–**''शिक्षा मनोविज्ञान, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों तथा खोजों का शिक्षा में प्रयोग है।'' (Educational Psychology is the application of the finding and theories of psychology infield of education.)।

(7) **स्टीफन–**''शिक्षा-मनोविज्ञान शैक्षणिक विकास का अध्ययन है।'' (Educational Psychology is a systematic study of educational growth.)

जे. एम. स्टीफन्स के विचारों के अनुसार–''शिक्षा-मनोविज्ञान शैक्षणिक प्रगति के परिवेश का मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। इस दृष्टि से शिक्षा-मनोविज्ञान के अन्तर्गत केवल मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का अनुप्रयोग ही नहीं बताया जाता, प्रत्युत यह मनोविज्ञान की एक विशिष्ट शाखा सिद्ध होती है। यह शाखा शैक्षणिक गतिविधियों को समझने का उसी प्रकार प्रयास करती है जिस प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान की शाखा सामाजिक घटनाओं की व्याख्या का प्रयास करती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि शिक्षार्थी की शैक्षिक पर्यावरण के प्रति अनुक्रियाओं (responses) के साथ ही शैक्षिक वातावरण में उत्पन्न समस्याओं और उनके समाधान का मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। **इनसाइक्लोपीडिया ऑफ एजूकेशनल रिसर्च** में इसकी व्याख्या व्यापक रूप से इस प्रकार की गई है– ''शिक्षा-मनोविज्ञान का सम्बन्ध सीखने में मानवीय तत्व से है। यह ऐसा क्षेत्र है, जिसमें मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में किए गए प्रयोगात्मक कार्य द्वारा प्राप्त प्रत्ययों (Concepts) को, शिक्षा में लागू किया जाता है। किन्तु यह ऐसा भी क्षेत्र है जिसमें ऐसे प्रत्ययों की शिक्षा में व्यावहारिकता की परीक्षा तथा शिक्षा की विशिष्ट रुचि के अध्ययन प्रकरण ाों को निर्धारित करने के लिए प्रयोगात्मक कार्य किया जाता है। यह सीखने-सिखाने की प्रक्रिया की विभिन्न शाखाओं, जो कि बालक को अधिकतम सुरक्षा तथा संतोष के साथ समाज से तादात्म्य या अनुकूलन न स्थापित करने में सहायता देने के लिए निर्देशित हों– का अध्ययन करता है।"

नोट

शिक्षा–मनोविज्ञान की प्रकृति

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर शिक्षा–मनोविज्ञान की प्रकृति अथवा स्वरूप पर विचार किया जा सकता है। शिक्षा–मनोविज्ञान की प्रकृति को वैज्ञानिक माना गया है। शिक्षा–मनोविज्ञान के अर्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनोविज्ञान के सिद्वान्तों का प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में किया जाता है। आज शैक्षिक प्रक्रिया में मनोविज्ञान अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। मनोविज्ञान की सहायता से सीखने के नियम, ध्यान, थकान, स्मरण की विधियाँ, पाठ्यक्रम–निर्माण के सिद्धान्त, शिक्षण और शैक्षिक मूल्यांकन आदि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक सिद्धान्तों और नियमों का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार अध्ययन–पद्धति के दृष्टिकोण से मनोविज्ञान की भाँति शिक्षा–मनोविज्ञान की प्रकृति को वैज्ञानिक कहा जाता है। शिक्षा–मनोविज्ञान शिक्षा की विभिन्न समस्याओं के समाधान में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके निष्कर्षों केठ आधार पर सामान्य नियम का प्रतिपादन करता है और शैक्षिक परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार तथा सीखने से सम्बन्धित विषय में भविष्यवाणी करता है। शिक्षा–मनोविज्ञान की अध्ययन विधियों का वर्णन आगे किया जाएगा। आज शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों, परामर्शदाताओं और विद्यालयों के सभी क्रियाकलापों के लिए तथा मानव प्रकृति को समझने के लिए शिक्षा–मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक अनुसंधान कार्य हो रहे है। शिक्षा–मनोविज्ञान को एक व्यावहारिक मनोविज्ञान माना जाता है, क्योंकि यह अधिगम प्रक्रिया की व्याख्या मानवीय व्यवहार के आधारभूत वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर करता है।

इस प्रकार शिक्षा-मनोविज्ञान शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का विवेचन, विश्लेषण और समाधान प्रस्तुत करता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा दिए गये विचारों के आधार पर शिक्षा–मनोविज्ञान का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि–

(1) शिक्षा-मनोविज्ञान भी व्यवहार का विधायक विज्ञान है। इसमें भी मनोविज्ञान की तरह व्यवहार के क्या, क्यों और कैसे का अध्ययन किया जाता है? इसमें सीखने–सिखाने की क्रिया की शैक्षिक परिवेश में मनोवैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की जाती है। इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक क्रो और क्रो का विचार ''मनोवैज्ञानिक सीखने से सम्बन्धित मानव विकास के 'कैसे' की व्याख्या करता है, शिक्षा सीखने के 'क्या' को प्रदान की चेष्टा करती है, शिक्षा–मनोविज्ञान सीखने के 'क्यों' और 'कब' से सम्बन्धित है।'' (Psychology explained 'how' of human development as related to learning education attempts of provide the 'what' of learning educational psychology is concerned with the 'why' and ' when' of learning.)

अर्थात क्रो एवं क्रो के अनुसार, शिक्षा मनोविज्ञान को व्यावहारिक विज्ञान माना जा सकता है क्योंकि यह मानव व्यवहार के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विधि से निश्चित किये गये सिद्धान्तों और तथ्यों के अनुसार सीखने की व्याख्या करने का प्रयास करता है।

स्वारे और टेलफोर्ड– "शिक्षा मनोविज्ञान अपनी खोज के रूप में विज्ञान की विधियों का प्रयोग करता है।"

(2) शिक्षा-मनोविज्ञान की प्रकृति वैज्ञानिक है। इसमें भी शिक्षार्थी की शैक्षिक परिस्थितियों में क्रियाओं एवं व्यवहार का व्यवस्थित तथा नियमित अध्ययन वैज्ञानिक विधि द्वारा किया जाता है।

(3) शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र शैक्षणिक परिवेश में सीखने से सम्बन्धित व्यवहार है। शिक्षा-मनोविज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक स्किनर के विचारों पर ध्यान देना चाहिए- "शिक्षा-मनोविज्ञान उन खोजों को शैक्षिक परिस्थितियों में प्रयोग करता है जो कि विशेषतया मानव प्राणियों के अनुभव और व्यवहार से सम्बन्धित है।" (Educational Psychology utilized those finding that deal specifically with the experiences and behaviour of human being in educational situation.)

नोट

अन्त में हम कह सकते हैं कि शिक्षा-मनोविज्ञान शिक्षा की मनोवैज्ञानिक सिद्धातों एवं नियमों के अनुसार अध्ययन करने वाला विज्ञान है। यद्यपि शिक्षा-मनोविज्ञान की एक शाखा है किन्तु आज वह स्वतंत्र रूप से शैक्षिक समस्यओं का समाधान प्रयोगात्मक ढंग से करके, प्रयोगों के निष्कर्ष के आधार पर नियमों एवं सिद्धांन्तों का प्रतिपादन करता है और इन नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार शैक्षणिक परिस्थितियों में होने वाले व्यवहार एवं क्रियाओं का अध्ययन करता है। इनका सीखने की क्रिया और सीखने के उत्पाद पर प्रभाव पड़ता है।

1.8 शिक्षा-मनोविज्ञानः एक स्वतंत्र अनुशासन

शिक्षा-मनोविज्ञान के सम्बन्ध में शिक्षा-शास्त्रियों का विचार है कि अब यह एक स्वतंत्र अनुशासन (discipline) हो गया है। जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट है– "आज का शिक्षा-मनोविज्ञान, मनोविज्ञान के सामान्य सिद्धान्त को ज्यों का त्यों मानकर उनका प्रयोग मात्र नहीं करता, बल्कि उनको अपने दैनिक कार्य में लागू करके उनका परीक्षण भी करता है और परीक्षण के बाद अपने सिद्धान्तों को अलग-अलग ढंग से निरूपित करता है। इसलिए आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान का अपना विशिष्ट क्षेत्र, कार्यक्रम, समस्याएँ तथा विधियाँ हैं। इन सबमें इसका सामान्य मनोविज्ञान से सम्बन्ध आता है, किन्तु वे सब सामान्य मनोविज्ञान पर निर्भर नहीं हैं।" इसका सम्बन्ध एक ओर सामान्य मनोविज्ञान से है और दूसरी ओर शिक्षा से है। शिक्षाशास्त्र विषय से शिक्षा मनोविज्ञान का निकट संबंध है क्योंकि शिक्षाशास्त्र के साथ शिक्षा-मनोविज्ञान का अध्ययन करना अनिवार्य है। अतः हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा-मनोविज्ञान शिक्षाशास्त्र का एक सामाजिक विज्ञान है।

आज शिक्षा-मनोविज्ञान को एक शैक्षिक अनुशासन के रूप में माना जाता है। शिक्षाशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने इसके पक्ष में निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं–

1. शिक्षा-मनोविज्ञान, मानव व्यवहार पर अपने को केंन्द्रित करता है।
2. यह तथ्यों (Facts) और सूचनाओं का पिंड (Body) है जो निरीक्षण (Observations) और खोज (Investigations) के फलस्वरूप प्राप्त हुए हैं।
3. इस ज्ञान-पिंड (lewg) को सिद्धान्तों और नियमों के रूप में सामान्यीकृत (generalize) किया जा सकता है।
4. शिक्षा-मनोविज्ञान ने एक पद्धति का विकास किया है जिसमें ज्ञान की खोज की जाती है, परिकल्पनाओं (Hypothesis) का परीक्षण होता है तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है।
5. यह पद्धति अपने आप उत्पन्न होने वाली शैक्षिक समस्याओं का समाधान ढूँढने में सहायक होती है।

6. ये सूचनाएँ, ज्ञान, सिद्धान्त और पद्धति सभी मिलकर शिक्षा-मनोविज्ञान का विषय बनते है और शैक्षिक सिद्धान्त (Educational Theory) तथा शैक्षिक व्यवहार को आधार प्रदान करते हैं।

नोट

शिक्षा-मनोविज्ञान एक व्यावसायिक विषय के रूप में–शिक्षण-प्रक्रिया और सीखने की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण कारक शिक्षक होता है। अत: शिक्षण व्यवसाय को अपनाने के लिए वह व्यक्ति जो शिक्षक बनेगा उसे शिक्षाशास्त्र और शिक्षा-मनोविज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से शिक्षा-मनोविज्ञान को एक व्यावसायिक विषय भी कहा जा सकता है। इस पर विस्तार से 'शिक्षा-मनोविज्ञान के विषय क्षेत्र' में प्रकाश डाला गया है।

1.9 शिक्षा-मनोविज्ञान का विषय-क्षेत्र

शिक्षा-मनोविज्ञान के अर्थ तथा उद्देश्य पर विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो गया कि शिक्षा-मनोविज्ञान शैक्षणिक परिस्थितियों में शिक्षार्थीए सीखने की प्रक्रिया तथा सीखने के परिणाम (उपलब्धि या उत्पाद) का मनोवैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करता है। शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र का स्पष्टीकरण **चार्ल्स ई. स्किनर** ने इस प्रकार किया है–''शिक्षा-मनोविज्ञान मानव व्यवहार का शैक्षिका परिस्थितियों में अध्ययन करता हैं। इसका सम्बन्ध उन मानव-व्यवहारों और व्यक्तित्व के अध्ययन से है जिनका उत्थान, विकास और मार्ग-प्रदर्शन शिक्षा की प्रक्रिया द्वारा होता है।'' शिक्षा-मनोविज्ञान की विषय-सामग्री के साथ सम्बन्ध में कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के विचार इस प्रकार हैं–

(1) गैरीसन व अन्य– ''शिक्षा-मनोविज्ञान की विषय-सामग्री का नियोजन दो दृष्टिकोणों से किया जाता है–

(1) शिक्षार्थी के जीवन को समृद्ध और विकसित करना और (2) शिक्षकों को अपने शिक्षण में गुणात्मक उन्नति करने में सहायता देने के लिए ज्ञान प्रदान करना।''

(The subject-matter of educational psychology is designed (1) to enhance and enrich the lives of he learners, and (2) to furnish teachers with he knowledge and under-standing that will help the institute improvement in the quality of instruction.)

(2) डगलस व हालैंड– "शिक्षा-मनोविज्ञान की विषय-सामग्री, शिक्षक की प्रक्रियाओं में भाग लेने वाले व्यक्ति की प्रकृति, मानसिक जीवन और व्यवहार है।'' (The subject-matter of educational psychol- ogy is the nature, mental life, and behaviour of the individual undergoing the process of education.)

क्रो और क्रो–''शिक्षा-मनोविज्ञान की विषय-सामग्री का सम्बन्ध अधिगम को प्रभावित करने वाली दशाओं से है।'' (The subject-matter of educational psychology is concerned with the conditions, that affect learning.)

शिक्षा और मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज मनोविज्ञान का व्यावहारिक रूप में शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग होने लगा है तथा इसकी सहायता से ही शिक्षण सम्बन्धी समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया जाता है। चूँकि शिक्षा आजीवन चलने वाली विकास की प्रक्रिया है, इसलिए शिक्षा-मनोविज्ञान का क्षेत्र बाल्यावस्था या किशोरावस्था तक ही सीमित नहीं है वरन् व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की समस्त शैक्षणिक परिस्थितियों तक विस्तृत है।

नोट

जब ये प्रश्न किये जाते हैं कि शिक्षा किसे दी जाए? कब दी जाए? किस प्रकार दी जाए? किस परिस्थिति तथा किस व्यवस्था में दी जाए? किसके द्वारा दी जाए तथा शिक्षा क्या होती है? तब इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए शिक्षा-मनोविज्ञान के अन्तर्गत प्रमुख रूप से शिक्षार्थी, सीखने की प्रक्रिया, सीखने की परिस्थितियाँ तथा सीखने के परिणाम (उपलब्धि या उत्पाद) से सम्बन्धित बातों पर विचार किया जाता है।

(1) **शैक्षिक परिस्थिति सम्बन्धी अध्ययन**–शिक्षा में परिस्थिति एवं वातावरण का अत्यधिक महत्त्व है। शिक्षा के लिए शैक्षिक परिस्थिति का निर्माण नियोजित रूप से किया जाता है। यदि उचित वातावरण नहीं होता है तो शैक्षिक प्रयास सफल नहीं हो पाते। मनोविज्ञान में वातावरण का भी अध्ययन किया जाता है क्योंकि व्यवहार का जन्म देने वाले तत्व वातावरण में निहित होते हैं। बालक की सफल शिक्षा के लिए प्रभावकारी वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए। यदि शिक्षा की अपेक्षाओं की दृष्टि से वातावरण नियोजित एवं नियंत्रित नहीं किया जाता तो शिक्षण एवं अधिगम सफलतापूर्वक निष्पादित नहीं हो सकते। अत: शिक्षा मनोविज्ञान में वातावरण का महत्त्व, वातावरण के प्रकार, अधिगम परिस्थियों की दशाएँ, शैक्षिक तकनीक, कक्षा पर्यावरण तथा वातावरण का शिक्षण, अधि गम, वैयक्तिक भिन्नता, व्यक्तित्व निर्माण, समायोजन एवं स्वास्थ अभिवृद्धि एवं विकास पर प्रभाव आदि सम्बन्धित विषयों का सविस्तार अध्ययन किया जाता है।

लिण्डग्रेन (Lindgren) ने शैक्षिक अथवा अधिगम परिस्थिति का एक केन्द्रीय क्षेत्र माना है। लिण्डग्रेन महोदय के अनुसार बालक की शिक्षा की एक परिस्थिति होती है जिसमें शैक्षिक प्रक्रिया घटित होती है। परिस्थिति में वे तत्व आते है जो बालक को या शैक्षिक प्रक्रिया को या दोनों को प्रभावित करते हैं। कक्षा, पुस्तकालय, वाचनालय, प्रयोगशाला आदि प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक शैक्षिक परिस्थितियों का निर्माण करते हैं, जबकि समुदाय, प्रशासन एवं प्रबन्ध तंत्र तथा नीति निर्धारक आदि दूर से, किन्तु प्रभावकारी ढंग से, शैक्षिक परिस्थितियों का निर्माण एवं नियंत्रण करते है। इसी दृष्टि से शैक्षिक परिस्थिति सम्बन्धी अध्ययन को आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान में सम्मिलित किया जा रहा है।

(2) **शिक्षार्थी से सम्बन्धित अध्ययन**– आधुनिक मनोवैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार शिक्षा की द्विमुखी प्रक्रिया में सीखने वाला शिक्षा-प्रक्रिया का केन्द्र-बिन्दु होता है। शिक्षा-प्रक्रिया का आरम्भ होते ही मुख्य प्रश्न यही उठता है कि हम किसे शिक्षा दे रहे हैं? निश्चित रूप से हमारा उत्तर होगा– बालक को या अधिक व्यापक रूप से कहें तो इसे सीखने वाले की सज्ञा दी जाती है। आज इस प्रमुख प्रश्न पर ही शिक्षा-जगत में विशेष रूप से विचार किया जाता है और इसीलिए शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों ने बालक या शिक्षार्थी को शिक्षा का केन्द्र बिन्दु माना है, जो शिक्षा इस केन्द्र के चारों ओर घूमती है उसी को बाल-केन्द्रित शिक्षा या मनोवैज्ञानिक शिक्षा कहते हैं। यह विचारधारा उस मनोवैज्ञानिक आन्दोलन का परिणाम है जिनका सूत्रपात शिक्षा-शास्त्री **रूसो** एवं **पेस्टालॉजी** ने किया और आज इसे शिक्षा-मनोविज्ञान के अतिरिक्त सभी व्यक्तियों का प्रबल समर्थन प्राप्त है। प्रश्न उठता है कि शिक्षार्थी से हमारा क्या तात्पर्य है? सरल शब्दों में इसका अर्थ है– सीखने वाला।

एक शिक्षक तथा उसके अभिभावक को शिक्षार्थी के बारे में क्या-क्या जानने की और क्यों जानने की आवश्यकता होती है। इस विषय पर शिक्षार्थी से सम्बन्धित निम्नांकित बातों का अध्ययन आवश्यक है–

नोट

(क) वंशानुक्रम और वातावरण–बालकों की शिक्षा पर वंशानुक्रम से प्राप्त गुणों तथा उसके वातावरण का प्रभाव पड़ता है। शिक्षा-मनोविज्ञान में दोनों का अध्ययन किया जाता है और यह जानने का प्रयास किया जाता है कि शिक्षा पर वंशानुक्रम का अधिक प्रभाव पड़ता है या वातावरण का।

(ख) बाल विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन–इसमें अभिवृद्धि एवं विकास के सिद्धान्त तथा बाल-विकास की विभिन्न अवस्थाओं-शैशव, बाल्य तथा किशोरावस्था का अध्ययन किया जाता है और इन अवस्थाओं में पाई जाने वाली शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक और सामाजिक विशेषताओं के अनुसार शिक्षा का रूप निर्धारित किया जाता है।

शारीरिक विकास–शारीरिक विकास के अंतर्गत बाल विकास की विभिन्न अवस्थाओं–शैशवावस्था, बाल्यवस्था की शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है।

मानसिक विकास–इसमें संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, निरीक्षण, ध्यान, रुचि, सीखना, प्रेरणा, स्मृति, विस्मृति कल्पना, चिन्तन, तर्कख निर्णय वृद्धि आदि का अध्ययन किया जाता है और विभिन्न प्रयोगों द्वारा इस बात का भी प्रयास किया जाता है कि बालक में इनका विकास किन विधियों द्वारा कराया जाये।

संवेगात्मक विकास–इसमें भावों, संवेगों, स्थायीभाव, मनोग्रन्थियों, मूल प्रवृत्तियों, सहज प्रवृत्तियों का अध्ययन होता है। संवेग बालक की शिक्षा में सहायक और कभी-कभी बाधक दोनों होते हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान इसका अध्ययन करके यह पता लगाने का प्रयास करता है कि किस प्रकार संवेग बालक की शिक्षा में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

सामाजिक तथा चारित्रिक विकास–इसके अन्तर्गत सामाजिक क्रियाएँ, खेल, सामूहिक निर्माण की क्रियाएँ तथा पाठ्य-विषयान्तर क्रियाएँ, जिनसे सामाजिक और चरित्रिक विकास में सहायता मिलती है, उन सब बातों का अध्ययन होता है।

(ग) बालकों की व्यक्तिगत विभिन्नताओं का अध्ययन–शिक्षा-मनोविज्ञान तीव्र, सामान्य, मन्द बुद्धि समस्यात्मक, असाधारण, मानसिक रोग-ग्रस्त और विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व वाले बालकों का अध्ययन करता है और यह निश्चित करता है कि किस प्रकार के बालकों को किस प्रकार की और किन विधियों से शिक्षा देनी चाहिए।

(घ) बालक के मानसिक स्वास्थ्य का अध्ययन–इसमें मानसिक स्वास्थ्य के सिद्धान्त, मानसिक स्वास्थ्य पर बाधा डालने वाले तथा उन्नति करने वाले कारकों का अध्ययन होता है।

(ङ) बालक के व्यवहार तथा समायोजन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन तथा निर्देशन देने का कार्य किया जाता है।

(3) सीखने की प्रक्रिया का अध्ययन (Learning Process)–सीखने का जीवन में बहुत महत्त्व है और शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है व्यक्ति को सिखाना। सीखना उत्तेजना-अनुक्रिया का परिणाम है। वातावरण में जो उत्तेजनाएँ (Stimulate) होती हैं उनके प्रति बालक प्रारम्भ

नोट

से ही अनुक्रियाएँ करने लगता है जो कि मूल प्रवृत्यात्मक होती हैं। अनुभव द्वारा वह इन अनुक्रियाओं में परिवर्तन करता रहता है। धीरे-धीरे समायोजित परिष्कृत प्रतिक्रियाएँ करने लगना ही सीखना है। इस प्रकार के सीखने के फलस्वरूप ही वह समाज में अपने को समायोजित कर पाता है। सामाजिक समायोजन की क्रिया सीखने की प्रक्रिया है। "प्रगतिशील व्यवहार व्यवस्थापन की प्रक्रिया को सीखना कहते हैं।" सीखना निरन्तर परिवर्तन की उस प्रक्रिया को कहते हैं जो आंतरिक और बाह्य कारणों द्वारा आरम्भ तथा अनुकूलित होती हैं और परिस्थितियों के प्रति समायोजन की ओर निर्देशित होती हैं।

सीखने की प्रक्रिया में निम्नांकित बातों का अध्ययन किया जाता है–

(क) सीखने की प्रकृति या स्वरूप (Nature of Learning)– शिक्षा-मनोविज्ञान प्रयोगों द्वारा इस बात का पता लगाता है कि सीखने की कौन-सी विधि विशेष उपयोगी है और सीखने के सिद्धान्त, सीखने के नियम, सीखने की विभिन्न विधियों को, सीखने में पुरस्कार और दण्ड का क्या महत्त्व है एवं इनका उपयोग किस प्रकार किया जाए?

(ख) सीखने में प्रेरणा का स्थान–इसमें सीखने की प्रक्रिया की क्रिया में प्रेरणा का क्या महत्त्व है, इस पर विचार किया जाता है।

(ग) अधिगम का स्थानान्तरण (Transfer of Learning)– इसमें सीखने के स्थानान्तरण का क्या अर्थ एवं महत्त्व है, स्थानान्तरण किस प्रकार होता है तथा स्थानान्तरण के विभिन्न सिद्धान्त क्या हैं– आदि बातों का अध्ययन किया जाता है।

(घ) स्मृति तथा विस्मृति (Memory and Forgetting)– इसमें स्मृति का अर्थ, अंग, विशेषताएँ, प्रकार, नियम एवं विधियों पर विचार किया जाता है। सीखने की क्रिया के लिए विस्मृति के स्वरूप, इसके कारण तथा निवारण को जानना भी आवश्यक है। शिक्षा में सीखने की क्रिया को सफल बनाने के लिए स्मृति परीक्षण पर ध्यान देना आवश्यक है। सीखने के फलस्वरूप उसने कुछ धारण किया है उसी के आधार पर विशेष परिस्थिति में व्यवहार करना है। स्मरण करना धारण की प्रक्रिया है जो कि सीखने की प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग है। अत: स्मृति एवं विस्मृति शिक्षा-मनोविज्ञान के अंतर्गत आते हैं।

(4) सीखने के परिणाम (उत्पाद) का अध्ययन (Product of Learning)–शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र के अंतर्गत सीखने को प्रभावित करने वाली क्रियाएँ एवं दशाएँ आती हैं। सीखने के फलस्वरूप व्यक्ति कुछ ज्ञान प्राप्त करता है। सीखना मानसिक क्रियाओं की सहायता से सम्पन्न होता है। सीखने के कारण व्यक्ति जो कुछ ग्रहण कर लेता है, उसे शैक्षिक उपलब्धि, परिणाम या उत्पाद कहते है। सीखने के उत्पाद को जानने के लिये निम्नांकित बातों पर ध्यान देना चाहिए।

शैक्षिक परिणाम या उपलब्धि की जानकारी के लिये निम्नांकित बातों पर ध्यान दिया जाता है–

(क) शिक्षा में चिन्तन क्रिया, प्रत्यय, निर्माण, तर्क तथा समाधान का अत्यधिक महत्त्व है। बौद्धिक एवं मानसिक विकास या सीखने की प्रक्रिया को भली-भाँति संचालित करने के लिए इनका विकास करना आवश्यक है।

नोट

(ख) बालक मे सृजनात्मक प्रवृत्ति (creativity) का विकास करना आवश्यक है। शैक्षिक दृष्टि से इस प्रवृत्ति का उपयोग करके रचनात्मक कार्यों के माध्यम से शिक्षा देनी चाहिए।

(ग) विद्यालय में सामूहिक भावना के माध्यम से विद्यार्थियों में अनेक गुणों का विकास किया जा सकता है। इसके लिये विभिन्न समूहों के साथ सामाजिक अन्त:क्रिया (Social Interaction) का होना आवश्यक है। समूह भावना एवं नेतृत्व (Leadership) की शिक्षा के लिये समूह मनोविज्ञान बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(5) मापन और मूल्यांकन सम्बन्धी अध्ययन–इसमें शैक्षिक उपलब्धि एवं विषय-योग्यता का मापन तथा बुद्धि, चरित्र, व्यक्तित्व सम्बन्धी माप के लिये विभिन्न साधनों, विधियों, परीक्षणों और सांख्कीय कार्यों का प्रयोग किया जाता है। सीखने की प्रक्रिया में शिक्षकों की बुद्धि, व्यक्तित्व तथा विभिन्न योग्ताओं का ज्ञान होना आवश्यक है। इन सबकी माप करना शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र में आता है।

(6) शैक्षिक और व्यावसायिक निर्देशन सम्बन्धी अध्ययन–मापन और मूल्यांकन के परिणामों के आधार पर बालक को शिक्षा और व्यवसाय सम्बन्धी निर्देश दिया जाता है।

(7) शिक्षक सम्बन्धी अध्ययन–शिक्षा का एक प्रमुख अंग शिक्षक होता है। सीखने की प्रक्रिया में सीखने की परिस्थिति का निर्माण करने, उसे नियंत्रित एवं नियोजित करने में शिक्षक विशेष रूप से सहायक होता है। शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में शिक्षार्थी तथा शिक्षक के बीच जो अन्त:क्रिया होती है उससे शिक्षण कार्य तथा अधिगम कार्य में सहायता मिलती है। बालक के अधिगम में शिक्षक ही महत्त्वपूर्ण कारक होता है। शिक्षक के व्यक्तित्व में कृतित्व का बालक के विकास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अत: शिक्षा-मनोविज्ञान में शिक्षक के व्यक्तित्व, उसके प्रशिक्षण तथा उसके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य आदि का व्यापक रूप से अध्ययन किया जाता है।

उपर्युक्त विभिन्न बातों से सम्बन्धित अध्ययन शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में व्यापक रूप से आते हैं। यह बात अलग है कि आवश्यकतानुसार शिक्षा-मनोविज्ञान की पुस्तकों में किसी बात पर अधिक बल दिया गया है तो किसी बात पर कम। प्रोफेसर सी. एल. कुण्डू ने निम्नलिखित पाँच प्रमुख अध्ययन विषयों को शिक्षा-मनोविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र माना है–

1. मानव अभिवृद्धि एवं विकास
2. अधिगम
3. व्यक्तित्व एवं समायोजन
4. मापन एवं मूल्यांकन
5. शिक्षा-मनोविज्ञान में तकनीक एवं प्रविधियाँ।

प्रो. कुण्डू के अनुसार, "संक्षेप मे जो कुछ शैक्षिक है अथवा जो कुछ बालक को उसकी कक्षा में व्यवहार को छूता है शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र में आते हैं।" (In short, whatever is educational or whatver touches child in his classroom behaviour comes with the scope of educational psychology.)

अन्त में निष्कर्ष रूप में, स्किनर के शब्दों में कहा जा सकता है– "शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र में वह सब ज्ञान और विधियाँ सम्मिलित हैं जो सीखने की प्रक्रिया को भली प्रकार से समझने और

अधिक कुशलता से निर्देशित करने के लिए आवश्यक हैं।" (Educational Psychology takes for its province all informations and techniques pertinent to a better understanding and a more efficient direction of the learning process.)।

उपर्युक्त विवेचन से शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र की विषय-वस्तु स्पष्ट हो गई है। इस विषय-वस्तु की विस्तृत व्याख्या आवश्यकतानुसार विभिन्न अध्यायों में प्रस्तुत की जा रही है।

नोट

1.10 शिक्षा-मनोविज्ञान की विधियाँ

शिक्षा-मनोविज्ञान की अध्ययन विधियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है–

(1) **आत्मगत या आत्मनिष्ठ विधियाँ (Subjective)**–इस विधि के अन्तर्गत व्यक्ति स्वयं अपने व्यवहार की व्याख्या और विश्लेषण करता है जैसे अन्तदर्शन विधि और गाथावर्णन विधि।

(2) **वस्तुगत या वस्तुनिष्ठ विधियाँ (Objective)**–इस विधि में दूसरों के द्वारा तथ्यों का संग्रह किया जाता है।

इसके अंतर्गत बहुत-सी विधियाँ हैं।

इन दोनों वर्गों की विभिन्न विधियों का उल्लेख नीचे दिया जा रहा है।

शिक्षा-मनोविज्ञान का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत: दोनों की अध्ययन विधियों में समानता है, उनमें अन्तर केवल उपयोग के क्षेत्र का है। शिक्षा-मनोविज्ञान की प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं-

(1) अन्तर्निरीक्षण या अन्तर्दर्शन विधि (Introspective Method)
(2) बाह्य निरीक्षण या बहिर्दर्शन विधि (Observation Method)
(3) प्रयोगात्मक विधि (Experimental Method)
(4) व्यक्ति इतिहास विधि (Case History Method)
(5) गाथा वर्णन विधि (Ancedotal Method)
(6) विकासात्मक विधि (Developmental Method)
(7) तुलनात्मक विधि (Comparative Method)
(8) साक्षात्कार विधि (Interview Method)
(9) प्रश्नावली विधि (Questionnaire Method)
(10) सांख्यिकी विधि (Statistical Method)
(11) उपचारात्मक विधि (Clinical Method)
(12) परीक्षण विधि (Test Method)
(13) मनोविश्लेषण विधि (Psycho-Analytical Method)

उपर्युक्त विधियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

(1) **अन्तर्निरीक्षण या अन्तर्दर्शन विधि (**Introspective Method)–इस विधि का उपयोग प्राचीन समय में अधिक होता था किन्तु आज इस विधि को वैज्ञानिक नहीं माना जाता। इसलिए इसका प्रयोग कम होता है। 'अन्तर्निरीक्षण' का तात्पर्य है 'अपने आप में देखना'

नोट

(To look within or self observation)। इस पद्धति में व्यक्ति स्वयं अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण, विश्लेषण और वर्णन करता है। अन्तर्निरीक्षण में व्यक्ति अपने अनुभवों का स्मरण और अपनी भावनाओं का मूल्यांकन करने का प्रयास करता है। अन्तर्निरीक्षण के माध्यम से ही व्यक्ति अपने अनुभवों को अभिव्यक्त कर सकता है।

स्काउट के अनुसार-"अपनी ही मानसिक क्रियाओं का क्रमबद्ध अध्ययन ही अन्तर्निरीक्षण कहलाता है। वुडवर्थ ने इसे आत्मनिरीक्षण कहा है। व्यक्ति जब अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है तब उसे आत्मनिरीक्षण का सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि मानसिक क्रियाएँ आत्मगत होती हैं इसलिए उनका प्रत्यक्ष ज्ञान इसी विधि से हो सकता है। वह अपनी मानसिक क्रियाओं के निरीक्षण के आधार पर जो सामग्री प्रस्तुत करता है उसे अन्तर्निरीक्षणात्मक सामग्री (data) कहते हैं। अन्तर्निरीक्षण में दो बातें पाई जाती हैं–(1) व्यक्ति अपनी मानसिक क्रियाओं का स्वयं निरीक्षण करता है, तथा (2) उनके सम्बन्ध में वितरण भी प्रस्तुत करता है।

गुण

(i) इस पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि व्यक्ति अपनी मानसिक क्रियाओं और अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करके अपने को समझने में समर्थ हो जाता है। व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं का सीधा (direct) अध्ययन अन्तर्निरीक्षण द्वारा ही सम्भव है। जैसे सुख-दु:ख में किस प्रकार का अनुभव होता है। इसका उत्तर वह अन्तर्निरीक्षण द्वारा दे सकता है।

(ii) इस विधि का प्रयोग किसी भी समय और किसी भी स्थान पर किया जा सकता है। इस पद्धति में किसी प्रयोगशाला, यंत्र व सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती। रॉस (Ross) ने कहा है- "मनोवैज्ञानिक का स्वयं का मष्तिष्क प्रयोगशाला होता है, क्योंकि यह सदैव उनके साथ रहता है, इसलिए वह अपनी इच्छानुसार कभी भी निरीक्षण कर सकता है।"

(iii) इस पद्धति का बार-बार प्रयोग करने से व्यक्ति की विचार शक्ति बढ़ती है। इस विधि से दूसरों की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जा सकता है। मानसिक क्रियाओं के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को जो अनुभव हुए हैं उनका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

(iv) अन्तर्निरीक्षण विधि द्वारा मनोविज्ञान का वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ हुआ। अत: मनोविज्ञान को विज्ञान बनाने में इस विधि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यद्यपि इस विधि का प्रयोग क्षेत्र सीमित है फिर भी इसकी सहायता से अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं का अध्ययन हुआ है। अन्तर्निरीक्षण विधि मनोविज्ञान की एक उपयोगी विधि है।

दोष

(i) मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण असम्भव है क्योंकि वे अस्पष्ट, चंचल तथा अस्थिर होती हैं और उनमें शीघ्रता से परिवर्तन होता रहता है। मानसिक प्रक्रियाओं जैसे संवेग, अनुभूति, विचार आदि को हम स्थिर नहीं रख सकते, क्योंकि ध्यान-केन्द्रित करने का प्रयास करते ही वे मस्तिष्क से दूर चले जाते है। व्यक्ति हर समय एक ही मनोदशा में नहीं रहता है इसलिए उसका ध्यान अन्य बातों की ओर चला जाता है।

नोट

(ii) इस विधि का एक अन्य दोष यह है कि व्यक्ति स्वयं ही निरीक्षक तथा अनुभवकर्त्ता होता है। उसे निरीक्षण और अनुभव दोनों कार्य करने पड़ते हैं। यह कार्य परस्पर विरोधी है, क्योंकि यहाँ निरीक्षण और अनुभवकर्त्ता एक होते हैं। यह उपयुक्त नहीं है। मन के द्वारा मन का निरीक्षण असम्भव है। जैसा कि रॉस (Ross) ने कहा है "दृष्टा और दृश्य दोनों एक ही होते हैं, क्योंकि मन निरीक्षक का स्थान और साधन दोनों होता है।" इसलिए वह सभी अनुभवों का ईमानदारी के साथ निरीक्षण नहीं कर सकता। प्रायः इसमें व्यक्ति अपनी अनुभूतियों को संकोचवश प्रकट नहीं होने देना चाहता। कभी-कभी अधिक ध्यान देने पर भी हमारी मानसिक अनुभूतियाँ ही समाप्त हो जाती हैं। जैसे जब कोई व्यक्ति चिन्तन करता है और अन्तर्निरीक्षण द्वारा उस चिन्तन का अध्ययन करना चाहता है तो उस समय प्रायः ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति की चिन्तन-क्रिया समाप्त हो जाती है।

(iii) इस विधि का प्रयोग सभी प्रकार के प्राणियों पर सम्भव नहीं है। इस विधि द्वारा केवल सामान्य वयस्क व्यक्तियों का ही अध्ययन किया जा सकता है, क्योंकि यह विचार-शक्ति पर निर्भर होती है। छोटे बालकों तथा मानसिक रोगियों पर इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसका प्रयोग केवल सामान्य व्यक्ति पर ही कर सकते हैं।

(iv) इस विधि का एक दोष यह भी है कि हम अपनी सभी अनुभूतियों को भाषा द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकते जैसे प्रायः हम अपने मानसिक या शारीरिक कष्ट को, सुखद या दुःखद अनुभूति को ठीक-ठीक शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर पाते। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह दोष इस विधि का नहीं है बल्कि भाषा का है क्योंकि हम अन्तर्निरीक्षण तो कर ही लेते हैं किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से भाषा की इस सीमा का अन्तर्निरीक्षण पर भी प्रभाव पड़ता है। प्रश्न उठता है कि यदि हम अपनी अन्तर्निरीक्षण की अनुभूति को बता नहीं सकते तो उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कैसे सम्भव होगा। मनोविज्ञान की विधि ऐसी होनी चाहिए जिसकी सहायता से मनोवैज्ञानिक अध्ययन भाषा की त्रुटियाँ रहने पर भी किया जा सके।

(v) इस विधि द्वारा प्राप्त ज्ञान आत्मगत (Subjective) होता है। इससे एक ही व्यक्ति की मानसिक दशा का पता चल सकता है। इससे प्राप्त सामग्री दूसरे व्यक्ति के अन्तर्निरीक्षण से प्राप्त सामग्री से भिन्न होती है। इसलिए न तो उनकी तुलना की जा सकती है और न उनकी सत्यता की जाँच ही की जा सकती है। अतः इस विधि द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर वैज्ञानिक नियम नहीं बनाये जा सकते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस विधि में कई अन्य दोष होने के कारण मनोवैज्ञानिकों ने इसका परित्याग कर दिया है। उन्होंने इन्हीं कठिनाइयों के कारण इस पद्धति को अपूर्ण ठहराया है।

(2) बाह्य-निरीक्षण या बहिर्दर्शन विधि–इस विधि में अध्ययनकर्त्ता व्यक्ति के व्यवहार और क्रियाओं का निरीक्षण अपने पूर्व अनुभवों के आधार पर करता है। इसमें बाह्य रूप से जो कुछ स्पष्ट दिखाई देता है उसका निरीक्षण किया जाता है और उसी के आधार पर उसकी मानसिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। व्यक्ति के व्यवहार, क्रियाओं या प्रतिक्रियाओं का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके उसकी मानसिक अवस्था का पता लगाया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को मुस्कराता देखकर हम जान लेते हैं कि वह प्रसन्न है, आँसू

बहाते देखकर उसे दु:खी समझ लेते हैं। बाह्य-निरीक्षण द्वारा स्वाभाविक परिस्थितियों में होने वाले व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने इस विधि को विशेष महत्त्व दिया है। उन्होंने अनुभूति के स्थान पर व्यवहार को मनोविज्ञान का अध्ययन विषय माना है और अन्तर्निरीक्षण के स्थान पर बाह्य-निरीक्षण को मनोविज्ञान की विधि स्वीकार किया। उनके अनुसार अनुभूति वैयक्तिक और आत्मगत होती है। इसके विपरीत व्यक्ति के बाह्य व्यवहारों का सरलतापूर्वक देखा और समझा जा सकता है। उसके व्यवहार को देखकर मानसिक अवस्था की जानकारी हो जाती है। उनके अनुसार व्यवहारों के अध्ययन के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष अधिक वैज्ञानिक होगा। चूँकि व्यवहार व्यक्ति की शारीरिक क्रियाओं में ही दिखाई देता है, बाह्य-निरीक्षक व्यक्ति की शारीरिक क्रियाओं का निरीक्षण करके उसके आधार पर सामान्य मनोवैज्ञानिक नियमों का प्रतिपादन करता है। निरीक्षण विधि के निम्न सोपान हैं-

(क) दूसरों के व्यवहार का प्रत्यक्ष निरीक्षण करके उनकी मन–स्थिति का पता लगाना–यह विधि का मुख्य तत्व है। इसमें निरीक्षण द्वारा तथ्यों को सावधानीपूर्वक नोट करना आवश्यक होता है।

(ख) व्यवहार की व्याख्या और विश्लेषण करना–इसमें अध्ययनकर्त्ता अपने अन्तर्दर्शन के आधार पर दूसरों के व्यवहार की व्याख्या और विश्लेषण करता है, जैसे किसी व्यक्ति को आँसू बहाते देखकर हम अपने पूर्व अनुभव से उसके दु:खी होने का अनुमान लगा लेते हैं।

1.11 प्रयोगात्मक विधि

प्रयोगात्मक विधि प्राकृतिक विज्ञान की देन है जिसके द्वारा कार्य-कारण (Cause and Effect relationship) संबंध का अध्ययन श्रेष्ठ ढंग से किया जाता है। आधुनिक समाज मनोविज्ञान में इस विधि का उपयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इस विधि में सामाजिक व्यवहार का अध्ययन प्रयोगशाला से अलग वास्तविक परिस्थितियों में भी किया जाता है। इन्हें क्षेत्र प्रयोग (Field Experiment) कहते हैं। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

1. **रैथस** (Rathus)–"प्रयोग, वैज्ञानिक जाँच की एक विधि है जिसमें स्वतंत्र चर को प्रयुक्त करके आश्रित चर पर उसके प्रभाव का निरीक्षण करके कारण-प्रभाव संबंध की खोज की जाती है।" (Experiment is a method of scientific investigation that seeks to discover cause and effect relationships by introducing independent variables and observing their effects on dependent variables.)।
2. **गैरेट** (Garrett)–"नियंत्रित दशाओं में प्रेक्षण ही प्रयोग है।" (Experiment is observation under controlled conditions)
3. **टाउनसैंड** (Townsend)–"नियंत्रण के अभाव में किया गया प्रयोग व्यर्थ है।" (No experiement is better than its poorest control.)
4. **जहोदा** (Jahoda)–"प्रयोग, परिकल्पना के परीक्षण की विधि है।" (Experiments is a method of testing hypotheses.)
5. **फेस्टिगर** (Festiger)–"प्रयोग का मूल आधार स्वतंत्र चर में परिवर्तन करने से परतंत्र चर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना है।" (The essence of an experiment may be

described as oberving the effect on a dependent variable of the manipulation of an independent variable.)

6. **चैपलिन** (Chaplin)–"प्रयोग, निरीक्षणों की एकशृंखला है जो किसी परिकल्पना की जाँच के लिए नियंत्रित परिस्थिति में किया जाता है।" (Experiment is a series of obervations carried out under controlled conditions for testing the hypothesis.)

नोट

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रयोगात्मक विधि वह विधि है जिसमें योजनानुसार चरों को घटा-बढ़ा कर नियंत्रित दशाओं में अध्ययन किया जाता है। इस विधि में कार्य को आश्रित चर (Dependent Variable) तथा कारण को स्वतंत्र चर (Independent Variable) कहते हैं।

किसी भी व्यवहार को प्रभावित करने वाले अनेक कारक होते हैं। अध्ययनकर्त्ता इन कारकों में से कुछ को अध्ययन के लिए चुन लेता है तथा शेष कारकों को नियंत्रित करके चुने हुए कारकों का व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। चुने हुए कारक स्वतंत्र चर कहलाते हैं तथा नियंत्रित किये गये कारक बाधक चर (Intervening Variables) कहलाते हैं। प्रयोग करते समय स्वतंत्र चर को घटा बढ़ा कर (Manipulation) कार्य पर पड़ने वाले प्रभावों को नोट कर लिया जाता है। अन्त में, प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण कर परिकल्पना की जाँच की जाती है। प्रयोगात्मक अध्ययन में कम से कम दो अध्ययन समूह होते हैं जिनमें से एक को नियत्रित समूह (Controlled Group) तथा दूसरे को **प्रयोगात्मक समूह** (Experimental Group) कहते हैं।

प्रयोग की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. इसमें परिस्थिति का प्रत्यक्ष अवलोकन किया जाता है।
2. इसमें प्रायोगिक अवस्थाओं का नियंत्रण रहता है।
3. इसमें कारण-प्रभाव संबंध (ब्नेम.र्मिमिबज तमसंजपवदींपच) का अध्ययन किया जाता है।
4. इसके द्वारा परिकल्पना की पुष्टि की जाती है।
5. इसमें स्वतंत्र चर का आश्रित चर पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।
6. नियंत्रित परिस्थितियों में किसी कारक के प्रभाव का निरीक्षण प्रयोग कहलाता है।
7. इसमें बाह्य कारकों पर नियंत्रण करके प्रयोगात्मक चर के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।
8. प्रयोग की मुख्य विशेषताएँ–नियंत्रित परिस्थिति का उपयोग, प्रभावों का निरीक्षण तथा प्रभावों का शुद्ध मापन होती हैं।

प्रयोगात्मक विधि के सोपान

प्रयोगात्मक विधि के प्रमुख सोपान इस प्रकार हैं–

1. **समस्या** (Problem)–इसके अन्तर्गत अध्ययनकर्त्ता किसी न किसी समस्या का चयन करता है। इस कार्य में वह पहले किये गये कार्यों, सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन, वर्तमान कार्यों का अध्ययन, विशेषज्ञों से विचार विमर्श आदि से सहायता ले सकता है। कभी-कभी वह स्वयं ही शिक्षा की ज्वलन्त समस्याओं को चुन लेता है।
2. **सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन** (Review of Related Literature)–लिटरेचर रिव्यू करके वह यह जानना चाहता है कि समस्या पर किन विद्वानों ने कितने और क्या परिणाम प्राप्त किये हैं तथा यह अध्ययन कब किये गये हैं।

नोट

3. **उपकल्पना का निर्माण** (Formulation of Hypothesis)–लिटरेचर रिव्यू के आधार पर वह उपकल्पना का निर्माण करता है। उपकल्पना बना लेने से समस्या सुनिश्चित (Pin-pointed) हो जाती है।
4. **चर** (Variables)–इसके अन्तर्गत शोधकर्त्ता यह निश्चय करता है कि उसे कितने चर लेने हैं तथा मध्यवर्ती (बाधक) चरों की किस प्रकार पहचान करनी है तथा उन्हें नियंत्रित करना है।
5. **न्यादर्श** (Sample)–इसके अन्तर्गत यह निश्चय किया जाता है कि अध्ययन समूह किन लोगों का तथा कितना बड़ा होगा। न्यादर्श चयन कुछ विशेष विधियों द्वारा किया जाता है।
6. **उपकरण तथा सामग्री** (Tools and Material)–यह निश्चित किया जाता है कि आँकड़ों को एकत्रित करने के लिए किस प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता होगी। कभी-कभी उसे स्वयं भी ज्ववस विकसित करने पड़ जाते हैं।
7. **चरों का नियंत्रण** (Control of Variables)–इससे अन्तर्गत शोधकर्त्ता मध्यवर्ती चरों को नियंत्रित करके शुद्ध आँकड़े प्राप्त करता है।
8. **विधि** (Procedure)–इसके अन्तर्गत शोधकर्त्ता अपने प्रयोग की सम्पूर्ण योजना का संक्षिप्त वर्णन संकलित करता है।
9. **परिणाम** (Result)–प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण करके निष्कर्ष प्राप्त किये जाते हैं तथा उपकल्पना की जाँच की जाती है।
10. **व्याख्या तथा सामान्यीकरण** (Discussion and Generalization)–प्राप्त परिणामों की व्याख्या करके प्रयोगकर्त्ता अपने परिणामों की तुलना दूसरे मनोवैज्ञानिकों के परिणामों से करते हैं। अन्त में, सांख्यिकीय विधियों के आधार पर वह अपने परिणामों का सामान्यीकरण करता है।

प्रयोगशालयी प्रयोग एवं क्षेत्र प्रयोग में अंतर

प्रयोगशालयी प्रयोगों में यह देखा गया है कि प्रयोज्य को यह ज्ञात हो जाता है कि उन पर प्रयोग किया जा रहा है तो उनका व्यवहार स्वाभाविक नहीं रह पाता। साथ ही, प्रयोगशाला की कृत्रिम परिस्थिति के कारण परिणाम भी शुद्ध प्राप्त नहीं होते हैं। इन्हीं सीमाओं के कारण क्षेत्र प्रयोगों का विकास हुआ है। इसका अर्थ नहीं है कि क्षेत्र प्रयोग दोषमुक्त होते हैं। क्षेत्र प्रयोगों की सबसे बड़ी सीमा यह है कि इनमें चरों का नियंत्रण व प्रहस्तन (Manipulation) प्रयोगशालयी प्रयोगों की अपेक्षा कठिन होता है।

प्रयोगात्मक विधि के लाभ (Advantages)–इस विधि के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

1. कार्य-कारण संबंधों का अध्ययन अधिक शुद्धता से किया जाता है।
2. यह विधि अन्य विधियों की तुलना में शुद्ध एवं संक्षिप्त है।
3. यह विधि उपकल्पना के परीक्षण की श्रेष्ठ विधि है।
4. यह विधि अन्य विधियों की अपेक्षा सर्वाधिक वैज्ञानिक विधि है।
5. इस विधि द्वारा प्राप्त परिणाम वस्तुनिष्ठ, विश्वसनीय, वैध, सार्वभौमिक होते हैं।
6. इस विधि द्वारा यथार्थ निरीक्षण करके सही आँकड़े और तथ्य एकत्रित किये जा सकते हैं।

7. इस पद्धति द्वारा प्राप्त निष्कर्षों की उन्हीं परिस्थितियों में पुनः जाँच की जा सकती है।
8. यह पद्धति S-O-R के बीच संबंध स्थापित करने में सहायक होती है।
9. इस पद्धति की सहायता से शिक्षा संबंधी अनेक प्रकार की समस्याओं को सुलझाया जा सकता है।
10. इसमें प्रयोगकर्त्ता सदैव सक्रिय रहता है।

नोट

दोष (De-merits)–इस विधि में कुछ दोष भी हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. शुद्ध प्रयोग करना सम्भव नहीं।
2. स्वतंत्र चर का घटाना-बढ़ाना या प्रहस्तन एक कठिन कार्य है।
3. क्षेत्र अध्ययनों में प्रयोगात्मक विधि का प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता।
4. प्रयोग करते समय प्रयोज्य से सहयोग नहीं मिलता।
5. इस विधि का प्रयोग व्यवहार के विभिन्न रूपों के अध्ययन में नहीं किया जा सकता।
6. यह पद्धति अन्य पद्धतियों की तुलना में कहीं अधिक खर्चीली है।
7. इस पद्धति में प्रयोज्य के व्यवहार में कृत्रिमता आ जाती है।
8. इस पद्धति द्वारा सभी प्रकार की घटनाओं का अध्ययन करना सम्भव प्रतीत नहीं होता।
9. इस पद्धति को एक स्वतंत्र पद्धति न मानकर इसे अनेक पद्धतियों का समन्वित रूप माना जाता है।
10. इस विधि में प्रशिक्षित व्यक्तियों का होना आवश्यक है।

निष्कर्ष (Conclusion)– इस पद्धति के द्वारा प्राप्त परिणाम अन्य पद्धतियों से प्राप्त परिणामों की अपेक्षा अधिक सत्य, विश्वसनीय तथा वैज्ञानिक होते हैं। इसके निष्कर्षों को सत्यापित किया जा सकता है तथा उनके आधार पर नियम या सिद्धांत भी बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार, यह एक वैज्ञानिक पद्धति है। अतः उपरोक्त दोषों के होते हुए भी इस पद्धति को अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अनुसंधान की सबसे अच्छी पद्धति माना है।

1.12 जीवन-इतिहास विधि

व्यक्ति इतिहास विधि (Case History Method) का विकास ईसा से लगभग 400 वर्ष पूर्व समस्यात्मक बालकों का अध्ययन करने के लिए किया गया था। इस विधि का प्रयोग भी व्यक्ति से संबंधित सूचनाएँ एकत्रित करने के लिए किया जाता है। इस विधि का सुव्यवस्थित रूप 10वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में स्थापित हुआ। कानून के क्षेत्र में इस विधि का अत्यधिक प्रयोग हुआ। इसके बाद इस विधि का प्रयोग चिकित्सा, मनोविज्ञान एवं शिक्षा के क्षेत्र में भी किया जाने लगा। शिक्षा के क्षेत्र में इस विधि का प्रादुर्भाव अत्यन्त पुराना नहीं है। अब तक अध्यापक अपना प्रमुख कार्य अध्यापन को ही मानता था, छात्र में व्यक्तिगत रुचि लेना वह आवश्यक नहीं समझता था। लेकिन अब शिक्षा के क्षेत्र में निर्देशन, व्यक्तिगत विभिन्नता, मानसिक स्वास्थ्य आदि की महत्ता के कारण प्रत्येक छात्र को समझना आवश्यक हो गया है। व्यक्ति इतिहास विधि द्वारा किसी एक व्यक्ति की विशेषताओं, व्यवहार एवं उसके मानसिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। एक प्रकार से व्यक्ति इतिहास विधि, व्यक्ति से संबंधित समस्त उपलब्ध तथ्यों का संग्रह मात्र है।

व्यक्ति इतिहास विधि एक प्रकार का व्यक्ति का इतिहास होता है। व्यक्तित्व के मापन में यह भी एक विधि के रूप में स्वीकार की गई है। जब हम किसी व्यक्ति के संबंध में उसके जीवन

इतिहास उसकी घरेलू पृष्ठ भूमि, रुचियों, आवश्यकताओं, उसके कार्य-कलापों, स्वास्थ्य संबंधी जानकारी प्राप्त करने के लिए उसके मित्रों, पारिवारिक सदस्यों तथा अन्य संबंधित व्यक्तियों से मिलकर सूचनाएँ एकत्रित करते हैं तो यह सब व्यक्ति इतिहास (Case-study) के अंतर्गत आता है। इसके द्वारा व्यक्ति का एक सामान्य परिचय हमें प्राप्त हो जाता है। यह भी मूल्यांकन की एक प्रभावी विधि है, परन्तु इसकी विश्वसनीयता बहुत अधिक नहीं मानी गई है, क्योंकि इसमें सूचनाओं के स्रोत ऐसे होते हैं जो कभी-कभी ठीक प्रकार से सूचनाएँ नहीं दे पाते हैं। व्यक्ति इतिहास का उद्देश्य समायोजन समस्याओं (Adjustment-Problems) का पता लगाना होता है। यह पद्धति मानसिक अस्पतालों (Mental Hospitals) में अधिक उपयोगी होती है। इस प्रकार के व्यक्ति इतिहास में अध्यापक संचयी आलेख पत्र (Cumulative Record Cards) का भी प्रयोग कर सकता है। कभी-कभी मनोवैज्ञानिक यह जानने की कोशिश करता है कि विद्यार्थी के बारे में अध्यापक से उसे कुछ एकत्रित तथ्य मिल जायें। मनोवैज्ञानिक या कोई सामाजिक कार्यकर्त्ता व्यक्ति इतिहास में प्रायः निम्न बातों को जानने की कोशिश करता है, जैसे–नाम, पता, घरेलू पृष्ठभूमि, व्यवसाय, वैवाहिक संबंध, व्यक्तित्व के गुण आदि। यद्यपि व्यक्ति इतिहास को रोग का निदान अथवा चिकित्सा का आधार नहीं बनाया जा सकता, फिर भी, इससे पर्याप्त मात्रा में सहायता जरूर मिलती है। इस विधि का प्रयोग प्रायः असाधारण व्यक्तियों अथवा बालकों को समझने के लिए किया जाता है।

क्रो और क्रो (Crow & Crow) ने लिखा है- "व्यक्ति-इतिहास विधि का मुख्य उद्देश्य किसी कारण का निदान करना है।" (The purpose of case history is predominantly diagnostic.') इस विधि के निम्नलिखित गुण-दोष हैं-

गुण

(i) इस विधि का उपचारात्मक शिक्षण में प्रयोग किया जा सकता है। मन्द-बुद्धि, पिछड़े बालक तथा मानसिक विकारग्रस्त बालकों के अध्ययन एवं उपचार करने में यह विधि सहायक होती है।

(ii) व्यापक ढंग से विभिन्न स्रोतों से तथ्य संचय किये जाते हैं। इसलिए निष्कर्ष पर विश्वास किया जा सकता है।

दोष

(i) इस विधि का प्रयोग करने के लिये चिकित्सालय (Clinic) विशेषज्ञ की जरूरत पड़ती है अतः यह विधि व्ययशील भी है।

(ii) इस विधि में समय, धन और श्रम अधिक लगता है। इसलिए हमारे देश में इस विधि का प्रयोग करने में कठिनाई उपस्थित होती है।

1.13 सारांश

प्राचीन दार्शनिकों, जिनमें अरस्तू तथा प्लेटो का नाम अधिक मशहूर हैं, मनोविज्ञान को आत्मा के बारे में अध्ययन करनेवाला विषय माना था। फलतः मनोविज्ञान मन के अध्ययन का विज्ञान माना गया। मनोविज्ञान की यह परिभाषा करीब-करीब 1870 ई॰ तक सर्वमान्य रही और मनोविज्ञान जो उस समय दर्शनशास्त्र की एक शाखा था, की विषय-वस्तु मन बनी रही। 1879 ई॰ में जब **विलियम वुण्ट** (Wilhelm Wundt) ने जर्मनी के लिपजिग विश्वविद्यालय (अब इसका नाम कार्ल मार्क्स

विश्वविद्यालय कर दिया गया है) में मनोविज्ञान की सबसे पहली प्रयोगशाला स्थापित की, उस समय से मनोविज्ञान का संबंध दर्शनशास्त्र से धीरे-धीरे कम होता गया और इसका स्वरूप प्रयोगात्मक अधिक होता गया। फलस्वरूप मनोविज्ञान की विषय-वस्तु मन या आत्मा से हटकर मानसिक क्रियाएँ (Mental Activities) या चेतन अनुभूति हो गई।

नोट

मनोविज्ञानिकों ने गहन अध्ययन करके देखा कि मनुष्य के व्यवहार में चेतना (Consciousness) का प्रभाव रहता है। अत: मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान (Science of Consciousness) मान लिया गया, परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने पाया कि व्यक्ति सभी व्यवहार चेतना के वशीभूत होकर नहीं करता, वह **अचेतन** (Unconsciousness) से भी व्यवहार करता है। वास्तव में मनोविज्ञान मानव व्यवहार का विज्ञान है। इसे पदार्थ विज्ञान (Material Science) नहीं माना जा सकता। इसे प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) भी कहा जा सकता है। मनोविज्ञान (Psychology) और पदार्थ विज्ञान (Material Science) में एक विशेष और मौलिक अन्तर है। पदार्थ विज्ञान में पदार्थ पर सभी प्रकार का नियंत्रण (Control) रखा जा सकता है, और प्रयोगशाला में मनोवांछित परीक्षण करके सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसके विपरीत मनोविज्ञान में पदार्थ के स्थान पर एक ऐसा मनुष्य विषय (Subject) होता है जिस पर पदार्थ की भाँति नियंत्रण नहीं रखा जा सकता। शिक्षा और मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस विषय पर पूर्व अध्यायों में प्रकाश डाला गया है। मनोविज्ञान द्वारा हमें मानव-मस्तिष्क का ज्ञान होता है, अत: शिक्षा से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होना अनिवार्य है।

बीसवीं शताब्दी में मनोवैज्ञानिकों ने जो प्रयोग किए, उसमें उन्होंने प्राणी के व्यवहार की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है। इसलिए मनोविज्ञान में विभिन्न मत के सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। शिक्षा-मनोविज्ञान का प्रमुख उद्देश्य बालक के सर्वांगीण विकास में सहायता प्रदान करना है। मनोविज्ञान के सम्प्रदाय मानव मन को अपने-अपने दृष्टिकोण से समझने का प्रत्यत्न करते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय ने मानसिक समस्याओं का गहन अध्ययन किया है। कुछ सम्प्रदायों ने शिक्षा के क्षेत्र में सीखने की प्रक्रिया, बौद्धिक विकास और व्यक्तित्व-विकास आदि से सम्बन्धित विषयों का अन्वेषण कर शिक्षा प्रक्रिया को प्रभावित किया है।

मनोविज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जिसका सम्बन्ध व्यावहारिक परिवर्तनों के अध्ययन से है। शिक्षा द्वारा मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और मनोविज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जो मानव-व्यवहार के सभी रूपों का अध्ययन करता है। इस दृष्टि से शिक्षा और मनोविज्ञान दोनों ही मानव व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित हैं। चूँकि मनोविज्ञान के विभिन्न सिद्धांन्तों और नियमों का प्रयोग शैक्षिक परिस्थितियों में किया जाता है इसलिए शिक्षा-मनोविज्ञान को व्यावहारिक मनोविज्ञान भी कहते हैं। अध्ययन–पद्धति के दृष्टिकोण से मनोविज्ञान की भाँति शिक्षा–मनोविज्ञान की प्रकृति को वैज्ञानिक कहा जाता है। शिक्षा–मनोविज्ञान शिक्षा की विभिन्न समस्याओं के समाधान में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके निष्कर्षों के आधार पर सामान्य नियम का प्रतिपादन करता है और शैक्षिक परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार तथा सीखने से सम्बन्धित विषय में भविष्यवाणी करता है। शिक्षा में परिस्थिति एवं वातावरण का अत्यधिक महत्त्व है। शिक्षा के लिए शैक्षिक परिस्थिति का निर्माण नियोजित रूप से किया जाता है। यदि उचित वातावरण नहीं होता है तो शैक्षिक प्रयास सफल नहीं हो पाते। मनोविज्ञान में वातावरण का भी अध्ययन किया जाता है क्योंकि व्यवहार का जन्म देने वाले तत्व वातावरण में निहित होते हैं। अत: शिक्षा-मनोविज्ञान में शिक्षक के व्यक्तित्व, उसके प्रशिक्षण तथा उसकी शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य आदि का व्यापक रूप से अध्ययन किया जाता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार का तथा विभिन्न समस्याओं का अध्ययन शैक्षिक परिस्थितियों में करता है। यह अध्ययन एक विधि से किया जाता है। विधि का अर्थ उस प्रणाली या तरीके से है जिसकी सहायता से व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन, विश्लेषण और व्याख्या करके एक निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। अब शिक्षा-मनोविज्ञान को भी विज्ञान की कोटि में रखा जाने लगा है, क्योंकि इसने कल्पना, अनुमान तथा अन्धविश्वास को त्याग करके अपने कार्यों के लिए वैज्ञानिक विधि को अपनाया है। शिक्षा-मनोविज्ञान की अध्ययन विधियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है–(1) आत्मगत या आत्मनिष्ठ विधियाँ (Subjective)–इस विधि के अन्तर्गत व्यक्ति स्वयं अपने व्यवहार की व्याख्या और विश्लेषण करता है जैसे अन्तदर्शन विधि और गाथावर्णन विधि। (2) वस्तुगत या वस्तुनिष्ठ विधियाँ (Objective)– इस विधि में दूसरों के द्वारा तथ्यों का संग्रह किया जाता है। इसके अंतर्गत बहुत-सी विधियाँ हैं।

1.14 अभ्यास-प्रश्न

1. मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान से किस रूप में भिन्न है। समझाइए।
2. संरचनावाद क्या है? यह प्रकार्यवाद से किस रूप में भिन्न है?
3. मनोविज्ञान के अध्ययन क्षेत्र के अंतर्गत व्यवहारवाद का विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए।
4. फ्रायड के सिद्धांत 'मनोविश्लेषणवाद' पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।
5. 'क्षेत्र सिद्धांत' पर एक टिप्पणी लिखिए।
6. शिक्षा-मनोविज्ञान से आप क्या समझते हैं?
7. शिक्षा-मनोविज्ञान के विषय-क्षेत्र पर प्रकाश डालिए।
8. 'शिक्षा-मनोविज्ञान एक स्वतंत्र अनुशासन है'–इस पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
9. शिक्षा-मनोविज्ञान की अध्ययन पद्धतियों का उल्लेख कीजिए।
10. शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन की अंतर्निरीक्षण विधि क्या है? इसके गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।
11. शिक्षा-मनोविज्ञान की जीवन-इतिहास पद्धति से आप क्या समझते हैं?

1.15 संदर्भ पुस्तकें

- मनोविज्ञान–डॉ. सरयू प्रसाद, आगरा बुक स्टोर, आगरा।
- मनोविज्ञान–मानव व्यवहार का अध्ययन–ब्रजकुमार मिश्र, पी.एच.आई. लर्निंग, नई दिल्ली।
- शिक्षा मनोविज्ञान–एस.के. मंगल, पी.एच.आई. लर्निंग प्रा. लि., नई दिल्ली।
- अधिगमकर्त्ता का विकास एवं शिक्षण अधिगम प्रक्रिया–ए. के. वर्मा, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली।

अध्याय-2

मानव विकास

नोट

(Structure)

2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 अभिवृद्धि और विकास का अर्थ
2.4 परिपक्वता
2.5 विकास के सिद्धान्त
2.6 शैशवावस्था का महत्त्व
2.7 विकास की अवस्थाएँ: बाल्यावस्था
2.8 विकास की अवस्थाएँ: किशोरावस्था
2.9 संज्ञानात्मक विकास का अर्थ
2.10 प्याजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त
2.11 संक्रियात्मक अवस्था
2.12 औपचारिक संक्रिया की अवस्था
2.13 वायगास्की का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त
2.14 जेरोम ब्रूनर का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त
2.15 प्रतिनिधित्व
2.16 संवेगात्मक विकास
2.17 संवेगों की विशेषताएँ
2.18 बच्चों के संवेगों की विशेषताएं
2.19 बच्चों के सामान्य संवेगात्मक ढंग
2.20 किशोर के सामान्य संवेगात्मक ढंग
2.21 संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
2.22 संवेगात्मक विकास का शैक्षिक निहितार्थ
2.23 सामाजिक विकास का अर्थ
2.24 सामाजिक प्रौढ़ता तथा अप्रौढ़ता
2.25 शैष्ठवस्था में सामाजिक विकास
2.26 बाल्यावस्था में सामाजिक विकास
2.27 किशोरावस्था में सामाजिक विकास

2.28 वयस्क अवस्था
2.29 सामाजिक विकास के मूल आधार
2.30 बालक के सामाजिक विकास की प्रमुख कसौटियां
2.31 सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
2.32 सामाजिक विकास का शैक्षिक महत्व
2.33 सारांश
2.34 अभ्यास प्रश्न
2.35 संदर्भ पुस्तकें

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- अभिवृद्धि और उसके विकास के अर्थ को समझने में।
- शैशवावस्था के महत्त्व को समझने में;
- संज्ञानात्मक विकास का अर्थ समझ सकेंगे व जो मानसिक क्रियायें इनसे जुड़ी हैं, उसकी विवेचना कर सकेंगे;
- संज्ञानात्मक विकास में प्याजे के द्वारा किये गये कार्यों की महत्ता की विवेचना कर सकेंगे;
- संवेगात्मक विकास का अर्थ समझ सकेंगे;
- संवेगों की सामान्य विशेषताएँ समझ सकेंगे तथा बच्चों में पाये जाने वाले संवेगों की विशेषताएं जान सकेंगे;
- सामाजिक विकास को परिभाषित कर सकेंगे;
- सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं से परिचित हो सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

बालक के विकास की प्रक्रिया जन्म पूर्व जब वह माता के गर्भ में आता है तभी से आरम्भ हो जाती है और जन्म के बाद शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था तथा क्रमशः चलती रहती है। इस प्रकार वह विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है जिनमें उसका विकास होता है। मनोवैज्ञानिक **हरलॉक** (Hurlock) का कथन है-"विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में नवीन विशेषताएँ और नवीन योग्यताएँ प्रकट होती हैं।" (Development results in new characteristics and new abilities.) विकास एक बहुमुखी प्रक्रिया है। इसमें बहुत-सी बातों का समावेश होता है। शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन में बालक का केवल बौद्धिक पक्ष ही नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए शारीरिक, मानसिक सामाजिक तथा संवेगात्मक अवस्थाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। विकास के ये सभी पक्ष परस्पर सम्बन्धित हैं। बाल विकास का वर्णन करते समय विकास का अर्थ, स्वरूप, सिद्धान्त तथा विकास के विभिन्न पक्षों पर संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक समीचीन होगा।

मानव एक विकासशील प्राणी के रूप में जन्म लेता है और जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक उसका विकास होता रहता है। बालक जब इस संसार में प्रवेश करता है तब तक उसका शारीरिक

और मानसिक विकास नहीं हो पाता है। शिक्षा-मनोविज्ञान में विकसित होते हुए बालक का अध्ययन किया जाता है। शिक्षा-मनोविज्ञान की दृष्टि से बाल-विकास को विभिन्न अवस्थाओं में विभाजित करके, प्रत्येक अवस्था का अलग-अलग अध्ययन करना आवश्यक समझा गया है।

नोट

पिछली इकाई में शारीरिक विकास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया गया है। इस इकाई में संज्ञानात्मक विकास के पक्षों का अध्ययन किया जायेगा। मनुष्य के विकास में संज्ञानात्मक विकास की उपयोगिता अत्यन्त है। समस्त प्रकार की मानसिक प्रक्रियायें, संज्ञानात्मक विकास के अन्तर्गत आती है। शिक्षा मनोवैज्ञानिकों का मत है कि एक शिक्षक के लिये संज्ञानात्मक विकास का ज्ञान होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तभी वह विद्यार्थियों को ठीक प्रकार से समझ पाता है। संज्ञानात्मक विकास बालकों में होने वाले बौद्धिक विकास को इंगित करता है। इस इकाई का अध्ययन करके आप संज्ञानात्मक विकास के बहुआयामीय पक्षों को समक्ष सकेंगे।

2.3 अभिवृद्धि और विकास का अर्थ

व्यक्ति के स्वाभाविक विकास को **अभिवृद्धि** (Growth) कहते हैं। गर्भाशय में भ्रूण बनने के पश्चात् जन्म के समय तक उसमें जो प्रगतिशील परिवर्तन होते हैं वह अभिवृद्धि है। इसके अतिरिक्त जन्मोपरान्त से प्रौढ़ावस्था तक व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से होने वाले परिवर्तन, जो अधिगम अथवा प्रशिक्षण आदि से नहीं प्रभावित होते और ऊर्ध्ववर्ती होते हैं, भी अभिवृद्धि है। अभिवृद्धि का स्वरूप विकास के समान है किन्तु दोनों विचार में अन्तर निहित है। विकास में अधिगम एवं वातावरण द्वारा अर्जित गुण सम्मिलित होते हैं, किन्तु अभिवृद्धि में इनका स्थान नगण्य हो सकता है। उदाहरणार्थ दाँत निकलना अभिवृद्धि का द्योतक है इसमें अर्जित गुणों का कोई स्थान नहीं। अभिवृद्धि की एक दिशा और सीमा होती है।

शिक्षा-मनोविज्ञान शैक्षिक परिस्थितियों में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है और उसका लक्ष्य बालक के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन करना है। अत: शिक्षक को बालक की अभिवृद्धि एवं विकास के विषय में तथा इनके परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों को जानना भी आवश्यक है। प्राय: अभिवृद्धि और विकास को एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है और दोनों शब्द बढ़ने की दिशा की ओर संकेत करते हैं। किन्तु मनोवैज्ञानिकों ने इन दोनों शब्दों में कुछ अन्तर बताया है। अत: अभिवृद्धि और विकास में अन्तर समझने के लिए दोनों शब्दों का अर्थ समझ लेना चाहिए। सामान्य रूप से अभिवृद्धि का अर्थ शरीर और उसके अंगों के आकार, भार, ऊँचाई में वृद्धि से होता है।

विकास का अर्थ अधिक व्यापक है। जब शैशव से बाल्य और किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते हाथ तथा अन्य अंगों के आकार में परिवर्तन अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई में वृद्धि दिखाई देती है, तब हम कहते हैं कि बालक का शरीर बढ़ रहा है। इससे स्पष्ट है कि अभिवृद्धि को मापा या तौला जा सकता है। प्राय: हमें यह भी दिखाई देता है कि बालक के हाथ-पैरों के आकार में वृद्धि हो जाने पर भी उसी अनुपात में उसकी कार्य-क्षमता या कार्य-कुशलता में प्रगति नहीं होती, तब हम यह कहते हैं– अभिवृद्धि हो गई है किन्तु उसका विकास नहीं हुआ। विकास अवयवों की कार्य-क्षमता की ओर संकेत करता है। जैसा कि बताया जा चुका है कि अभिवृद्धि का मापन किया जा सकता है, किन्तु विकास व्यक्ति की क्रियाओं में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों में दिखाई देता है। अत: विकास शरीर के गुणात्मक परिवर्तनों का नाम है, जिसके कारण व्यक्ति की कार्य-क्षमता, कार्य कुशलता और व्यवहार में प्रगति या अवनति होती है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में विकास का अर्थ केवल अभिवृद्धि (Growth) अर्थात् शारीरिक आकार और अंगों में परिवर्तन होना ही नहीं है, विकास का तात्पर्य व्यक्ति में नई-नई विशेषताओं और क्षमताओं का विकसित होना है जो कि प्रारम्भिक जीवन से आरम्भ होकर क्रमशः परिपक्व अवस्था (Maturity) तक चलती रहती है। हरलॉक के शब्दों में, "विकास अभिवृद्धि तक ही सीमित नहीं है, इसके बजाय, इसमें प्रौढ़ावस्था के लक्ष्य की ओर परिवर्तनों का प्रगतिशील क्रम निहित रहता है। विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति में नवीन विशेषताएँ और नवीन योग्यताएँ प्रकट होती हैं।" (Development is not limited to growing larger. Instead, it consists of a progressiveseries of changes towards the goal of maturity. ''Development results in new characteristics and new abilities on the part of the individual.)

हरलॉक की इस परिभाषा के अनुसार तीन बातें स्पष्ट होती है-

(1) विकास परिवर्तन की ओर संकेत करता है।

(2) विकास में एक निश्चित क्रम होता है।

(3) विकास की एक निश्चित दिशा और लक्ष्य होता है।

हरलॉक के कथानानुसार विकास की प्रक्रिया जीवन-पर्यन्त एक क्रम से चलती रहती है तथा प्रत्येक अवस्था का प्रभाव विकास की दूसरी अवस्था पर पड़ता रहता है।

गेसेल (Gesell) ने भी विकास का अर्थ इस प्रकार दिया है- "विकास केवल एक प्रत्यय (विचार) ही नहीं है, इसे देखा, जाँचा और किसी सीमा तक तीन विभिन्न दिशाओं शरीर अंग विश्लेषण, शरीर ज्ञान तथा व्यवहार में मापा जा सकता है।..... इन सब में व्यवहार ही सबसे अधिक विकासात्मक स्तर तथा विकासात्मक शक्तियों को व्यक्त करने का माध्यम है।" (Development is more than a concept. It can be observed, appraised, and tosome extent even 'measured' in the three major manifestations- (a) anatomic, (b) physiologic, (c¼ Behavioral..... behavioursigns, however, constitute a most comprehensive inex of developmentalstatus and development potentials.)

मेरीडिथ (Meredith) का विचार है– 'कुछ लेखक अभिवृद्धि का प्रयोग केवल आकार की वृद्धि के अर्थ में करते हैं और कुछ विकास का भेदीकरण या विशिष्टीकरण के अर्थ में।" (Some writers reserve the use of 'growth' to designate increments insize and of 'development' of mean differentiation.)

यहाँ हम विकास और अभिवृद्धि को एक ही अर्थ में प्रयोग करेंगे। विकास और अभिवृद्धि से तात्पर्य गर्भावस्था से लेकर जीवन-पर्यन्त तक की स्थिति से है। गर्भावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक जिन परिवर्तनों से व्यक्ति गुजरता है सब विकास के अन्तर्गत आते हैं। अभिवृद्धि और विकास के साथ व्यक्ति में परिपक्वता आती है। परिपक्वता का अर्थ है अभिवृद्धि और विकास को प्राप्त करना। परिपक्वता अभिवृद्धि और विकास में परस्पर निकट सम्बन्ध है। परिपक्वता, अभिवृद्धि एवं विकास का अर्थ आगे स्पष्ट किया गया है।

2.4 परिपक्वता

व्यक्ति के विकास का क्रम गर्भावस्था में भ्रूण निर्माण के साथ प्रारम्भ हो जाता है और जीवन के प्रारम्भिक भाग में बहुत तीव्र गति से प्रगतिशील रहता है। गर्भावस्था में बच्चा एक निश्चित सीमा

नोट

तक परिपक्व होकर जन्म लेता है। जन्म के पश्चात् वह विकसित होता हुआ परिपक्वता को ही प्राप्त करता है। विकास में क्रमबद्ध रूप से परिवर्तन होता है जो परिपक्वता की ओर निर्देशित रहता है। परिपक्वता की एक स्थिति प्राणी को सामान्य रूप से विकसित होने में सहायक होती है। जन्म के पूर्व प्राणी के विकास पर अधिकांशत: परिपक्वता का ही प्रभाव पड़ता है। अभिवृद्धि एवं विकास का प्रत्येक क्रम एक प्रकार से परिपक्वता पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ जब बालक की माँसपेशियाँ और हड्डियाँ चल पाने की आवश्यकता के अनुसार परिपक्व हो जाती हैं तो वह पैरों के बल चलने में समर्थ हो पाता है। इस प्रकार परिपक्वता अभिवृद्धि एवं विकास को गति प्रदान करती है। अभिवृद्धि एवं विकास का लक्ष्य भी परिपक्वता को ही प्राप्त करना होता है।

एक परिपक्वता की स्थिति में आगे की अभिवृद्धि एवं विकास की गति धीमी हो जाती है यही कारण है कि गर्भावस्था, जो कि व्यक्ति के विकास का प्रथम चरण है, में परिपक्वता प्राप्त करने हेतु अभिवृद्धि एवं विकास की गति सर्वाधिक होती है। जबकि उत्तर किशोरवस्था, जो कि व्यक्ति के विकास का आखिरी चरण है, में परिपक्वता प्राप्त करने हेतु अभिवृद्धि एवं विकास की गति न्यून होती है। परिपक्वता स्वाभाविक विकास का लक्ष्य है। व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के परिपक्वीकरण की प्रक्रिया एक निश्चित अवधि तक ही चलती है। किशोरवस्था के अन्तिम भाग में, अर्थात् 21 वर्ष के लगभग, यह प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के दो पक्ष शारीरिक तथा मानसिक हैं। इन्हीं पक्षों की अभिवृद्धि एवं विकास की स्वाभाविक और पूर्ण अवस्था परिपक्वता है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने की अवस्था को प्रौढ़ावस्था कहते हैं। अत: विकास की प्रत्येक गति का लक्ष्य है। प्रौढ़ावस्था प्राप्त करना।

परिपक्वता तथा प्रौढ़ावस्था पर वातावरण तथा अधिगम का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि विभिन्न भौगोलिक एवं सामाजिक वातावरण के प्रभाव में रहने वाले व्यक्तियों में परिपक्वता की अवस्था भिन्न-भिन्न आयु में दिखाई देती है। परिपक्वता वस्तुत: विकास का करण है। दोनों की पारस्परिक क्रियाओं के फलस्वरूप ही विकास सम्भव होता है। परिपक्वता के अभाव में अधिगम सम्भव नहीं हो सकता। अधिगम के लिए परिपक्वता की एक स्थिति आवश्यक होती है। इस प्रकार विकास एवं अधिगम दोनों परिपक्वता पर निर्भर करते हैं। परिपक्वता, विकास एवं अधिगम में प्रगाढ़ पारस्परिक सम्बन्ध होते हुए भी परिपक्वता, विकास और अधिगम में अन्तर है। परिपक्वता का अर्थ है स्वाभाविक विकास। व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक गुणों का विकास जब बिना किसी प्रकार के अधिगम अथवा प्रशिक्षण के कारण स्वाभाविक रूप से होता है तो उसे हम परिपक्वीकरण कहते हैं, जबकि विकास वांछित तथा प्रगतिशील परिवर्तन के द्वारा अर्जित किया जाता है। विकास में परिपक्वीकरण के प्रभाव का अध्ययन गेसेल (Gesell) तथा थाम्पसन (Thompson) ने 1929 ई. में किया था। इस अध्ययन के लिए 'सम-यमज-नियंत्रण विधि' (Co-Twin Control Method) का प्रयोग किया गया है। इस अध्ययन में समयमज दो लड़कियाँ ली गईं। इनमें से एक को 46 सप्ताह की आयु से लेकर 52 सप्ताह की आयु तक सीढ़ी पर चढ़ने के लिए प्रशिक्षण दिया गया। दूसरी लड़की को इस अवधि में कोई प्रशिक्षण न देकर नियंत्रित रखा गया। प्रशिक्षण से प्राप्त विकास के आधार पर पहली लड़की को सीढ़ी चढ़ने में 26 सेकेण्ड लगे। बिना प्रशिक्षण के नियंत्रित लड़की को 52वें सप्ताह में सीढ़ी चढ़ने में 45 सेकेण्ड लगे। 53 सप्ताह की आयु से नियंत्रित लड़की को 2 सप्ताह तक सीढ़ी चढ़ने का अभ्यास कराया गया। इसके बाद 55 वें सप्ताह में केवल 2 सप्ताह के अभ्यास के फलस्वरूप दूसरी लड़की को सीढ़ी चढ़ने में कुल सात सेकेण्ड लगे। इस अध्ययन

से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परिपक्वीकरण के कारण पहली लड़की की तुलना में बहुत कम अभ्यास करने पर भी दूसरी लड़की को बहुत कम समय में सीढ़ी पर चढ़ने में सफलता मिली।

नोट

2.5 विकास के सिद्धान्त

विकास के सिद्धान्त का क्या तात्पर्य है यह जानना भी आवश्यक है।

गैरीसन तथा अन्य (Garrison and others) के अनुसार– "जब बालक विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है, तब हम उसमें कुछ परिवर्तन देखते हैं। अध्ययनों ने सि) कर दिया है कि इन परिवर्तनों में पर्याप्त निश्चित सिद्धान्तों का अनुसरण करने की प्रवृत्ति होती है। इन्हीं को 'विकास का सिद्धान्त' कहा जाता है।

विकास के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं जिनके अनुसार विकास की प्रक्रिया नियंत्रित होती है-

1. **विकास की दिशा का सिद्धान्त** (Principle of Developmental Direction)–इस सिद्धान्त के अनुसार शिशु के शरीर का विकास सिर से पैर की दिशा में होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस विकास को मस्तकेधोमुखी या 'शिर:पुच्छीय दिशा' (Cephalocaudal Direction) कहा है, जिसके अनुसार पहले शिशु का सिर, फिर धड़ और बाद में हाथ-पैरों का विकास होता है।
2. **निरन्तर विकास का सिद्धान्त** (Principle of Continuous Growth)–स्किनर के अनुसार "विकास प्रक्रियाओं की निरन्तरता का सिद्धान्त केवल इस तथ्य पर बल देता है कि व्यक्ति में कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं होता है।" विकास एक समान गति से नहीं होता, बल्कि अविराम गति से निरन्तर चलता रहता है। विकास की गति कभी तेज कभी धीमी रहती है।
3. **विकास की गति में व्यक्तिगत भिन्नता का सिद्धान्त** (Principle of Individual Difference in Rate of Growth)–वैज्ञानिक अध्ययनों से यह निश्चित हो गया है कि विभिन्न व्यक्तियों के विकास की गति में विभिन्नता होती है। जो व्यक्ति जन्म के समय लम्बा होता है बाद में बड़ा होने पर लम्बा होगा। एक ही आयु के दो बालकों में शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास में वैयक्तिक विभिन्नताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं।
4. **विकास-क्रम का सिद्धान्त** (Principle of Development Sequences)–इस सिद्धान्त के अनुसार विकास एक व्यवस्थित तथा निश्चित क्रम से होता है। बालक का गामक (Motor) अर्थात् गति सम्बन्धी और भाषा सम्बन्धी विकास एक क्रम (Sequence) में होता है, तीसरे माह से वह गले से एक विशेष प्रकार की आवाज निकालता है, छठे माह में आनन्दध्वनि (खिलखिला कर हँसना) और सातवें माह में वह 'पा', 'बा', 'मा,' 'दा' आदि शब्दों को बोलने का प्रयत्न करने लगता है।
5. **परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त** (Principle of Interrelation)–बालक के शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक पक्ष के विकास में परस्पर सम्बन्ध होता है। शारीरिक विकास के साथ-साथ उसकी रुचि, ध्यान तथा व्यवहार में परिवर्तन होता जाता है और इस प्रकार उसका गामक (Motor) तथा भाषा सम्बन्धी विकास होता है। शारीरिक विकास बौद्धिक विकास को प्रभावित करता है। गैरीसर तथा अन्य के अनुसार- "शरीर सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यक्ति के विभिन्न अंगों के विकास में सामंजस्य और परस्पर सम्बन्ध पर बल देता हैं।"

6. **समान प्रतिमान का सिद्धान्त** (Principle of Uniform Pattern)–इस सिद्धान्त के अनुसार मानव जाति के शिशुओं के विकास का प्रतिमान एक ही है अर्थात् उनके विकास में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। **हरलॉक** ने इस सिद्धान्त का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है- "प्रत्येक जाति, चाहे वह पशु जाति हो या मानव जाति, अपनी जाति के अनुरूप विकास के प्रतिमान का अनुसरण करती है।" (Everyspecies, whether animal or human, follows, a pattern of development peculiar to thatspecies.)

(7) **सामान्य से विशिष्ट प्रतिक्रियाओं का सिद्धान्त** (Principle of General to Specific Responses)–विकास के सभी पक्षों में चाहे वह गति सम्बन्धी (Motor) या मानसिक हो, बालक पहले सामान्य प्रतिक्रिया करता है तब बाद में विशिष्ट प्रतिक्रिया करता है अर्थात् सामान्य प्रतिक्रियाओं से वह विशिष्ट प्रतिक्रिया की ओर बढ़ता है। नवजात शिशु पहले अपने पूरे शरीर का संचालन करता है तब बाद में किसी विशेष अंग का। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए सामान्य रूप से केवल हाथ ही नहीं बल्कि अन्य अंगों को भी हिलाता है किन्तु धीरे-धीरे वह उसे प्राप्त करने के लिए विशिष्ट रूप से हाथ बढ़ाता है। हरलॉक का कथन है- "विकास की सब अवस्थाओं में बालक की प्रतिक्रियाएँ विशिष्ट बनने से पूर्व सामान्य प्रकार की होती हैं।"

(8) **वंशानुक्रम व वातावरण का अंत:क्रिया का सिद्धान्त** (Principle of Interaction of Heredity and Environment)–बालक का विकास वंशानुक्रम तथा वातावरण की अन्त:क्रिया के कारण होता है अर्थात् "वंशानुक्रम उन सीमाओं को निश्चित करता है, जिनके आगे बालक का विकास नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार यह प्रमाणित किया जा चुका है कि जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में दूषित वातावरण और गम्भीर रोग, जन्मजात योग्यताओं को कुंठित या निर्बल बना सकते हैं।" ये विचार स्किनर ने व्यक्त किये हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने शैक्षिक दृष्टि से बाल-विकास को निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा है–

(1) शैशवावस्था (Infancy)

(2) बाल्यावस्था (Childhood)

(3) किशोरावस्था (Adolescence)

2.6 शैशवावस्था का महत्त्व

मानव-जीवन में विकास की सभी अवस्थाओं में शैशव का महत्त्व सबसे अधिक बनाएँ हैं। मनोवैज्ञानिक **न्यूमैन** (J.Newman) के अनुसार- "पाँच वर्ष तक की अवस्था शरीर तथा मस्तिष्क के लिए बड़ी ग्रहणशील रहती है।" इस समय जो कुछ किया या सिखाया जाता है, उसका प्रभाव तुरंत (तत्काल) पड़ता है। मनोविश्लेषणवादियों (Psycho-analysists) ने भी शैशव पर विशेष ध्यान देने के लिए षोर दिया है। फ्रायड का कथन है, "मनुष्य को जो कुछ बनना होता है, प्रारम्भ के चार-पाँच वर्षों में ही बन जाता है।" (The little human being is frequently a finished product in his fourth or fifth year.)

मनोवैज्ञानिकों ने अपने परीक्षणों के आधार पर इस बात को अच्छी तरह सि) कर दिया है। **एडलर** (Adler) ने कहा है "शैशवावस्था द्वारा जीवन का पूरा क्रम निश्चित होता है।"

नोट

बीसवीं शताब्दी में मनोवैज्ञानिकों ने बालक और उसके विकास की अवस्थाओं का विस्तृत और गंभीर अध्ययन किया है। क्रो और **क्रो** ने कहा है- "बीसवीं शताब्दी को बालक की शताब्दी कहा जाता है।" (The twentieth century has come to be designatedas the century of the child.) मनोवैज्ञानिकों के इन विचारों के अनुसार, "इस अवस्था को जीवन का आधार कहा जा सकता है, जिस पर बालक के भावी जीवन का निर्माण होता है।"

शैशवावस्था का अर्थ

साधारणत: शिशु के जन्म के बाद प्रथम 6 वर्ष की आयु उसकी शैशवावस्था कहलाती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है–

हरलॉक (Hurlock)–"यह जन्म से लेकर दो सप्ताह तक चलती है। दो सप्ताह बाद बालपन (Babyhood) आरम्भ होता है और दो वर्ष तक रहता है। दो वर्ष बाद प्रारम्भिक बाल्यावस्था आती है और 6 वर्ष तक की आयु तक रहती है।" (Early childhood extends from two tosix years of age.)

उपर्युक्त विचार महिला मनोवैज्ञानिक हरलॉक ने व्यक्त किये है, जो कि शैशव के सम्बन्ध में सूक्ष्म एवं व्यापक अर्थ की ओर संकेत करते हैं। सामान्य रूप से सभी मनोवैज्ञानिकों ने जन्म से पाँच या छ: वर्ष तक की अवस्था को शैशवावस्था माना है। जैसा कि क्रो और क्रो ने लिखा है शैशवावस्था औसतन जन्म से पाँच या छ: वर्ष तक चलती है, जिसमें इन्द्रियाँ काम करने लगती हैं और बालक रेंगना, चलना और बोलना सीखता है।" (Infancy (on the avaerge from birth to fivesix years of age) during which thesensory channels begin to function and the child learns to creep, walk andspeak.)

उपर्युक्त विचारों के फलस्वरूप यहाँ पर शैशवावस्था का अध्ययन जन्म से पाँच या छ: वर्ष की आयु तक मान कर किया जायेगा।

शैशवावस्था की प्रमुख विशेषताएँ

शैशवावस्था में शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक विकास से सम्बन्धित कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. **शारीरिक विकास में तीव्रता** (Repidity in Physical Growth)–बालक के जीवन के प्रथम तीन वर्षों में शारीरिक विकास तीव्र गति से होता है। प्रथम वर्ष में लम्बाई तथा भार दोनों में तीव्र वृद्धि होती है। उसकी कर्मेन्द्रियों, आन्तरिक अंगों, माँसपेशियों आदि का भी उत्तरोत्तर (Gradual) विकास होता है।
2. **अपरिपक्वता** (Immaturity)–इस समय शिशु शारीरिक तथा बौद्धिक रूप से अपरिपक्व होता है। धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से वह पालन-पोषण द्वारा परिपक्व होता है।
3. **पर-निर्भरता** (Dependancy)–जन्म के बाद कुछ समय तक वह बड़ी असहाय स्थिति में रहता है। उसे भोजन तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा स्नेह और सहानुभूति प्राप्त करने के लिए दूसरे पर आश्रित रहना पड़ता है।
4. **मूल प्रवृत्तयात्मक व्यवहार** (Instinctive Behaviour)–इस समय शिशु का अधिकांश व्यवहार मूल-प्रवृत्तियों पर आधारित होता है। भूख लगने पर वह रोता, क्रोधित होता है और जो भी वस्तु उसके पास होती है उसी को मुँह में डाल लेता है।

5. **मानसिक क्रियाओं की तीव्रता** (Rapidity in Mental Process)–शिशु की मानसिक क्रियाओं के अन्तर्गत ध्यान, स्मृति, कल्पना, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण आदि का विकास तेजी से होता है। इस सम्बन्ध में गुडएनफ का विचार है- "व्यक्ति का जितना भी मानसिक विकास होता है। उसका आधा तीन वर्ष की आयु तक हो जाता है। (One helf of an individual's ultimate mentalstatus has been attained by the age of three years.)
6. **सीखने की प्रक्रिया में तीव्रता** (Rapidity in Learning Process)–इस समय सीखने की गति बहुत तेज होती है। **गेसेल** (Gesell) का कथन है- "बालक प्रथम छः वर्षो में, बाद के बारह वर्षो से दूना सीख लेता है।"
7. **कल्पनाशीलता** (Imaginativeness)–इस समय शिशु में कल्पना की मात्रा अधिक पाई जाती है और वह कल्पना जगत में विचरण करने लगता है। थार्नडाइक का विचार है कि–"3 से 6 वर्ष तक के बालक प्रायः अर्द्धस्वप्नों की हालत में रहते हैं।" वे सत्य-असत्य में अन्तर नहीं कर पाते हैं। फलस्वरूप वे कल्पना की अधिकता के कारण झूठ बोला करते हैं। रॉस ने कहा है कि– "शिशु कल्पना में स्वयं नायक बन जाता है और कल्पना के द्वारा ही वह जीवन की कठोरता को दूर करता है।" इस अवस्था में शिशु में किसी क्रिया या शब्दों को दोहराने की विशेष प्रवृत्ति होती है।
8. **दोहराने की प्रवृत्ति** (Attiude of Repetition)–ऐसा करने में उसे आनन्द मिलता है। इसी आधार पर किन्डरगार्टन तथा मान्टेसरी स्कूलों में बच्चों से गीत और रचना की आवृत्ति कराई जाती है।
9. **अनुकरण द्वारा सीखने की प्रवृत्ति** (Attitude of Learning Imitation)–शिशु सबसे अधिक और जल्दी अनुकरण विधि से सीखते हैं। परिवार में माता-पिता, भाई-बहनों तथा अन्य सदस्यों के व्यवहार का वह अनुकरण करता है और सीखता है।
10. **प्रत्यक्षात्मक अनुभव द्वारा सीखना** (Learning Perceptual Experience)–मानसिक रूप से परिपक्व न होने के कारण वह प्रत्यक्ष और स्थूल वस्तुओं के सहारे सीखता है। किन्डरगार्टन तथा मान्टेसरी प्रणाली में उपहारों तथा शिक्षा उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। इनका निरीक्षण वह करता है और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव प्राप्त करता है।
11. **संवेगों को प्रदर्शन** (Emotional Expression)–शिशु जन्म से ही संवेगात्मक व्यवहार का प्रदर्शन करता है। रोना, चिल्लाना, हाथ-पैर पटकना आदि क्रियाएँ संवेगपूर्ण ही होती हैं। बाल-मनोवैज्ञानिकों के अनुसार आरम्भ में शिशु में मुख्य रूप से चार संवेग पाए जाते हैं- भय क्रोध प्रेम और पीड़ा।
12. **आत्म प्रेम की भावना** (Feelinig ofself love)–शैशवावस्था में शिशु में आत्म-प्रेम की भावना प्रबल होती है। इस समय वह यह चाहता है कि केवल उसे ही माता-पिता एवं भाई-बहनों का पूर्ण स्नेह मिले। ऐसा न होने पर वह अन्य भाई-बहनों से ईर्ष्या करने लगता है। जो वस्तु या खिलौना उसे दिया जाता है, उसे वह दूसरों को न देकर, अपने पास ही रखना चाहता है।
13. **काम प्रवृत्ति** (sex Instinct)–फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषणवादियों का कहना है कि इस अवस्था में शिशु की प्रेम भावना काम-प्रवृत्ति पर आधारित होती है, और यह प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है, किन्तु उसका प्रकाशन वयस्कों की भांति नहीं होता। शिशु का अपने अंगों

नोट

से प्रेम करना, माता का स्तनपान करना, हाथ पैर का अंगूठा चूसना आदि काम-प्रवृत्ति के सूचक हैं।

14. **नैतिक भावना का अभाव** (Absence of Moral Feeling)–इस समय शिशु का नैतिक विकास नहीं हो पाता है। उसे अच्छी बुरी, उचित और अनुचित बातों का ज्ञान नहीं होता है। वह वही कार्य करता है जिसमें उसे आनन्द आता है भले ही वह नैतिक रूप से अवांछनीय हो। जिन कार्यों से उसे दु:ख होता है उन्हें वह छोड़ देता है। **रॉस** ने कहा है- "आगे चलकर सामाजिक वातावरण इस आनन्द और दु:ख प्रेरक को कुछ-कुछ व्यवस्थित रूप से, पारितोषिक और दण्ड देकर पुन: बल देता है।" (Later on thesocial environment reinforces this pleasure pain motive by adminis-trating rewards and punishment more or lesssystematically.)

15. **अकेले व साथ खेलने की प्रवृत्ति** (Tendency of Playing Alone and Together)–यदि हम शिशु के व्यवहार का भली-भाँति निरीक्षण करें तो हम देख सकते हैं कि उसमें पहले एकांत में खेलने और फिर बाद में दूसरों के साथ खेलने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति का क्रो और क्रो ने इस प्रकार वर्णन किया है- "बहुत ही छोटा शिशु अकेले खेलता है। धीरे-धीरे वह दूसरे बालकों के समीप खेलने की अवस्था से गुजरता है। अन्त में, वह अपनी आयु के बालकों के साथ खेलने में महान् आनन्द का अनुभव करता है।"

16. **सामाजिक भावना का विकास** (Development of Social feeling)–शैशवावस्था के अन्तिम वर्षों में सामाजिक भावना का विकास होता है। **वैलेन्टाइन** (Valentine) का विचार है- "चार या पाँच वर्ष के बालक में अपने छोटे भाई-बहनों या साथियों की रक्षा करने की प्रवृत्ति होती है। वह दो से पाँच वर्ष तक के बच्चों के साथ खेलना पसंद करता है। वह अपनी वस्तुओं में दूसरों को साझीदार बनाता है। वह दूसरे बच्चों के अधिकारों की रक्षा करता है और दु:ख में उनको सांत्वना देने का प्रयास करता है। शिक्षा की दृष्टि से मानव जीवन में शैशवकाल का बहुत महत्त्व है। वैलेन्टाइन ने इसे सीखने का आदर्शकाल" (Ideal period of Learning) कहा है। इसी प्रकार वाटसन ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं– "शैशवावस्था में सीखने की सीमा और तीव्रता, विकास की और किसी अवस्था की तुलना में बहुत अधिक होती है।" (Thescope and intensity of learning during infancy exceeds that of any other period of development.)

अत: इस काल में शिशु की शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का ध्यान देना आवश्यक है–

1. **पालन-पोषण**–सर्वप्रथम शिशु के पालन-पोषण में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। शारीरिक विकास के लिए पौष्टिक व संतुलित भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये।
2. **स्वच्छ वातावरण**–स्वस्थ विकास के लिये घर तथा विद्यालय में शांत और स्वच्छ वातावरण मिलना चाहिए।
3. **व्यक्तिगत स्वच्छता पर ध्यान**–जब वे थोड़ा समझने लगें तो उन्हें व्यक्तिगत स्वच्छता के लिये शिक्षा देनी चाहिए।
4. **स्नेह पूर्ण व्यवहार**–माता-पिता को शिशु का पालन बड़े प्रेम और स्नेह से करना चाहिए। प्रेम और स्नेह का शिशु के नाड़ी मंडल पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, इससे उसका विकास उचित दिशा में होता है।

नोट

5. **मूल प्रवृत्तियों की प्रोत्साहन**–शिशु की मूल-प्रवृत्तिशों का दमन न किया जाये, बल्कि इनका मार्ग निर्देशन (guidance) होना चाहिए। मूल-प्रवृत्ति को दबाने का प्रभाव शारीरिक और मानसिक विकास पर पड़ता है।
6. **जिज्ञासा की संतुष्टि**–शिशु की जिज्ञासा-प्रवृत्ति को संतुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। उनके प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देना चाहिए।
7. **आत्म प्रदर्शन के लिये अवसर**–शिशु में आत्म-प्रदर्शन (Self-assertion) की प्रवृत्ति होती है। अत: माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षकों को ऐसे कार्य करवाने चाहिए जिससे उसे आत्म-प्रदर्शन का अवसर मिले।
8. **क्रिया तथा खेल द्वारा शिक्षा**–शिशु जन्म से ही क्रियाशील होता है। खेल में उसकी सहज रुचि होती है। अत: उसे खेल द्वारा तथा करके सीखने (Learning by doing) का पूर्ण अवसर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में **स्ट्रैंग** (Strang) ने कहा है- 'शिशु अपने और संसार के बारे में अधिकांश बातें खेल द्वार, सीखता है।"
9. **कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण**–शिशु की कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के विकास के लिए घर तथा विद्यालय में शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। किन्डरगार्टन तथा मान्टेसरी प्रणाली में कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा मांसपेशियों के प्रशिक्षण पर ध्यान दिया जाता है। इनके अनुसार "ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का द्वार हैं।" इसका समर्थन करते हुए शिक्षाशास्त्री रूसो ने भी कहा है- "बालक के हाथ, पैर और नेत्र उसके प्रारम्भिक शिक्षक हैं। इन्हीं के द्वारा वह पाँच वर्ष में ही पहचान सकता है, सोच सकता है और याद कर सकता है।"
10. **आत्माभिव्यक्ति के लिए अवसर**–आत्माभिव्यक्ति (Self-Expression) का सबसे उत्तम साधन मातृभाषा है। अत: अभिभावकों और शिक्षकों को उन्हें छोटी-छोटी कहानियाँ, कविताएँ सुनानी तथा याद करवानी चाहिए तथा सरल भाषा में वार्तालाप करना चाहिए।
11. **शिक्षा में संगीत का स्थान**–शिशु आरम्भ से ही संगीत-प्रिय होता है। वह लोरी सुनकर जल्दी सो जाता है। शिशु-विद्यालय में शिक्षा-कार्य के लिए गीतों का प्रयोग किया जाता है। गीतों की सहायता से मानसिक तथा शारीरिक विकास होता है।
12. **मानसिक विकास के लिए अवसर**–शिशु को सोचने-विचारने के लिए अधिक से अधिक अवसर देना चाहिए। इसके लिए बातचीत, निरीक्षण, संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना और स्मृति के विकास की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक है।
13. **व्यक्तिगत विभिन्नता पर ध्यान**–शिशु के स्वाभविक विकास के लिए शिक्षा देते समय व्यक्तिगत विभिन्नता पर ध्यान देना आवश्यक है।
14. **पाठ्यक्रम रुचिकर हो**–पाठ्यक्रम रुचि, क्रिया तथा खेल के सिद्धान्तों पर आधारित हो इसके लिए किन्डरगार्टन और मान्टेसरी प्रणाली के सिद्धान्तों का अनुकरण करना चाहिए।
15. **शिक्षण-विधि क्रियात्मक हो**–इस समय सीखने की प्रक्रिया पर विशेष ध्यान देना चाहिए। शिशु को क्रिया, खेल तथा वस्तुओं के माध्यम से शिक्षा देना चाहिए।
16. **सामाजिक भावना का विकास**–शैशव के अन्तिम दिनों में इस भावना का उदय होने लगता है। अत: अभिभावकों तथा शिक्षकों को दूसरे बालकों से मिलने जुलने तथा खेलने के लिए उचित अवसर देना चाहिए ताकि उसमें, सामाजिक भावना का विकास भली-भाँति हो।

17. **अच्छी आदतों के निर्माण के लिए अवसर**–अभिभावकों तथा शिक्षकों को आरम्भ से ही शिशु में सत्य बोलने, बड़ों का आदर करने, समय पर काम करने, स्वच्छता सफाई रखने तथा अन्य अच्छी आदतों का निर्माण करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ये आदतें ही हमारे भावी जीवन का निर्माण करती हैं। जैसा कि **ड्राइडेन** (Dryden) महोदय ने कहा- पहले हम अपनी आदतों का निर्माण करते है और फिर हमारी आदतें हमारा निर्माण करती है।
18. **नैतिक तथा चारित्रिक विकास के लिये शिक्षा**–इसके लिए माता-पिता तथा शिक्षकों को बालकों के सामने अच्छे आदर्श तथा आचरण प्रस्तुत करने चाहिए क्योंकि बालक अनुकरणशील होते है। इसके अतिरिक्त उन्हें आदर्श चरित्र, वीरों, नेताओं और महापुरुषों की छोटी-छोटी कथाएँ सुनानी चाहिए।
19. **भय तथा दंड से दूर रखना**–शिशु को छोटी-छोटी बातों पर भय न दिखाना चाहिए और न ही उन्हें दंड देना चाहिए। भय तथा दण्ड का शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। अनुशासन में रखने के लिए दण्ड के हानिप्रद रूप को न अपनाना चाहिए, बल्कि पुरस्कार और दण्ड का उचित प्रयोग किया जाये।
20. **संवेगात्मक सुरक्षा**–शिशु के संवेगात्मक विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण त्तव स्नेह होता है जो कि उसे दूसरों से मिलता है तथा वह भी दूसरों को देने का प्रयत्न करता है। अत: अभिभावकों तथा सामाजिक के अतिरिक्त शिक्षकों को भी उसके साथ स्नेह पूर्ण व्यवहार करना है ताकि शिशु में भी दूसरों के प्रति स्नेह अनुभव करने की आवश्यक क्षमता उत्पन्न हो सके। मानसिक स्वास्थ्य के लिए स्नेह अत्यन्त आवश्यक है। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए शिशु-शिक्षा के स्वरूप का आयोजन करना चाहिए।

2.7 विकास की अवस्थाएँ: बाल्यावस्था

मानव-विकास की दूसरी अवस्था बाल्यावस्था है। शैशवावस्था के बाद बालक बाल्यावस्था में प्रवेश करता है। शैशवकाल में बालक अपने चारों ओर की परिस्थितियों से अपरिचित होता है। उसका शरीर और मन दोनों अविकसित दशा में होते हैं। बाल्यावस्था में प्रवेश करते-करते उसका पर्याप्त विकास हो जाता है और वह अपने वातावरण से परिचित होने लगता है। इस अवस्था में वह जिस वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार को तथा शिक्षा-सम्बन्धी बातों को सीखना आरम्भ करता है वह उसके भावी जीवन की आधारशिला होती है। अत: बाल्यावस्था की प्रमुख विशेषताओं तथा शारीरिक, मानसिक संवेगात्मक तथा मानसिक विकास के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

बाल्यावस्था का महत्त्व

शैशवावस्था के बाद बाल्यावस्था का आरम्भ होता है। बाल्यावस्था में प्रवेश करने पर बालक का इतना विकास हो चुका होता है कि वह अपने वातावरण की परिस्थितियों से कुछ परिचित-सा होने लगता है।

मनोवैज्ञानिकों ने इस अवस्था को "बालक का निर्माणकारी" काल कहा है। इस काल में बालक जिन व्यक्तिगत, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी आदतों, व्यवहार, रुचियों एवं इच्छाओं के **प्रतिरूपों** (Patterns) का निर्माण कर लेता है, उनको रूपान्तरित करना सरल नहीं होता है। जीवन में बाल्यावस्था के महत्व पर प्रकाश डालते हुए ब्लेयर, जोन्स व सिम्पसन के विचार इस प्रकार

हैं- शैक्षिक दृष्टिकोण से जीवन-चक्र में बाल्यावस्था से अधिक महत्त्वपूर्ण और कोई अवस्था नहीं है। जो अध्यापक इस अवस्था के बालकों को शिक्षा देते हैं उन्हें बालकों का, उनकी आधारभूत आवश्यकताओं का, उनकी समस्याओं का और उन परिस्थितयों की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए, जो उनके व्यवहार को रूपान्तरित और परिवर्तित करती है।" (No period during the life-cycle is more important than childhood from an educational point of view. Teachers who work at this levelshould understand children, their fundamental need, their problems, and the forces which modify and produce behaviour change.)

नोट

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि शैक्षिक दृष्टि से बाल्यावस्था जीवन की महत्त्वपूर्ण अवस्था है। अत: इस काल के व्यक्तिगत-विकास के लिए अभिभावकों तथा शिक्षकों को विशेष रूप से सतर्क होकर उन सभी साधनों और विधियों का उपयोग करना चाहिए जो उसके स्वाभाविक और संतुलित विकास में सहायक सि) हों।

बाल्यावस्था का अर्थ

सामान्य रूप से सभी वैज्ञानिकों ने लगभग 6 वर्ष से 12 वर्ष के बीच की आयु को बाल्यावस्था माना है। इस अवस्था में बालक के जीवन में स्थायित्व (Stability) आने लगता है और आगे आने वाले जीवन की तैयारी करता है। हरलॉक के शब्दों में, "उत्तर-बाल्यावस्था 6 वर्ष की आयु से लेकर यौवनारम्भ होने तक ग्यारह और बारह वर्षों के बीच होती है।" (Late childhood extends from the age ofsix years to the onset of puberty, between eleven and twelve years.)

इससे स्पष्ट है कि बाल्यावस्था 6 वर्ष से 12 वर्ष तक चलती है। इस अवस्था में बालक में अनेक परिवर्तन होते हैं। शिक्षा आरम्भ करने के लिए यह आयु सबसे अधिक उपयुक्त मानी गई है। इसीलिए शिक्षाशास्त्रियों ने इसे 'प्रारम्भिक विद्यालय की आयु' (Elementary School Age) कहा है। इस काल में सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने की भावना बालक-बालिकाओं में प्रबल दिखाई देती है। वे अपना अलग-अलग समूह बनाते हैं। इसलिए मनोवैज्ञानिक ने इस अवस्था को 'समूह की आयु' (Gang Age) भी कहा है।

बाल्यावस्था की प्रमुख विशेषताएँ

विकास की दृष्टि से बाल्यावस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ है–

1. **शारीरिक और मानसिक विकास में स्थिरता** (Stability in physical and mental growth)–बाल्यावस्था में विकास की गति में मन्थरता (धीमापन) आ जाती है। विकास की दृष्टि से इस अवस्था को दो भागों में बाँटा जा सकता है- 6 से 9 वर्ष तक संचयकाल (Conservation Period) और 10 से 12 वर्ष तक परिपाक काल (Consolidation Period)।

   शैशवावस्था और पूर्व-बाल्यकाल में (6 से 9 वर्ष) जो विकास हो जाता है वह प्राकृतिक नियमों के अनुसार उत्तर-बाल्यकाल (10 से 12 वर्ष की आयु) में दृढ़ होने लगता है। उनकी चंचलता शैशवकाल की अपेक्षा कम हो जाती है, और वह वस्यकों के समान व्यवहार करता दिखाई देता है, इसीलिए रॉस (त्वे) ने बाल्यावस्था को 'मिथ्या परिपक्वता' (Pseudo Maturity) का बताते हुए कहा है– "शारीरिक और मानसिक स्थिरता बाल्यावस्था की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है।"

नोट

2. **मानसिक योग्यताओं में वृद्धि** (Growth in Mental Abilities)–इस समय बालक की मानसिक योग्यताओं में वृद्धि होती रहती है। संवेदना प्रत्यक्षीकरण और स्मरण शक्ति का विकास द्रुतगति से होता है, स्थायी स्मृति में वृद्धि होती है, वस्तुओं के प्रति रुचि और अवधान बढ़ने लगता है।
3. **जिज्ञासा की प्रबलता** (Intensity of Curiosity)–बालक जिन वस्तुओं के सम्पर्क में आता है उन सबके विषय में जानना चाहता है। इस समय वह यह नहीं पूछता कि "यह क्या है?" बल्कि वह यह पूछता है कि "यह ऐसा क्यों है?" रॉस ने बालक की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कहा है, 'उत्तर-बाल्याकाल में बालक ऐसी बातों के प्रति अत्यधिक जिज्ञासु (Curious) होता है कि अमुक बातें कैसे होती हैं, अमुक चीज किस प्रकार कार्य करती है, इत्यादि। वह विभिन्न विषयों पर ढेरों सूचनाएँ एकत्रित करता है, जिन्हें देखकर उसके बड़ों को आश्चर्य होता है।
4. **आत्मनिर्भरता की भावना** (Feeling of Self-dependence)–इस समय शैशवावस्था की भाँति बालक शारीरिक एवं दैनिक कार्यों के लिए पराश्रित नहीं रहता। वह अपने व्यक्तिगत कार्य जैसे नहाना-धोना, कपड़ा पहनना, स्कूल जाने की तैयारी आदि स्वयं कर लेता है।
5. **रचनात्मक कार्यों में रुचि** (Interest in Constructive Work)–बालक को रचनात्मक कार्यों में विशेष आनन्द मिलता है जैसे बगीचे में कार्य करना, लकड़ी, कागज या अन्य किसी वस्तु से कुछ बनाना। बालिका भी घर में कोई-न-कोई कार्य करना चाहती है जैसे सिलाई, बुनाई, कढ़ाई आदि।
6. **संग्रह प्रवृत्ति का विकास** (Development of Acquisition Instinct)–रचनात्मक प्रकृति के साथ-साथ संग्रह करने की प्रवृत्ति भी जाग्रत होती है। बालक विशेष रूप से पुराने, गोलियाँ, खिलौने, मशीनों के कल-पुर्जे और पत्थर के टुकड़े और बालिकाएँ विशेष रूप से खिलौने, गुड़िया, कपड़े के टुकड़े आदि संग्रह करती देखी जाती हैं।
7. **सामूहिक प्रवृत्ति की प्रबलता** (Intensity of Gregariousness)–इस समय बालक अपना अधिक-से-अधिक समय दूसरे बालकों के साथ व्यतीत करने का प्रयास करता है। सामूहिक भावना की अधिकता के कारण देह नैतिक मान्यताओं को जिनसे उसका आचरण नियंत्रित होता है, समझने लगता है। **रॉस** (Ross) ने कहा है– 'बालक प्रायः अनिवार्य रूप से किसी-न-किसी समूह का सदस्य बन जाता है, जो अच्छे खेल खेलने और ऐसे कार्य करने के लिए नियमित रूप से एकत्र होते हैं, जिसके बारे में बड़ी आयु के लोगों को कुछ भी नहीं बताया जाता है।"
8. **बहिर्मुखी प्रवृत्ति का विकास** (Development of Extrovert Tendency)–शैशवकाल में बालक अन्तर्मुखी (Introvert) होता है। यह केवल अपने में ही रुचि रखता है और एकान्तप्रिय होता है। किन्तु इस अवस्था में बालक बाहर घूमने, बाहर की वस्तुओं को देखने, दूसरों के विषय में जानने आदि में रुचि दिखाता है। बहिर्मुखी होने के कारण वह समाज में अपने को समायोजित (Adjust) कर लेता है।
9. **सामूहिक खेलों में विशेष रुचि** (Interest in Group Play)–इस अवस्था में सामूहिक खेलों में भाग लेने की प्रवृत्ति बहुत अधिक विकसित हो जाती है। खेल इस अवस्था की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के विचार इस प्रकार हैं–

नोट

कार्लग्रूस (Karlgroos)–"खेलों के द्वारा व्यक्ति अपने भावी जीवन की तैयारी करता है।"

स्टेनले हॉल (Stanely Hall)–"बालकों के खेल उन कार्यों की पुनरावृत्ति हैं, जो सृष्टि के प्रारम्भ से उनके पूर्वज करते आये हैं।"

स्पेन्सर (Spencer)–"बालक खेल के द्वारा अपनी अतिरिक्त शक्ति का व्यय करता है।"

इस समय बालक बालकों के साथ और बालिकाएँ बालिकाओं के साथ खेलना पसन्द करती हैं और उनमें सखा-भाव विकसित होता दिखाई देता है। बालक एवं बालिका के खेलों में भी अन्तर होता है।

10. **सामाजिक एवं नैतिक विकास** (Social and Moral Development)–इस समय बालक अपने समूह के सदस्यों के साथ अधिक समय बिताता है। समूह द्वारा प्राप्त आज्ञा मानने के लिए सदा तैयार रहता है। उसका व्यवहार दूसरों की प्रशंसा तथा निंदा पर आधारित रहता है। उसमें अनेक सामाजिक गुणों का विकास होता है जैसे आज्ञाकारिता, सहयोग, सद्भावना, सहनशीलता आदि। नैतिक गुणों के विकास के सम्बन्ध में **स्ट्रैंग** (Strang) का विचार है– "छः, सात और आठ वर्ष के बालकों में अच्छे बुरे के ज्ञान का एवं न्यायपूर्ण व्यवहार, ईमानदारी और सामाजिक मूल्यों की भावना का विकास होने लगता है।"
11. **सुषुप्त काम प्रवृत्ति** (Dormant Sex Impluse)–मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार शिशु में जन्म से ही कामभावना विकसित होने लगती है, किन्तु इस समय आत्मप्रेम तथा पितृ एवं मातृ विरोधी भावना-ग्रंथियाँ समाप्त हो जाती हैं और बालक बालिका में समलिंगीय प्रेम भावना का उदय होता है। बालक में सखाभाव और बालिका में सखी-भाव विकसित होता है।

बाल्यावस्था में शिक्षा का स्वरूप

बाल्यकाल बालक के जीवन की आधारशिला है। अतः यह आवश्यक है कि बालक के विकास के सभी पक्षों की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया जाये। शिक्षा और विकास का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। शिक्षा विकास की प्रक्रिया है जो कि शिक्षा का शाब्दिक अर्थ तथा दी गई विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट है। बालक की शिक्षा का उत्तरदायित्व माता-पिता, शिक्षक तथा समाज पर है। अतः उसकी शिक्षा के स्वरूप को निध र्रित करते समय निम्नांकित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है–

1. **शारीरिक विकास पर ध्यान**–कहा गया है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का विकास होता है। इस दृष्टि से बालक के शारीरिक विकास पर उचित ध्यान देना आवश्यक है। उन्हें स्वस्थ रखने के लिए पौष्टिक भोजन तथा खेल-कूद का अवसर देना चाहिए।

   शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों ने बालक की शिक्षा में क्रियाशीलता को प्रधानता दी है। अतः विद्यालय में शारीरिक क्रियाओं, खेल-कूद तथा व्यायाम को प्रमुख स्थान देना चाहिए।
2. **बाल-मनोविज्ञान**–माता-पिता, अभिभावकों तथा शिक्षकों को बाल-विज्ञान का ज्ञान होना चाहिए ताकि वे बालक को उचित शिक्षा दे सकें।
3. **भाषा-विकास पर ध्यान**–बालक के भाषा-ज्ञान पर आरम्भ से ही ध्यान देना चाहिए। इसके लिए उनसे उपर्युक्त विषयों पर वार्तालाप करना, कहानियाँ सुनाना तथा बाल-पत्रिकाएँ पढ़ने के लिए देना चाहिए। विद्यालय में वाद-विवाद, सम्भाषण, कहानी-प्रतियोगिता तथा कविता पाठ आदि में भाग लेने के लिए उत्साहित करना चाहिए।

4. **पाठ्यक्रम**–पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों को रखना चाहिए जो बालक की रुचि एवं आवश्यकताओं के अनुकूल हों तथा जीवन से सम्बन्धित हों। पाठ्यक्रम नीरस तथा यंत्रवत् न हो, बहुत से विषयों और पुस्तकों का बोझ उस पर न लादा जाए अन्यथा वह किसी प्रकार रट-रटाकर परीक्षा में किसी तरह पास करने का प्रबन्ध कर लेता है किन्तु उसका मानसिक विकास नहीं हो पाता।
5. **शिक्षण-विधि**–बाल्यावस्था में शिक्षण-विधि रुचिकर तथा क्रिया और खेल के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए। बालक की रुचि के अनुसार शिक्षण-विधि में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी करते रहना चाहिए। आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों में किन्डरगार्टन, मान्टेसरी, बेसिक, प्रोजेक्ट, डाल्टन आदि क्रिया, खेल तथा स्वानुभव पर आधारित शिक्षा प्रणालियाँ हैं।
6. **खेल तथा क्रिया द्वारा शिक्षा**–खेल बालक की सहज और स्वाभाविक प्रवृत्ति है। शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों ने बालक की शिक्षा में खेल और क्रिया को महत्त्व दिया है। खेल के द्वारा किया जाने वाला कार्य, बालक के शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक विकास में सहायता देता है। खेल-विधि बालक को उत्साह एवं प्रसन्नतापूर्वक सीखने की क्षमता प्रदान करती है।
7. **मानसिक स्तर पर ध्यान**–मानसिक विकास के लिए बालकों को बौद्धिक वातावरण मिलना चाहिए। घर में तथा विद्यालय में उन्हें आवश्यकतानुसार सभी साधन तथा सामग्री मिलनी चाहिए जो मानसिक विकास में सहायता दे सके। बालक अनुकरण द्वारा बहुत जल्दी सीखता है। इसके लिए माता-पिता एवं शिक्षक को अच्छे आदर्श और आचरण व्यवहार प्रस्तुत करने चाहिए। मानसिक विकास के अंतर्गत बुद्धि की मानसिक योग्यताएँ, स्मृति, कल्पना, चिन्तन, तर्क, निर्णय आदि का विकास सम्मिलित है। मानसिक विकास के लिए उन्हें यथासम्भव अवसर देना चाहिए तथा उनकी जिज्ञासा को प्रोत्साहित करना चाहिए। उनके समक्ष नई समस्याओं को प्रस्तुत करना चाहिए ताकि वे अपनी स्मृति, कल्पना, चिन्तन, तर्क व निर्णय शक्तियों का प्रयोग कर सकें।
8. **संवेगात्मक विकास का ध्यान**–बाल्यावस्था में संवेगात्मक विकास के लिए उसकी मूल प्रवृत्तियों की ओर उचित ध्यान देना आवश्यक है। संवेगों का शारीरिक तथा मानसिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। इसी समय से अवांछित संवेगों जैसे ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि को नियंत्रित करने की शिक्षा देनी चाहिए। इसके लिए माता-पिता तथा शिक्षकों को उनसे प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उनके संवेगों का दमन न करना चाहिए। इससे उनमें भावना-ग्रंथियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। **स्ट्रैंग** (Strang) के अनुसार–"बालकों को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त अपने संवेगों का दमन करने के बजय तृप्त करने में सहायता दी जानी चाहिए, क्योंकि संवेगात्मक भावना और प्रदर्शन उनके सम्पूर्ण जीवन का आधार होता है।"
9. **जिज्ञासा प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना**–इस समय बालक में जिज्ञासा की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल होती है। वह प्रत्येक नई वस्तु के बारे में जानने को उत्सुक रहता है तथा 'कैसे', आदि प्रश्न बहुत करता है। अतः माता-पिता तथा शिक्षकों को उसकी प्रत्येक बात का समुचित एवं उपयुक्त उत्तर देना चाहिए ताकि उसकी जिज्ञासा की सन्तुष्टि हो जाये। उसकी

जिज्ञासा को उद्दीप्त करके नई-नई लाभप्रद बातें सिखाई जा सकती हैं। इस प्रकार वह स्वयं ज्ञानार्जन करता रहता है।

नोट

10. **रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास पर ध्यान देना**—यह प्रवृत्ति बालकों में प्रारम्भ से ही स्पष्ट दिखाई देती है। जैसे मिट्टी और बालू के घर बनाना, लकड़ी के गुटकों से खेल-खेल में कई वस्तुओं को बनाना आदि। अत: विद्यालय में विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों की व्यवस्था होनी चाहिए जैसे रचनात्मक क्रियाओं के अन्तर्गत कागज, दफ्ती, लकड़ी, मिट्टी आदि के खिलौने या कोई अन्य वस्तु बनाना तथा पाठ्य-विषयों में क्राफ्ट तथा गृहकला की शिक्षा देना।
11. **संचय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना**—बालक में वस्तुओं को संग्रह करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। उसे जो वस्तु अच्छी लगती है उसे वह संचय कर लेता है। अत: माता-पिता तथा शिक्षकों को शिक्षाप्रद वस्तुएँ एकत्रित करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, जैसे डाक टिकट, सिक्के, खिलौने, चित्र, पुस्तकें तथा अन्य प्राकृतिक वस्तुएँ आदि।
12. **सामूहिक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि**—बाल्यावस्था में समूह में रहने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। वह अकेले रहना नहीं पसन्द करता। वह अन्य बालकों तथा मित्रों के साथ मिलना-जुलना और उनके साथ कार्य करना अधिक पसन्द करता है तथा इससे प्रसन्न भी रहता है। अत: सामूहिक प्रवृत्ति के विकास के लिए उन्हें बालसभा का सदस्य बनने, सामाजिक कार्यों में तथा ब्वाय स्काउट, गर्ल गाइड में भाग लेने की अनुमति तथा अवसर प्रदान करना चाहिए। विद्यालय में सामूहिक कार्यों खेलों की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।
13. **सहपाठ्यक्रम क्रियाओं की व्यवस्था**—बालक की मानसिक एवं सामाजिक शक्तियों के विकास के लिए विद्यालय में पाठ्य-विषयान्तर कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए। इसके अंतर्गत प्रकृति-निरीक्षण, भ्रमण, सरस्वती यात्राएँ, नाटक तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों की व्यवस्था समय-समय पर की जानी चाहिए।
14. **सामाजिक गुणों का विकास**—बाल्यावस्था में परिवार के बाद विशेष रूप से बालक का समाजीकरण विद्यालय में होता है। अत: शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह कक्षा, विद्यालय तथा खेल के मैदान में ऐसा वातावरण उपस्थित करे जिससे बालक का स्वस्थ सामाजिक विकास हो सके। विद्यालय में ऐसी क्रियाओं का आयोजन होना चाहिए जिनमें भाग लेकर बालक में अनुशासन, आत्मसंयम, उत्तरदायित्व, आज्ञाकारिता, विनय, सहयोग, सहानुभूति, प्रतिस्पर्धा आदि सामाजिक गुणों का विकास हो सके।
15. **नैतिक शिक्षा**—समाज के नैतिक मूल्यों, मान्यताओं और नियमों का ज्ञान देने के लिए नियमित रूप से नैतिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

2.8 विकास की अवस्थाएँ: किशोरावस्था

मानव-विकास की तीसरी अवस्था किशोरवस्था है। यह बाल्यावस्था के अन्त में आरम्भ होती है और प्रौढ़ावस्था के आरम्भ में समाप्त होती है। इस अवस्था में शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक परिवर्तन होते हैं। वे व्यक्तिव विकास दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। अत: शैक्षिक दृष्टि से किशोरावस्था की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करना तथा किशोरावस्था में शिक्षा के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

नोट

किशोरवस्था का महत्त्व

मानव-जीवन के विकास की अवस्थाओं में किशोरावस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह जीवन का सबसे कठिन काल है। यह समय बाल्यावस्था तथा प्रौढ़ावस्था के मध्य का सन्धिकाल (Transitional Period) है अर्थात् बालक दोनों अवस्थाओं में रहता है अतः उसे न तो बालक समझा जाता है और न प्रौढ़। इस परिवर्तन काल में माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक तथा अन्य लोग जो कि बालक के वर्तमान और भविष्य के कल्याण और हित में रुचि रखते हैं तथा समाज की प्रगति चाहते हैं, उन सबको किशोरों के स्वस्थ विकास पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए जैसा कि क्रो और क्रो ने कहा है– "किशोर ही वर्तमान की शक्ति और भावी आशा को प्रस्तुत करता है।" (Youth represents the energy of the present and the hope of future.)

अतः स्पष्ट है कि अभिभावकों तथा शिक्षकों को विकासमान (Growing) किशोरों की प्रमुख विशेषताओं, आवश्यकताओं, रुचियों तथा विकास की सम्भावित शक्तियों (Growth Potentialities) के विषय में पूर्ण जानकारी होनी चाहिए ताकि वे उनके विकास में समुचित योग दे सकें। शैक्षिक दृष्टि से किशोरावस्था के महत्त्व पर इंग्लैड की हैडो कमेटी रिर्पाट में लिखा गया है– "ग्यारह या बारह वर्ष की आयु में बालक की नसों में ज्वार उठना आरम्भ हो जाता है, इसे किशोरावस्था के नाम से पुकारा जाता है। यदि इस ज्वार का बाढ़ के समय ही उपयोग कर लिया जाए एवं इसकी शक्ति और धारा के साथ-साथ नई यात्रा आरम्भ कर दी जाए, तो सफलता प्राप्त की जा सकती है। (There is a tide which begins to rise in the veins of you that the age of eleven or twelve. It is called by the name of adolescence. If that tide can be taken at the flood and a new voyage begun in thestrength and along the flow of its current, we think that it will move on to fortune.)

आज विद्यालयों में माध्यमिक, उच्चतर माध्मिक तथा स्नातक कक्षाओं के अधिकांश विद्यार्थी किशोरावस्था में होते हैं। वर्तमान युग में विद्यार्थियों से सम्बन्धित अनुशासन की समस्या ने एक व्यापक रूप धारण कर लिया है। अतः इन किशोरों की शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक और नैतिक शक्तियों को उचित दिशा देने के लिए तथा उनकी शिक्षा का स्वरूप निर्धारित करने के लिए उनकी प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है।

किशोरावस्था का अर्थ

किशोरावस्था को अंग्रेजी भाषा में 'एडोलसेन्स' (Adolescence) कहते हैं। यह शब्द लैटिन भाषा की 'एडोलेसियर' (Adolescere) क्रिया से बना है जिसका अर्थ है 'परिपक्वता की ओर बढ़ना' (To Grow to Maturity)। **ब्लेयर जोन्स** तथा **सिम्पसन** के अनुसार "किशोरावस्था प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में वह काल है, जो बाल्यावस्था के अन्त में प्रारम्भ होता है और प्रौढ़ावस्था के आरम्भ में समाप्त होता है।" किशोरावस्था की परिभाषा अन्य पाश्चात्य-मनौवैज्ञानिकों ने इस प्रकार की है–

जरसील्ड के अनुसार– "किशोरावस्था वह समय है जिसमें विकासशील व्यक्ति बाल्यावस्था से परिपक्वता की ओर संक्रमण करता (बढ़ता) है।" (Adolescence is a period through, which a growing person makes transition from childhood to maturity.)

स्टेनले हॉल के अनुसार–"किशोरावस्था बड़े संघर्ष, तनाव, तूफान तथा विरोध की अवस्था है।" (Adolescence is period of greatstress and strainstorm and strike.)

स्पष्ट है कि किशोरावस्था विकास की वह अवस्था है, जो तारुण्य से प्रारम्भ होती है और परिपक्वता के उदय होने पर समाप्त होती है।

नोट

सामान्य रूप से यह अवस्था 12 वर्ष की आयु से 18 वर्ष की आयु तक मानी जाती है, किन्तु विभिन्न देशों में व्यक्तिगत भेद, संस्कृति, जलवायु आदि के कारण किशोरावस्था के विकास की अवधि में कुछ अन्तर पाया जाता है। गर्म प्रदेशों में शीत-प्रधान प्रदेशों की अपेक्षा किशोरावस्था का आरम्भ शीघ्र होता है। बालकों की तुलना में बालिकाओं में किशोरावस्था का आरम्भ लगभग 2 वर्ष पूर्व हो जाता है।

कुछ मनोवैज्ञानकों ने किशोरावस्था को दो भागों में विभाजित किया है–

(1) पूर्व-किशोरावस्था (Early Adolescence) 12 से 16 वर्ष की आयु तक।

(2) उत्तर-किशोरावस्था (Late Adolescence) 17 से 19 वर्ष की आयु तक।

17 वर्ष की आयु को दोनों का विभाजक बिन्दु बताया है। जैसे कि हरलॉक ने कहा है, "पूर्व और उत्तर-बाल्यकाल के मध्य की विभाजन रेखा लगभग 17 वर्ष की आयु के आस-पास है.....।" (The dividing line between early and late adolescence is placed aroundseventeen years.)

उत्तर-बाल्यकाल तथा किशोरावस्था के बीच की अवधि को पूर्व-किशोरावस्था माना जाता है। इस समय बालक पूर्ण किशोर नहीं बनता, किन्तु उसके व्यवहार, मनोवृत्ति तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन दिखाई देने लगता है। पूर्व किशोरावस्था को 'एक बड़ी उलझन की अवस्था' कहा गया है, क्योंकि इस समय प्रायः माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षक उसे बात-बात पर डाँटते, रोकते या टोकते रहते हैं। वह सदा उलझनपूर्ण स्थिति में रहता है कि वह क्या करे?

पूर्व-किशोरावस्था को 'अत्यन्त द्रुत एवं तीव्र विकास का काल' भी कहा गया है। शारीरिक विकास के साथ-साथ इस समय विकास के सभी पक्षों में तेजी आ जाती है।

स्टेनले हॉल ने पूर्व-किशोरावस्था को 'एक अत्यन्त संवेगात्मक उथल-पुथल, झंझा और मानव तनाव की अवस्था' कहा है। कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह अवस्था 'एक अटपटी तथा समस्यावस्था' (Problem Age) भी कही गई है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अध्ययन की सुविधा एवं सरलता के लिए किशोरावस्था को 12, 13 वर्ष आयु से 18, 19 वर्ष की आयु तक मानना चाहिए।

किशोरावस्था के विकास के सिद्धान्त

किशोरावस्था के विकास के दो सिद्धान्त हैं–

1. **त्वरित विकास का सिद्धान्त** (Theory of Saltatory Development)–इस सिद्धान्त का समर्थन स्टेनले हॉल ने अपनी 'एडोलसेन्स' नामक पुस्तक में किया है। इनका कहना है कि किशोरों में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन आकस्मिक रूप से होते हैं जिनका शैशव या बाल्यकाल से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। **स्टेनले हॉल** के शब्दों में, "किशोर अथवा किशोरी में जो शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन होते हैं, वे एकदम छलांग मारकर आते हैं।"
2. **क्रमिक विकास का सिद्धान्त** (Theory of Gradual Development)–इस सिद्धान्त के समर्थक **थार्नडाइक**, **किंग** और **हालिंगवर्थ** (Thorndike, King and Hollingworth) हैं। इनका कथन है कि किशोरावस्था में शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक परिवर्तनों के फलस्वरूप जो नवीनताएँ दिखाई देती हैं, वे एकदम न आकर धीरे-धीरे क्रमशः आती हैं। इस सम्बन्ध में किंग महोदय का कथन है, "जिस प्रकार एक ऋतु के आगमन के चिह्न

दिखाई देने लगते हैं, उसी प्रकार बाल्यावस्था और किशोरावस्था एक-दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं।"

किशोरावस्था की मुख्य विशेषताएँ

नोट

किशोरावस्था की प्रमुख विशेषता के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक **बिग्गी** व **हन्ट** ने लिखा है– "किशोरावस्था की विशेषताओं को सर्वोत्तम रूप से व्यक्त करने वाला एक शब्द है– परिवर्तन। परिवर्तन शारीरिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक होता है।" (The one word best characterises adolescence is changae. The change is physiological,sociological and psychological.)

उपर्युक्त परिभाषा में दिये गए परिवर्तनों से सम्बन्धित किशोरावस्था की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. **शारीरिक परिवर्तन** (Bodily Changes)–किशोरावस्था में अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण शारीरिक परिवर्तन होते हैं। इस समय शारीरिक दृष्टि से यौवनारम्भ के लक्षण प्रकट होते हैं। बालिकाएँ स्त्रीत्व को तथा पुरुष पुरुषत्व को प्राप्त करते हैं। शारीरिक दृष्टि से बालकों और बालिकाओं में परिपक्वता आ जाती है।
2. **मानसिक विकास** (Mental Development)–किशोरावस्था में शारीरिक विकास के साथ मानसिक योग्यताओं में वृद्धि होती है। विशेष रूप से उनमें ये मानसिक गुण पाये जाते हैं– जैसे कल्पना, स्मृति, दिवास्वप्नों की अधिकता, तर्क, निर्णय-शक्ति में वृद्धि तथा विरोधी मानसिक दशाएँ (डववके) आदि।
3. **स्थायित्व एवं समायोजन का अभाव** (Lack of Stability and Adjustment)–इस समय किशोर की मन:स्थिति शिशु की भाँति अस्थिर होती है। रॉस ने किशोरावस्था को 'शैशवावस्था की पुनरावृत्ति' (Recapitulation) कहा है। इस समय उसमें इतनी तेजी से परिवर्तन होते हैं कि वह कभी कुछ विचार करता है और कभी कुछ। उसकी मनोदशा अस्थिर होती है। परिणामस्वरूप वह अपने को पर्यावरण से समायोजित (Adjust) करने में असमर्थ होता है।
4. **संवेगात्मक जीवन** (Emotional Life)–किशोर का जीवन बहुत ही भावात्मक होता है। संवेगात्मक आवेश में वह असम्भव एंव असाधारण कार्य करने का संकल्प कर डालता है। कभी वह अदम्य उत्साह से भरा होता है, कभी वह बहुत हतोत्साहित दिखाई देता है।
5. **विरोधी मानसिक दशाएँ** (Contrasting Mental Moods)–किशोर में विरोधी मानसिक दशाएँ उसे कभी स्वार्थी तथा कभी स्वार्थरहित बना देती हैं। इसका कारण संवेगात्मक जीवन में अपने को समायोजित न कर सकना है। किशोरावस्था उच्च स्तर पर (On Higher Level) प्रारम्भिक बाल्यकाल का पुनरावर्तन है। बौद्धिक रूप से वह अवश्य बालक से श्रेष्ठ होता है। पर संवेगात्मक रूप से वह अधिक उलझनयुक्त और अव्यवस्थित रहता है। प्राय: वह छोटी-छोटी बातों को लेकर शीघ्र ही अप्रसन्न हो जाता है। वह कभी अत्यन्त प्रसन्न और हँसता हुआ दिखाई देता है तो दूसरे क्षण ही दु:खी, चिन्तित और उदासीन दिखाई देता है।
6. **मानसिक स्वतंत्रता तथा अधिकारियों के प्रति विद्रोह की भावना** (Mental Independence and Revolt to Authority)–इस अवस्था में मानसिक स्वतंत्रता की भावना प्रबल होती है। किशोर बड़ों के आदेशों, विभिन्न परम्पराओं, रीति-रिवाजों और अन्धविश्वासों के बन्धन में

नोट

नहीं रहना चाहता। क्या है, यह उसे सन्तुष्ट नहीं करता वरन् 'कैसे है' इसकी संतुष्टि वह करना चाहता है। इस समय उनमें बिना तर्क किए किसी भी बात को न स्वीकार करने की प्रवृत्ति (No taken for granted attitude) दिखाई देती है।

7. **बुद्धि का अधिकतम विकास** (Maximum Development of Intelligence)– किशोरावस्था में बौद्धिक विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि 16 वर्ष की अवस्था तक सामान्यत: मानसिक आयु में वृद्धि होती है। बुद्धि-परीक्षण द्वारा मानसिक आयु ज्ञात होती है। बौद्धिक-विकास की पूर्णता के कारण किशोर में निम्नांकित बौद्धिक कार्यों को करने की क्षमता आ जाती है।
   (1) प्रत्ययों (Concepts) के आधार पर अमूर्त्त चिन्तन (Abstract Thinking) की क्षमता।
   (2) तर्क तथा निर्णय करने की क्षमता।
   (3) ध्यान-केन्द्रित करने की क्षमता।
   (4) स्मृति विस्तार (Memory Span) की क्षमता।
   (5) रचनात्मक कल्पना (Creative Imagination) की क्षमता।
8. **रुचियों में परिवर्तन** (Change in Interests)–किशोरावस्था में शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तनों के साथ उनकी रुचियों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। किशोर और किशोरियों की रुचियों में समानता भी होती रहती है तथा विभिनता भी पाई जाती है। दोनों में पत्र-पत्रिकाएँ, कहानियाँ, नाटक और उपन्यास पढ़ना, संगीत, कला, अभिनय में भाग लेना, सिनेमा देखना, रेडियों सुनना, अपने शरीर को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करना आदि प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। किशोरों में खेलकूद, व्यायाम, दौड़-धूप करना, साहस के कार्य करना आदि में विशेष रुचि होती है। किशोरियों में कढ़ाई-बुनाई, नृत्य और संगीत तथा शरीर को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करने में रुचि दिखाई देती है।
9. **काम-भावना का विकास** (Development of Sex Instinct)–किशोरावस्था में काम-प्रवृत्ति क्रियाशील हो उठती है। मनोवैज्ञानिक **रॉस** ने **स्लाटर** (Slaughter) के कथन का समर्थन किया है, "काम समस्त जीवन का नहीं तो किशोरावस्था का अवश्य ही मूल तथ्य है ... . एक विशाल नदी के अति प्रवाह के समान यह जीवन की भूमि के बड़े भागों को सींचता है एवं उपजाऊ बनाता है।" (Sex is the fundamental fact of adolescence, if not of all life. Like the overflow of great river, it irrkigates and fertilizes great tracks of life's territory.)

   नि:संन्देह किशोरावस्था का केन्द्रीय तथ्य यौनिक विकास (Sexual Development) है। **डॉ. जोन्स** (Jones) का विचार है कि किशोरावस्था से शैशवकाल के यौनिक इतिहास का पुनरावर्तन होता है अर्थात् शैशव का दबा हुआ (दमित) यौन आवेग (Repressed Sex Impulse) जो बाल्यकाल में सुप्त अवस्था में रहता है, पुन: जागृत हो जाता है। इस भावना के विकास के कारण किशोरों से बेचैनी, हाथ के नाखून चबाना, पेंसिल मुँह में देना, लड़कियों का बार-बार अपने आँचल को उंगलियों से लपेटना आदि व्यवहार दिखाई देते हैं। इस प्रवृत्ति का विकास तीन क्रमों में आगे बढ़ता है–

(क) **आत्म-प्रेम** (Auto-Eroticism)—प्रारम्भ में यह भावना आत्म-प्रेम के रूप में दिखाई देती है। इस अवस्था में वह अपने को यथासम्भव आकर्षक बनाने का प्रयास करता है। अपने को ही देखता, संवारता रहता है तथा अपने समान किसी को नहीं समझता, अपने में ही मस्त रहता है और अपने से ही प्रेम करता है। फ्रायड ने इस स्थिति को नर्सीसिज्म (Narcissism) कहा है।

(ख) **समलिंगीय काम-भावना** (Homo-Sexul Feeling)—आत्म-प्रेम की स्थिति के बाद बालक बालकों से और बालिका बालिकाओं से मित्रता एवं घनिष्ठता स्थापित करते तथा आकर्षित होते हैं। यह घनिष्ठता साथ-साथ घूमने-फिरने तथा घंटों बातचीत करने में देखी जा सकती है।

(ग) **विषमलिंगीय काम-भावना** (Hetro-sexual Feeling)—अंत में, उत्तर-किशोरावस्था में इस भावना के फलस्वरूप किशोर-किशोरी एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते तथा रुचि रखते हैं। वे परस्पर मिलने-जुलने बातचीत करने, घूमने-फिरने तथा साथ रहने की इच्छा रखते हैं। यहाँ यह कहना भी उचित प्रतीत होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि यौनिक विकास की ये तीनों अवस्थाएँ क्रमानुसार एक-दूसरे के बाद निश्चित समय पर आएँ वरन् ये साथ-साथ भी रह सकते हैं।

10. निर्भरता व अधीनता की प्रवृत्ति (Attitude of Dependence)—शैशव अवस्था में शिशु प्रत्येक कार्य के लिए माता-पिता पर निर्भर रहता है। उनके अभाव में वह अपने को आरक्षित समझता है। शैशवावस्था की भाँति इस समय किशोर में निर्भरता की प्रवृत्ति फिर से दिखाई देती है। यह निर्भरता आवश्यक नहीं कि माता-पिता के ही प्रति हो वरन् यह प्रवृत्ति प्रायः उन वीरों के प्रति होती है जो वास्तविक जीवन में, साहित्य में तथा इतिहास में पाये जाते हैं। वह इन नेताओं और महापुरुषों के आदर्श गुणों से प्रभावित होकर इनके आदर्शों का अनुयायी हो जाता है। इनके प्रति श्रद्धा भक्ति रखता है तथा इनकी पूजा करने लगता है। इसलिए किशोरावस्था 'वीर पूजा की अवस्था' (Hero-Worship Age) कही जाती है। वीर पूजा की प्रवृत्ति का लाभ उठाकर किशोर बालक-बालिकाओं के चरित्र का निर्माण किया जाता है।

11. धार्मिक भावना का उदय (Religious Feeling)—उपर्युक्त वर्णित निर्भरता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप धार्मिक चेतना का उदय होता है। किशोर ईश्वर के किसी-न-किसी रूप से प्रभावित होकर ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने लगता है। धार्मिक चेतना का प्रकाशन, आत्मसंयम, आत्मनियंत्रण, कर्त्तव्य-पालन तथा समाजसेवा के रूप में होता है।

12. समाज सेवा की भावना (Feeling of Social Service)—इस अवस्था में समाज सेवा की भावना प्रबल हो जाती है। इस सम्बन्ध में रॉस महोदय का कथन है, "किशोर, समाज-सेवा के आदर्शों का निर्माण और पोषण करता है। उसका उदार हृदय मानव जाति के प्रेम से ओत-प्रोत होता है और वह आदर्श समाज का निर्माण करने में सहायता देने के लिये उद्विग्न रहता है।"

13. कल्पना का बाहुल्य (Exuberance of Imagination)—किशोर अत्यधिक कल्पनाशील होता है। व्यावहारिक जीवन में किशोर अपनी सभी अभिलाषाओं को पूरा करने में अपने को असमर्थ पाता है। फलस्वरूप इन अभिलाषाओं की पूर्ति वह वास्तविक जीवन में न

नोट

करके कल्पना जगत में करने लगता है। छोटी-छोटी बातों को लेकर वह कल्पना में डूब जाता है। कल्पना की प्रबलता के कारण इस आयु में दिवास्वप्न (Day-Dream) देखने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति की अधिकता के कारण वह आत्मकेन्द्रित तथा अन्तर्मुखी बन जाता है। इस प्रवृत्ति से कभी-कभी हानि भी होती है। कुछ किशोरों में समाज-विरोधी भावनाओं की उत्पत्ति हो जाती है, वे असामाजिक तथा अनैतिक व्यवहार करने लगते हैं तथा प्राय: बाल अपराधी हो जाते हैं। किन्तु कभी-कभी कल्पना तथा दिवास्वप्नों के कारण किशोर साहित्य, संगीत और ललित कलाओं में सौन्दर्यात्मक और रचनात्मक-कल्पना शक्ति का प्रकाशन करते हैं। वे कहानियाँ, नाटक लिखने तथा अभिनय करने में रुचि दिखाते हैं। कल्पना-प्रवृत्ति के उन्नयन (Sublimation) द्वारा उनमें कलात्मक शक्ति का विकास सम्भव होता है और वे कवि, कलाकार, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, चित्रकार तथा संगीतज्ञ बनाये जा सकते हैं।

14. **परमार्थ की भावना** (Altruism)–शैशवास्था की स्वार्थ-भावना, किशोरावस्था में परमार्थ भावना अर्थात् दूसरों का उपकार करने की भावना का रूप ले लेती है। इस समय किशोर में त्याग व बलिदान की भावना प्रबल दिखाई देती है। यह देश और समाज के कल्याण के लिए प्राणों की बाजी लगा देने में भी संकोच नहीं करता है। इस समय उनमें अदम्य उत्साह एवं शक्ति होती है जो कि परमार्थ भावना को जन्म देती है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि किशोरों ने इस भावना से प्रेरित होकर राष्ट्र और समाज के लिए तथा उसकी बुराइयों को दूर करने के लिए मृत्यु तक को चुनौती दे दी।

15. **आत्म-सम्मान की भावना** (Feeling of Self Respect)–किशोरों में आत्मसम्मान की भावना प्रबल होती है। वे शीघ्र ही छोटी-छोटी बातों से अपने को अपमानित एवं तिरस्कृत समझने लगते हैं। अत: इस समय उनके साथ अमनोवैज्ञानिक व्यवहार न करके प्रेम और सहानुभूति द्वारा उचित बातों की शिक्षा देनी चाहिए। इस आत्मसम्मान की भावना के फलस्वरूप किशोरों में आत्मनिर्भर तथा स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने की भावना जागृत हो जाती है। कभी-कभी उनके आत्मसम्मान को ठेस लगने के कारण, उनमें घर से भागने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है और उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं कि घर से भागने की प्रवृत्ति के कारण कुछ लोग जीवन में बहुत उन्नति करते देखे गये हैं।

16. **अपराध प्रवृत्ति का विकास** (Development of Criminal Tendency)–इस अवस्था में इच्छापूर्ति में बाधा, निराशा और असफलता मिलने के कारण अपराध प्रवृत्ति का विकास होता है। इस सम्बन्ध में **वैलेन्टाइन** (Valentine) का विचार है– "किशोरावस्था अपराध-प्रवृत्ति के विकास का नाजुक समय है। पक्के अपराधियों की एक विशाल संख्या किशोरवस्था में ही अपने व्यावसायिक जीवन को गम्भीरतापूर्वक आरम्भ करती है।"

17. **समूह प्रवृत्ति का विकास** (Development of Gregarious Tendency)–किशोर बालक-बालिकाएँ अपने साथियों एवं मित्रों के साथ रहना अधिक पसन्द करते हैं। प्राय: वे किसी समूह के सदस्य होते हैं। अपने समूह को परिवार एवं विद्यालय से अधिक महत्त्व देते हैं। जिन समूहों से उनका सम्बन्ध होता है उनसे लगभग सभी कार्य प्रभावित होते हैं। समूह के अनुसार वे भाषा, नैतिक मूल्यों, वस्त्र पहनने की आदतों और भोजन करने की

नोट

विधियों को अपनाते हैं। समूह के किशोर की विशिष्ट स्थिति (Status) होती है और उसी के अनुसार वे कार्य करते हैं। समूह की स्थिति और कार्य (Roles) उनके भावी जीवन को निर्धारित करने में योग देते हैं।

18. **बहिर्मुखी प्रवृत्ति** (Extrovert tendency)–किशोरावस्था में किशोर पुनः बहिर्मुखी हो जाता है। उसकी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक रुचियों का विकास व्यापक क्षेत्र में होता है। वह अपने चारों ओर के वातावरण तथा क्रियाओं में रुचि लेता है। विद्यालय तथा समाज के विभिन्न कार्यक्रमों में वह भाग लेना चाहता है। बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कारण उसमें आत्मनिर्भरता, आत्म-नियंत्रण, सहयोग, अनुशासन, परोपकार की भावना आदि गुणों का विकास होता है।

19. **व्यवसाय चुनाव की चिन्ता** (Anxiety for Vocational Selection)–इस अवस्था में ही किशोर अपने भावी व्यवसाय को चुनने के लिए चिन्ता करने लगता है। वह एक कुशल डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, शिक्षक, कलाकार या सफल किसान बनकर जीवन व्यतीत करने की कल्पना और चिन्ता किया करता है तथा व्यवसाय के अनुसार ही पाठ्य-विषयों का चुनाव भी करता है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किशोरावस्था में बालक की अनेक नवीन विशेषताएँ दिखाई देती हैं। इस सम्बन्ध में **स्टेनले हॉल** का कथन है– "किशोरावस्था एक नया जन्म है, क्योंकि इसी में उच्चतर और श्रेष्ठतर मानव विशेषताओं के दर्शन होते हैं।" (Adolescence is a new birth, for the higher and more completely human traits are new born.)

किशोरावस्था में व्यवहार का निरीक्षण

किशोरावस्था एक संक्रमण की अवस्था है जिसमें बालक न बालक रहता है न ही प्रौढ़। इसे सामान्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– पूर्व किशोरावस्था और उत्तर किशोरावस्था। पूर्व किशोरावस्था जीवन का वह काल है जिसे प्रायः तूफान और तनाव का काल कहा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस आयु में नवकिशोर का माता-पिता, शिक्षकों और मित्रों के साथ अनेक बार संघर्ष हो जाता है। उसकी संवेगशीलता, बाल्यावस्था की अपेक्षा बढ़ जाती है तथा उसके साथ रहना या काम करना मुश्किल होता है। वे समझते हैं प्रौढ़ उन्हें सामूहिक रूप से निन्दा, आलोचना और तिरस्कार का लक्ष्य बनाते हैं। नव किशोर के व्यवहार का अध्ययन करने के पश्चात् निम्न लक्षण सामने आते हैं जैसे–

1. नव किशोर अस्थिर होते हैं।
2. नव किशोर के सामने अनेक समस्याएँ होती हैं।
3. नव किशोर दुःखी और असन्तुष्ट होते हैं।
4. नव किशोरों में विभिन्न संवेगों यथा– क्रोध, भय, आकुलता, ईर्ष्या, स्पर्धा, स्नेह, जिज्ञासा आदि की प्रमुखता रहती है।
5. अब सामाजिक व्यवहार परिवर्तित होता है।
6. वे समूह निर्माण, मंडलियाँ, भीड़ और मित्र मण्डली आदि बनाने में अग्रसर रहते हैं।
7. उनमें विषम लिंगीय प्यार पाया जाता है।

8. उनमें समलिंगीय काम भावना भी पायी जाती है।
9. नवकिशोर में कल्पना का बाहुल्य होता है।
10. उनमें आत्म-सम्मान की भावना प्रबल होती है।

नोट

उनके व्यवहार का अध्ययन करने के लिए उनसे सम्बन्धित प्रश्नावली बनाकर उसका निरीक्षण किया जा सकता हैं जैसे– उनका संक्षिप्त परिचय, उनकी प्रमुख समस्याएँ आदि।

किशोरावस्था में शिक्षा का स्वरूप

किशोरावस्था की प्रमुख विशेषताओं तथा विकास सम्बन्धी परिवर्तनों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो गया है कि यह जीवन का सबसे कठिन और नाजुक समय है। इस समय किशोर में शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से क्रांतिकारी परिवर्तन होते हैं। इसी अवस्था में वह अच्छा बुरा, देश-प्रेमी व देशद्रोही, धार्मिक या अधार्मिक, परिश्रमी या अकर्मण्य, सभ्य, शिष्ट व सामाजिक या असभ्य, अशिष्ट, असामाजिक आदि बन सकता है। अत: किशोरों को उचित मार्ग-प्रदर्शन करना अनिवार्य है। शैक्षिक दृष्टि से यह काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए किशोरों के भावी जीवन के निर्माण में माता-पिता, अभिभावकों तथा शिक्षकों का उनके लिए उपयुक्त एवं सुनियोजित शिक्षा की व्यवस्था करना, परम कर्त्तव्य है। इस सम्बन्ध में **वैलेन्टाइन** का यह वाक्य उल्लेखनीय है– "मनोवैज्ञानिकों द्वारा बहुत समय तक उपदेश दिये जाने के बाद अन्त में यह बात व्यापक रूप से स्वीकार की जाने लगी है कि शैक्षिक दृष्टि से

किशोरावस्था का अत्यधिक महत्त्व है। (After long preacing on the part of psychologist, the great importance of the period of adolescence from an educational point of veiw is at last being widely recognised.)

किशोरावस्था में शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक तथा सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा का स्वरूप निर्धारित होना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नांकित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है–

1. **शारीरिक विकास के लिए शिक्षा–**किशोरावस्था में शारीरिक विकास द्रुत गति से होता है इसलिए सर्वप्रथम इस समय स्वास्थ्य पर ध्यान देना चाहिए। शरीर को सबल तथा स्वस्थ रखने के लिए घर तथा विद्यालय दोनों की व्याख्या करनी चाहिए। उनके लिए पौष्टिक भोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा, विभिन्न प्रकार के शारीरिक व्यायाम तथा खेलकूद का प्रबन्ध करना आवश्यक है। किशोरों के शारीरिक एंव **गति** (Motor) विकास में विद्यालयों में व्यायाम तथा खेलकूद सम्बन्धी क्रियाओं जैसे कसरत, कुश्ती, फुटबाल, हॉकी, वालीबॉल, कबड्डी, तैरना तथा अन्य व्यायाम की व्यवस्था होनी चाहिए। इन सबसे उसमें अच्छा शरीरिक स्वास्थ्य तथा स्वच्छता सम्बन्धी आदतों का निर्माण एवं विकास होता है। स्वस्थ शारीरिक विकास पर ही उसके अन्य पक्षों का विकास आधारित है। किशोरों को भ्रमण, यात्रा, पिकनिक, प्रकृति निरीक्षण आदि के लिए भी ले जाना चाहिए।
2. **मानसिक विकास के लिए शिक्षा–**किशोरावस्था में मानसिक विकास की विशेषताओं के अनुसार किशोरों की बुद्धि, निरीक्षण शक्ति, तर्क-शक्ति, चिन्तन शक्ति, स्मृति तथा कल्पना-शक्ति का विकास उनकी रुचि, रुझान, योग्यता एवं क्षमता के अनुसार किया जा सकता है। इसके लिए शिक्षा में इन बातों को स्थान देना चाहिए।

नोट

(क) पाठ्यक्रम में कक्षा, विज्ञान, साहित्य, इतिहास, भूगोल तथा विद्यालय के पाठ्य विषयान्तर विषयों को रखना चाहिए।

(ख) विद्यालय में पुस्तकालय, वाचनालय, प्रयोगशाला, संग्रहालय आदि साधन प्रदान किए जाएँ।

(ग) किशोर की जिज्ञासा प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए तथा निरीक्षण शक्ति को प्रशिक्षित करने के लिए पाठ्य विषयों को पढ़ाने के अलावा प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक स्थानों पर भ्रमण के लिए ले जाना चाहिए।

(घ) उसकी रुचियों, कल्पनाओं, दिवास्वप्नों तथा भावुकता का लाभ उठाकर उसे साहित्य, संगीत, कला तथा वैज्ञानिक शोध-कार्यों में लगाया जा सकता है। इसके लिए पर्यटन, वाद-विवाद, साहित्यिक गोष्ठी आदि पाठ्य विषयान्तर क्रियाओं का आयोजन करना चाहिए।

(ङ) भाषा-ज्ञान का मानसिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः विद्यालय में उन्हें शुद्ध बोलने तथा लिखने का अभ्यास कराया जाए तथा उनके शुद्ध उच्चारण पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाए।

3. **संवेगात्मक विकास के लिए शिक्षा**–किशोरावस्था में संवेगात्मक जीवन में उथल-पुथल-सी मच जाती है। किशोर पूर्व विकसित स्थायी भावों तथा नई-नई भावनाओं एवं संवेगों पर नियंत्रण पाने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं। वह अनेक प्रकार के संवेगों से संघर्ष करते रहते हैं। इन संवेगों कुछ अच्छे और कुछ निकृष्ट संवेग होते हैं। कभी-कभी उन्हें ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है कि वह अपने कर्त्तव्य को नहीं समझ पाते। ऐसी स्थिति में वह प्रायः उदास तथा हताश दिखाई देते हैं और मानसिक ग्रंथियों का शिकार हो जाते हैं। अतः शिक्षा द्वारा उनके निकृष्ट एवं दुखद संवेगों का दमन या मार्गान्तरीकरण करके उचित एवं उत्तम संवेगों का विकास किया जाए। संवेगात्मक विकास के लिए इन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(क) संवेगों और मूल-प्रवृत्तियों का शोधन (Sublimation) करने की शिक्षा दी जाए। संवेगों को प्रशिक्षित करने की यह उत्तम विधि है। इस विधि के द्वारा संवेगों के प्रकाशन का स्वरूप बदल दिया जाता है। इसके लिए उनमें साहित्य, संगीत तथा सांस्कृति कार्यक्रमों के प्रति रुचि जागृत करनी चाहिए। संवेग-शोधन का उदाहरण महाकवि कालिदास के काम-प्रवृत्ति के संवेग का साहित्य प्रेम में परिवर्तन होना। काम-प्रवृत्ति का लाभ उठाकर किशोरों में शिष्टाचार, कलात्मक रुचि तथा सुन्दर आदतों का निर्माण किया जा सकता है।

(ख) वीर पूजा भाव तथा आदर्शवाद की प्रवृत्ति का लाभ उठाकर चरित्र गठन तथा सुन्दर स्थायी भावों का निर्माण किया जा सकता है। इसके लिए उन्हें महापुरुषों की जीवनियाँ तथा अच्छा साहित्य पढ़ने के लिए देना चाहिए।

(ग) नैतिक और धार्मिक शिक्षा देने के लिए उन्हें उचित पर्यावरण प्रदान किया जाए।

(घ) संवेगात्मक शिक्षा देने के लिए अभिभावकों तथा अध्यापकों को किशोरों के संवेगों का भी अध्ययन करना आवश्यक है।

4. **सामाजिक विकास के लिए शिक्षा**–शिक्षा का एक मुख्य कार्य सामाजिक भावना का विकास करना है। सामाजिक विकास के बिना व्यक्ति अपने वातावरण में समायोजन स्थापित नहीं कर सकता। किशोरों के सामाजिक विकास में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक विकास पर पाठ्य विषयान्तर कार्यक्रमों, खेलकूद, स्काउटिंग, स्कूल का वातावरण, पत्र-पत्रिकाएँ, आकाशवाणी आदि का प्रभाव पड़ता है। सामाजिक विकास को दृष्टि में रखते हुए शिक्षा में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है–
   (क) सामाजिक-समायोजन (Social Adjustment)– करने का ज्ञान देना।
   (ख) समूह-नैतिकता (Group Morality) पर बल देना। उनमें नेतृत्व, उत्साह, सहयोग, सहानुभूति, सद्भावना आदि गुणों के विकास के लिए प्रयत्न करना।
   (ग) मैत्री-भाव विकसित करना।
   (घ) स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना का विकास करना।
   (ङ) सामूहिक रूप से पाठ्य विषयान्तर कार्यक्रमों का आयोजन करना तथा उनमें भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना।
   (च) अपने देश, समाज तथा मानव-संस्कृति से परिचित करना।
5. **धार्मिक और नैतिक शिक्षा**–नैतिक विकास के लिए उनके सामने अच्छे आदर्श, व्यवहार एवं आचरण प्रस्तुत किए जाएँ। **रॉस** ने कहा है, "नैतिक चरित्र का उच्चतम विकास तब होता है जबकि व्यवहार, सामाजिक प्रशंसा अथवा दोष से नहीं वरन् आदर्शों से निर्देशित होता है।" किशोरावस्था में मस्तिष्क में निरन्तर विरोधी विचार उठा करते हैं। किशोर उचित-अनुचित व्यवहार में अन्तर नहीं कर पाता। अत: उसे विद्यालय में धार्मिक और नैतिक शिक्षा अवश्य देनी चाहिए।
6. **व्यक्तिगत विभिन्नता के अनुसार शिक्षा**–किशोरावस्था में किशोरों की शिक्षा के लिए विद्यालयों में उनकी रुचि रुझान, क्षमता एवं योग्यता के अनुसार विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके साथ ही विद्यालयों में शैक्षिक निर्देशक (Educational Guidance) तथा व्यावसायिक निर्देशन (Vocational Guidance) की भी व्यवस्था हो तथा पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों का समावेश हो जिनके द्वारा वह भविष्य में अपनी रुचि एवं आवश्यकतानुसार किसी व्यवसाय का चुनाव कर सकें।
7. **उपयुक्त शिक्षण-विधि का प्रयोग**–किशोरावस्था में स्वयं परीक्षण, तर्क, विचार एवं चिन्तन करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। किशोर परम्परागत शिक्षा देने की विधियों से न तो सन्तुष्ट होता है और न लाभान्वित ही। अत: रॉस महोदय का विचार है कि "विषयों का शिक्षण व्यावहारिक ढंग से होना चाहिए और उनका दैनिक जीवन की बातों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए।"
8. **यौन-शिक्षा की आवश्यकता**–किशोरावस्था में अधिकांश समस्याओं का सम्बन्ध उनक इसी प्रवृत्ति से होता है। भारतीय परिवारों में इस प्रकार की शिक्षा देने पर जरा भी ध्यान नहीं दिया जाता, क्योंकि इस विषय पर बात करने में लज्जा और संकोच का अनुभव किया जाता है। फलस्वरूप इस विषय की अज्ञानता का प्रभाव किशोरों और किशोरियों पर अधिक बुरा पड़ता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि किशोरावस्था में काम-प्रवृत्ति को उचित दिशा में ले जाने के लिए, उन्हें उपयुक्त ढंग से शिक्षा देना आवश्यक है। रॉस

नोट

महोदय ने भी इस शिक्षा की आवश्यकता एवं विधि पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा है– "यौन शिक्षा की परम आवश्यकता को कोई भी अस्वीकार नहीं करता है। इस बात की आवश्यकता है कि किशोर को एक ऐसे वयस्क द्वारा गोपनीय शिक्षा दी जाए जिस पर उसे पूर्ण विश्वास हो।"

9. **सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार**–किशोरावस्था में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होने के कारण, किशोर हर समय किसी-न-किसी समस्या को लेकर एक उलझनपूर्ण स्थिति में रहता है। उनकी कठिनाइयों तथा समस्याओं का समाधान करने के लिए माता-पिता, अभिभावकों तथा शिक्षकों को उससे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। इस अवस्था में किशोर बड़ों द्वारा लगाये गये नियंत्रणों और बन्धनों को पसन्द नहीं करता। वह अपने कार्यों को करने के लिए स्वतंत्रता चाहता है। अत: उसे उत्तरादायित्व देकर स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर देना चाहिए।

किशोरावस्था में शिक्षक की भूमिका

किशोरावस्था को तनाव और तूफान की अवस्था कहा गया है। यही अवस्था है जब किशोर न तो बालक रहता है और न पूर्ण प्रौढ़ बन पाता है। इसे परिवर्तन की अवस्था भी कहा गया है। इस अवस्था में परिवर्तन का अंबार-सा लगा रहता है। उसमें अनेक शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं। उनके संवेगात्मक, सामाजिक और नैतिक जीवन का स्वरूप बदल जाता है।

मानव जीवन के विकास में इस अवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस अवस्था में किशोर में क्रांतिकारी परिवर्तन होते है। **बिग्गी** और **हन्ट** (Bigge and Hunt) के अनुसार, "किशोरावस्था की विशेषताओं को सर्वोत्तम रूप से प्रकट करने वाला एक शब्द है– परिवर्तन। परिवर्तन शारीरिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक होता है।" (The one word which best characterize Adolescence is change. The change is philosophical,sociological and psychological.)

किशोरावस्था में किशोर और किशोरियों में एक नवीन शक्ति और एक अभूतपूर्व स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है। नवीन अभिलाषाएँ उनमें नवीन रूप से उठने लगती हैं। नई-नई उमंगे और भावनाएँ उन्हें आंदोलित करती हैं। तन मन विकसित होने से उनकी रुचियाँ बदलने लगती हैं और कल्पनाएँ उनके मस्तिष्क को भर-सा देती हैं। उनमें प्रौढ़तासूचक चिह्न प्रकट होने लगते हैं। शारीरिक परिवर्तन के कारण उनका संवेगात्मक सन्तुलन समाप्त हो जाता है। बेचैनी और अस्थायित्व आ जाता है, तनाव और संघर्ष पैदा हो जाता है। अत: ऐसी स्थिति में शिक्षक का दायित्व बनता है कि वह अपना पूर्ण सहयोग देकर उनका सही मार्गदर्शन करें। एक मित्र के रूप में व्यवहार कर उनकी जिज्ञासाओं को शान्त करें और अनेक प्रकार की शिक्षा दें।

1. **शारीरिक शिक्षा की व्यवस्था**–किशोरावस्था में किशोर एवं किशोरियों के शरीर में अनेक क्रान्तिकारी बदलाव आते हैं। अत: ऐसी स्थिति में शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वह उनके सन्तुलित शारीरिक विकास के लिए सचेत रहें। इसके लिए शारीरिक शिक्षा को अनिवार्य विषय बनाया जाना चाहिए। साथ ही अभिभावकों और उनके माता-पिता को अच्छे पौष्टिक आहार देने के लिए प्रेरित करना चाहिए।
2. **सामाजिकता की शिक्षा**–किशोरावस्था में सामाजिकता की प्रवृत्ति व समाज के प्रत्येक काम में सहभागिता की प्रवृत्ति अत्यन्त तीव्र रूप में पाई जाती है। अत: यहाँ शिक्षक

नोट

का दायित्व बनता है कि ऐसी स्थिति में उनको सहयोग, प्रेम, अनुशासन, कर्त्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी, सहानुभूति जैसे उत्तम गुणों का विकास करें। विद्यालय में ऐसे समूहों को संगठित करें जिनके सदस्य के रूप में वह उपरोक्त गुणों को ग्रहण कर सकें। इसमें सामूहिक खेल, स्काउटिंग, पर्यटन, एनसीसी, एनएनएस आदि की सक्रिय भूमिका सराहनीय है। अत: विद्यालय में किशोर को स्वाभाविक, प्रभावशाली और प्रजातंत्रीय वातावरण दिया जाना चाहिए तभी उचित ढंग से समाजीकरण सम्भव है।

योग्य, शिष्ट, संयत, सहानुभूतिपूर्ण, सहयोगी, स्नेहमय, कोमल स्वभाव वाला और अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक शिक्षक किशोरों के स्वस्थ सामाजिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। **स्ट्रैंग** (Strang) के अनुसार–"वास्तविक सामाजिक ग्रहणशीलता और योग्यता वाले शिक्षकों से दैनिक सम्पर्क बालक के सामाजिक विकास में बहुत अधिक योग देता है।"

3. **संवेगात्मक शिक्षा**–किशोरावस्था में संवेगों की बहुत प्रबलता होती है। वह विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित करता है। बी.एन.झा (B. N.Jha) के अनुसार, "किशोरावस्था में संवेगात्मक विकास में इतनी विभिन्नता होती है कि किशोर एक ही परिस्थिति के विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित करता है। जो परिस्थिति एक अवसर पर उसे आनन्दमय बनाती है, वही परिस्थिति दूसरे अवसर पर उसे दुखी बनाती है।" इसके साथ ही किशोरावस्था में काम भावना की प्रबलता के कारण प्रेम का संवेग अत्यधिक तीव्र होता है। **बी. एन. झा** के अनुसार, "किशोरावस्था में किशोर बालक-बालिकाओं में काम प्रवृत्ति बहुत ही तीव्र हो जाती है जो उनके संवेगात्मक व्यवहार पर असाधारण प्रभाव डालती है।" बालक के सन्तुलित संवेगात्मक विकास में शिक्षक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। परिवार के बाद शिक्षक ही वह महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है जो बालक के संवेगात्मक व्यवहार को सबसे अधिक प्रभावित करता है। शिक्षक किशोर के समक्ष अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करके, अच्छे आदर्शों का अनुसरण करने की इच्छा उत्पन्न करके और उपयुक्त वातावरण का निर्माण करके उसमें वांछनीय संवेगों का विकास कर सकता है और अवांछनीय संवेगों को बढ़ने से रोक सकता है। इस प्रकार शिक्षक उनमें अच्छी आदतों को विकसित कर आदर्श चरित्र का निर्माण कर सकता है। अत: आवश्यक है कि शिक्षक का व्यवहार किशोर के प्रति अत्यन्त प्रेमपूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण, कोमल एवं मधुर होना चाहिए।

4. **मानसिक विकास**–किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन की तरह मानसिक परिवर्तन भी बड़ी द्रुत गति से होते हैं। वुडवर्थ का मानना है कि व्यक्ति का मानसिक विकास पन्द्रह से बीस वर्ष की अवस्था में अपनी उच्चतम सीमा पर पहुँच जाता है। किशोरावस्था में बुद्धि का अधिकतम विकास हो जाता है। **बी. एन. झा** के अनुसार "जहाँ तक बुद्धि के विकास का सम्बन्ध है, यह किशोरावस्था के अन्तर्गत अपनी उच्चतम सीमा पर पहुँच जाता है।" अत: शिक्षक को किशोर के मानसिक विकास का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। शिक्षक को बालक के शारीरिक स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। उसके द्वारा उन्हें स्वास्थ्य और शरीर निर्माण के विषय में विशेष रूप से शिक्षा दी जानी चाहिए। खेलों की व्यवस्था, अच्छे व्यायाम का अभ्यास आदि भी कराया जाना चाहिए। शिक्षक द्वारा अनुकरण, संग्रह, जिज्ञासा आदि प्रवृत्तियों को बढ़ावा देकर किशोरों में अच्छी आदतों का विकास करना

नोट

चाहिए। मानसिक योग्यताओं, झुकावों और रुचियों के आधार पर व्यक्ति को व्यावसायिक निर्देश देना चाहिए जिससे वह भविष्य सुनिश्चित कर सके।

5. **भाषा विकास**–भाषा भावनाओं की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। इसके माध्यम से ही व्यक्ति अपने विचारों एवं भावों को दूसरों तक पहुँचाता है। भाषा विकास किशोर के सामाजिक और संवेगात्मक विकास में बहुत सहायक होता है। किशोरावस्था में किशोर का शब्दकोष अत्यन्त व्यापक हो जाता है। **'स्टैनफोर्ड बिने'** मापदण्ड (Stanford Binet Scale) द्वारा प्रतिपादित प्रतिमानों के अनुसार किशोर का शब्द चयन विस्तार इस क्रम में बढ़ता है– 14 वर्ष की आयु पर नौ हजार शब्द, 16 वर्ष की आयु पर ग्यारह हजार सात सौ शब्द और 18 वर्ष की आयु पर तेरह हजार पाँच सौ शब्द। उच्च सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले परिवारों के बालकों के शब्द चयन का विकास निम्न सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले परिवारों के किशोरों की अपेक्षा अच्छा होता है। इस अवस्था में कल्पना के बाहुल्य के कारण कहानी, कविता, साहित्य आदि के अध्ययन में विशेष रुचि उत्पन्न होती है जिससे भाषा विकास में बहुत अधिक सहायता मिलती है। अत: शिक्षक को चाहिए कि उन्हें अच्छे साहित्य का ज्ञान कराएँ और उसके अध्ययन के लिए उन्हें प्रेरित करें ताकि उनमें न सिर्फ भाषा का अच्छा विकास हो वरन् उनमें स्वस्थ विचार शक्ति उत्पन्न हो। यह स्वस्थ विचार शक्ति ही उनके भावी जीवन की तैयारी का प्रतीक है।

6. **बौद्धिक क्रियाओं के आयोजन की व्यवस्था**–किशोरावस्था में किशोर और किशोरियों का सर्वाधिक विकास होता है। अत: उनके बौद्धिक विकास के लिए शिक्षकों को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। जिस प्रकार शारीरिक विकास के लिए शारीरिक व्यायाम आवश्यक है, उसी प्रकार बौद्धिक विकास के लिए बौद्धिक व्यायाम अर्थात् विद्यालय में बौद्धिक गतिविधियाँ और बौद्धिक कार्यक्रम यथा–प्रश्न मंच, पहेली, वाद-विवाद, तर्क-भाषण कविता-लेखन, निबन्ध लेखन आदि विभिन्न क्रियाओं का आयोजन किया जाना चाहिए। बुद्धि परीक्षणों के प्रयोग से भी इनमें सहयोग दिया जा सकता है। प्राय: सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि बुद्धि परीक्षाओं से सीखने की क्षमता के विषय में उपयोगी जानकारियाँ मिलती हैं। ये परीक्षाएँ किशोरों की विभिन्न विषयगत क्षमताओं का ज्ञान करने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। एक सफल शिक्षक को इन सभी का विस्तृत ज्ञान होना आवश्यक है।

7. **यौन शिक्षा**–यौन शिक्षा किशोरावस्था में एक आवश्यक शिक्षा है क्योंकि इस अवस्था में शारीरिक परिवर्तन होते हैं जिनके परिणामस्वरूप किशोरावस्था में काम प्रवृत्ति का ज्वार-सा आता है। किशोर की अनेक समस्याओं की जड़ में काम प्रवृत्ति ही होती है। इसी कारण उनके संवेग, व्यवहार, रुचि आदि में अस्थिरता रहती है। अत: शिक्षकों को चाहिए कि वह किशोरों को यौन शिक्षा दें, जिससे उनमें काम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित हो। किशोरावस्था की शुरुआत ही किशोर और किशोरियों में भय एवं उद्वेग उत्पन्न कर देती है। किशोरों में स्वप्नदोष होता है जिसके कारण उसके वीर्य का स्राव होता है। किशोरियों में मासिक धर्म होता है जिसमें रक्तस्राव होता है। इनका ज्ञान न होने से ऐसी दशा में दोनों ही बहुत घबराते हैं। इसको एक प्रकार की बीमारी मानते हैं। अत: ऐसी अवस्था में वीर्यपात होने से पूर्व लड़कों और रजस्वला होने से पूर्व लड़कियों को यौन अंगों की सरंचना

नोट

उनके कार्य, वीर्य सम्बन्धी तथा रजोदर्शन सम्बन्धी ज्ञान देना आवश्यक है। इस शिक्षा द्वारा किशोरों-किशोरियों में विषमलिंगी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण पैदा करना चाहिए। उनको सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया का भी ज्ञान होना चाहिए। परन्तु शिक्षा का स्वरूप उत्तेजक नहीं होना चाहिए। शिक्षकों को चाहिए कि ऐसे रचनात्मक कार्यों में किशोरों को लगाएँ जिससे उनमें कामशक्ति का मार्ग परिवर्तित हो सके, जैसे-साहित्य, कला, संगीत, समाजसेवा आदि।

8. **उपयुक्त शिक्षण-प्रविधियों का प्रयोग**–किशोरावस्था में शारीरिक और बौद्धिक विकास चरम सीमा पर होता है। अत: शिक्षक को ऐसी शिक्षण-प्रविधियों का उपयोग करना चाहिए जिससे कि छात्र-छात्राओं को स्वयं परीक्षण, निरीक्षण, विचार और तर्क करने की शक्ति का अभ्यास करने का अवसर मिल सके। इस अवस्था में भी करके सीखने पर बल देना चाहिए। इस प्रकार किशोर की कल्पना शक्ति भी विकसित होती है। अतएव शिक्षक अपने शिक्षण में उसका भी उपयोग कर सकता है। उसे आत्म-प्रदर्शन के अवसर दिए जाने चाहिए। इसके लिए कक्षा में पाठ्य सहगामी क्रियाओं के संगठन पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उपयुक्त शिक्षण प्रविधियों के प्रयोग से इस अवस्था का सही मार्गदर्शन किया जा सकता है। उनमें स्वानुशासन और आत्म नियंत्रण की भावना का भी विकास करना अध्यापक का ही दायित्व है।
9. **शिक्षक का उचित व्यवहार**–शिक्षक छात्र के लिए आदर्श होता है। उसके व्यवहार का छात्रों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। किशोर के साथ बालक या शिशु जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। अधिकांश माता-पिता या अभिभावक और शिक्षक उन्हें शिशु या बालक ही समझते हैं जिस व्यवहार से वे चिढ़ जाते हैं। अत: शिक्षक को चाहिए कि उनके साथ सहानुभूति पूर्ण और वयस्क जैसा व्यवहार करें, जिससे उनमें सांवेगिक व्यवहार में स्थिरता बनी रहे। उनमें उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व की स्थिति में उन्हें नैतिक शिक्षा की जानकारी देना आवश्यक है। नैतिकता की शिक्षा सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक होनी चाहिए। इसको लिए अध्यापकों को उपदेश के स्थान पर उदाहरण प्रस्तुत करने चाहिए।
10. **शैक्षिक पर्यटन और जीवन दर्शन की शिक्षा**–इस अवस्था में शिक्षक द्वारा शैक्षिक पर्यटनों का आयोजन अवश्य किया जाये जिससे किशोरों का ज्ञानवर्द्धन, मानसिक, सामाजिक और नैतिक विकास हो सके। किशोरावस्था में प्रारम्भ में किशोर के जीवन का प्रति कोई निश्चित दृष्टिकोण नहीं होता। वह सुख-दुख, उत्साह-उदासीनता, नैतिक-अनैतिक आदि परस्पर विरोधी भावनाओं का अनुभव करता रहता है। इस प्रकार से मानसिक संघर्षों के बाद वह अपने जीवन दर्शन का निर्माण करना चाहता है। अत: शिक्षक को चाहिए कि वह जीवन दर्शन की उन्हें जानकारी दे।

2.9 संज्ञानात्मक विकास का अर्थ

संज्ञानात्मक विकास मनुष्य के विकास का महत्वपूर्ण पक्ष है। 'संज्ञान' शब्द का अर्थ है 'जानना' या 'समझना'। यह एक ऐसी बौद्धिक प्रक्रिया है जिसमें विचारों के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। संज्ञानात्मक विकास शब्द का प्रयोग मानसिक विकास के व्यापक अर्थों में किया जाता है जिसमें बुद्धि के अतिरिक्त सूचना का प्रत्यक्षीकरण, पहचान, प्रत्याह्वान और व्याख्या आता है। अत: संज्ञान में मानव की विभिन्न मानसिक गतिविधियों का समन्वय होता है।

नोट

मनोवैज्ञानिक 'संज्ञान' का प्रयोग ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया के रूप में करते हैं। 'संज्ञानात्मक मनोविज्ञान' शब्द का प्रयोग Vlric Neisser ने अपनी पुस्तक 'संज्ञानात्मक मनोविज्ञान' में सन् 1967 ई. में किया था।

संज्ञानात्मक विकास इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य किस प्रकार तथ्यों को ग्रहण करता है और किस प्रकार उसका उत्तर देता है। संज्ञान उस मानसिक प्रक्रिया को सम्बोधित करता है जिसमें चिन्तन, स्मरण, अधिगम और भाषा के प्रयोग का समावेश होता है। जब हम शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में संज्ञानात्मक पक्ष पर बल देते है तो इसका अर्थ है कि हम तथ्यों और अवधारणाओं की समझ पर बल देते हैं।

यदि हम विभिन्न अवधारणाओं के मध्य के सम्बन्धों को समझ लेते हैं हमारी संज्ञानात्मक समझ में वृद्धि होती है संज्ञानात्मक सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति किस प्रकार सोचता है, किस प्रकार महसूस करता है और किस प्रकार व्यवहार करता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया अपने अन्दर ज्ञान के सभी रूपों यथा स्मृति, चिन्तन, प्रेरणा और प्रत्यक्षण को शामिल करती है।

2.10 प्याजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त

संज्ञानात्मक मनोविज्ञान के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण स्थान Jean Piaget का है। उन्होंने अपने तीन बच्चों और एक भतीजे के विकास का अध्ययन किया और बताया कि बच्चों का संज्ञानात्मक विकास बड़ों के संज्ञानात्मक विकास से अलग होता है। बच्चों का संज्ञानात्मक विकास यथार्थ की एक अलग समझ पर आधारित होता है जो कि परिपक्वता और अनुभव के साथ धीरे-धीरे बदलता जाता है। इन सभी बदलावों को आयु के आधार पर अवस्थाओं में बांटा जा सकता है।

संवेदी-गामक अवस्था

यह अवस्था जन्म से दो वर्ष तक चलती है। इस अवस्था का बालक चीजों को इधर-उधर करना, वस्तुओं को पहचानने की कोशिश करना, किसी चीज को पकड़ना, मुंह में डालना आदि क्रियाएं करता है। इन क्रियाओं के माध्यम से शिशु अपने आस-पास के वातावरण का संवेदी-गामक ढांचा बनाता है अर्थात उसकी संवेदनाएँ परिष्कृत होती है तथा पेशीयों में मजबूती व गत्यात्मक क्रियाओं में नियन्त्रण आना प्रारम्भ हो जाता है। शिशु असहाय जीवधारी से गतिशील, अर्द्ध-भाषी तथा सामाजिक प्राणी बनने की प्रक्रिया में होते हैं। वे आवाज व प्रकाश के प्रति प्रतिक्रिया करते है। रुचिकर कार्यों को करते रहने की कोशिश करते है व वस्तुओं को स्थिर मानते हैं।

पूर्व संक्रियात्मक अवस्था

यह अवस्था दो वर्ष से सात वर्ष तक चलती है। इस अवस्था की दो प्रमुख विशेषताएं होती है प्रथम, संवेदी-गामक संगठन का संवर्धन तथा दूसरा, कार्यों के आत्मीकरण का प्रारम्भ जिससे संक्रियाओं का निर्माण होने लगे। साथ ही, इस अवस्था में संकेतात्मक कार्यों का प्रादुर्भाव तथा भाषा का प्रयोग भी होता है। इस अवस्था को दो भागों में बांटा जा सकता है-

1. पूर्व-प्रत्ययात्मक काल
2. आंत-प्रज्ञ काल

पूर्व-प्रत्यात्मक काल लगभग 2 वर्ष से 4 वर्ष तक चलता है। इस स्तर का बच्चा सूचकता विकसित कर लेता है अर्थात किसी भी चीज के लिए प्रतिभा, शब्द आदि का प्रयोग कर लेता है।

छोटा बच्चा माँ की प्रतिमा रखता है। बालक विभिन्न घटनाओं और कार्यों के संबंध में क्यों और कैसे जानने में रुचि रखते हैं। इस अवस्था में भाषा विकास का विशेष महत्व होता है। दो वर्ष का बालक एक या दो शब्दों के वाक्य बोल लेता है जबकि तीन वर्ष का बालक आठ-दस शब्दों के वाक्य बोल लेता है। आंत-प्रज्ञ चिन्तन की अवस्था 4 वर्ष से 7 वर्ष तक चलती है। बालक वातावरण में जैसा दिखता है वैसी प्रतिक्रिया देता है। उसमें तार्किक चिन्तन की कमी होती है। अर्थात बालक का चिन्तन प्रत्यक्षीकरण से प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए एक गिलास पानी को यदि किसी चौड़े बर्तन में लोट देते हैं और बच्चे से पूछे कि 'पानी की मात्रा उतनी ही है या कम या अधिक हो गयी। तो बच्चा कहेगा 'चौड़े बर्तन में पानी कम है। क्योंकि इस पानी की सतह नीची है।' ऐसा बालक द्वारा कारण व परिणाम को अलग न कर पाने के कारण होता है।

2.11 संक्रियात्मक अवस्था

यह अवस्था सात वर्ष से बारह वर्ष तक चलती है। इस अवस्था में यदि समस्या को स्थूल रूप में बालक के सामने प्रस्तुत किया जाता है जो वह समस्या का समाधान कर सकते हैं तथा तार्किक संक्रियाएँ करने लगते हैं। इस अवस्था में बालक गुणों के आधार पर वस्तुओं को वर्गीकृत कर सकते है जैसे एक गुच्छे में गुलाब व गुल्हड़ के फूल एक साथ हैं। बालक इनको अलग-अलग रख सकता है। वे चीजों को छोटे से बड़े के क्रम में ठीक प्रकार लगा लेते हैं।

प्याजे ने इस अवस्था की सबसे बड़ी उपलब्धि बालक के द्वारा संरक्षण के प्रत्यय की प्राप्ति माना है। मूर्त संक्रियावस्था में बालकों में आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति कम होने लगती है और वे अपने बाह्य जगत को अधिक महत्व देने लगते है। जब मूर्त सक्रियाएं बालकों की समस्या का समाधान करने की दृष्टि से उपयुक्त नहीं रह पाती है तब बालक बौद्धिक विकास के अन्तिम चरण की ओर अग्रसर होने लगता है।

2.12 औपचारिक संक्रिया की अवस्था

औपचारिक सक्रिया की अवस्था ग्यारह वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक चलती है। चिन्तन ज्यादा लचीला तथा प्रभावशाली हो जाता है। बालक अमूर्त बातों के सम्बन्ध में तार्किक चिन्ता करने की योग्यता विकसित कर लेता है। अर्थात शाब्दिक व सांकेतिक अभिव्यक्ति का प्रयोग तार्किक चिन्तन में करता है। बालक परिकल्पना बनाने लगता है, व्याख्या करने लगता है तथा निष्कर्ष निकालने लगता है। तर्क की अगमन तथा निगमन दोनों विधियों का प्रयोग वह करता है। अब समस्या को मूर्त रूप में प्रस्तुत करना जरूरी नहीं है। बालक का चिन्तन पूर्णत: क्रमबद्ध हो जाता है अत: दी गयी समस्या का तार्किक रूप से सम्भावित समाधान ढूंढ लेता है।

प्याजे के अनुसार संज्ञानात्मक विकास की ये चार अवस्थाएं क्रम में होती है। दूसरी अवस्था में पहुंचने से पहले पहली अवस्था से गुजरना आवश्यक है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुंचने के क्रम में बालक में सोचने में मात्रात्मक के साथ-साथ गुणात्मक वृद्धि होती है।

2.13 वायगास्की का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त

वायगास्की ने सन 1924-34 में इंस्टीट्यूट आफ साइकोलाजी (मास्को) में अध्ययन किया। यहां पर उन्होंने संज्ञानात्मक विकास पर विशेष कार्य किया विशेषकर भाषा और चिन्तन के सम्बन्ध पर। उनके

नोट

अध्ययन में संज्ञान के विकास के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कारकों के प्रभाव का वर्णन किया गया है। वायगास्की के अनुसार भाषा समाज द्वारा दिया गया प्रमुख सांकेतिक उपकरण है जो कि बालक के विकास में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

जिस प्रकार हम जल के अणु का अध्ययन उसके भागों ($H_2 - H_2$) के द्वारा नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार व्यक्ति का अध्ययन भी उसके वातावरण से पृथक होके नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति का उसके सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक सन्दर्भ में अध्ययन ही हमें उसकी समग्र जानकारी प्रदान करता है। वायगास्की ने संज्ञानात्मक विकास के अध्ययन के दौरान प्याजे का अध्ययन किया और फिर अपना दृष्टिकोण विकसित किया।

Piaget के अनुसार विकास और अधिगम दो अलग धारणाएं हैं जिनमें संज्ञान भाषा के विकास को एक प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में प्रभावित करता है। विकास हो जाने के पश्चात् उस विशेष अवस्था में आवश्यक कौशलों की प्राप्ति ही अधिगम है।

इस प्रकार Piaget के Piaget के अनुसार विकास, अधिगम की पूर्वावस्था है न कि इसका परिणाम। अर्थात् अधिगम का स्तर विकास के ऊपर है। Piaget के अनुसार अधिगम के लिए सर्वप्रथम एक निश्चित विकास स्तर पर पहुंचना आवश्यक है।

वायगास्की के अनुसार अधिगम और विकास पारस्परिक प्रक्रिया में बालक की सक्रिय भागीदारी होती है जिसमें भाषा का संज्ञान पर सीधा प्रभाव होता है। अधिगम और विकास अन्तर्सम्बन्धित प्रक्रियाएं है। जो कि छात्र के जीवन के पहले दिन से प्रारम्भ हो जाती है। वायगास्की के अनुसार विभिन्न बालकों के अलग-अलग विकास स्तर पर अधिगम की व्यवस्था समरूप तो हो सकती है किन्तु एकरूप नहीं क्योंकि सभी बच्चों का सामाजिक अनुभव अलग होता है। उनके अनुसार अधि गम विकास को प्रेरित करता है। उनका यह दृष्टिकोण च्पंहमज एवं अन्य Piaget से भिन्न है।

वायगास्की अपने सामाजिक-सांस्कृतिक सिद्धान्त के लिए जाने जाते है। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक अर्न्तक्रिया ही बालक की सोच व व्यवहार में निरन्तर बदलाव लाता है और जो एक संस्कृति से दूसरे में भिन्न हो सकता है। उनके अनुसार किसी बालक का संज्ञानात्मक विकास उसके अन्य व्यक्तियों से अन्तर्सम्बन्धों पर निर्भर करता है।

वायगास्की ने अपने सिद्धान्त में संज्ञान और सामाजिक वातावरण का सम्मिश्रण किया। बालक अपने से बड़े और ज्ञानी व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर चिन्तन और व्यवहार के संस्कृति अनुरूप तरीके सीखते है। सामाजिक-सांस्कृतिक सिद्धान्त के कई प्रमुख तत्व है। प्रथम महत्वपूर्ण तत्व है- व्यक्तिगत भाषा। इसमें बालक अपने व्यवहार को नियंत्रित और निर्देशित करने के लिए स्वयं से बातचीत करते है।

सामाजिक-सांस्कृतिक सिद्धान्त का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है-निकटतम विकास का क्षेत्र। वायगास्की ने शिक्षक के रूप में अनुभव के दौरान यह जाना है कि बालक अपने वास्तविक विकास स्तर से आगे जाकर समस्याओं का समाधान कर सकते है। यदि उन्हें थोड़ा निर्देश मिल जाए। इस स्तर को वायगास्की ने सम्भावित विकास कहा। बालक के वास्तविक विकास स्तर और सम्भावित विकास स्तर के बीच के अन्तर/क्षेत्र को वायगास्की ने निकटतम विकास का क्षेत्र कहा।

2.14 जेरोम ब्रूनर का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त

ब्रूनर ने संज्ञानात्मक विकास का माडल प्रस्तुत किया। उनके अनुसार यह वह माडल है जिसके द्वारा मनुष्य अपने वातावरण से सामंजस्य स्थापित करता है।

ब्रूनर ने अपना संज्ञान सम्बन्धी अध्ययन सर्वप्रथम प्रौढ़ो पर किया, तत्पश्चात् विद्यालय जाने वाले बालकों पर, फिर तीन साल के बालकों पर और फिर नवजात शिशु पर किया।

2.15 प्रतिनिधित्व

नोट

प्रतिनिधित्व का ब्रूनर के सिद्धान्त में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रतिनिधित्व उन नियमों की व्यवस्था है जिनके द्वारा व्यक्ति अपने अनुभवों को भविष्य में आने वाली घटनाओं के लिए संरक्षित करता है। यह व्यक्ति विशेष के लिए उसके संसार को/वातावरण का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रतिनिधित्व तीन प्रकार से हो सकता है–

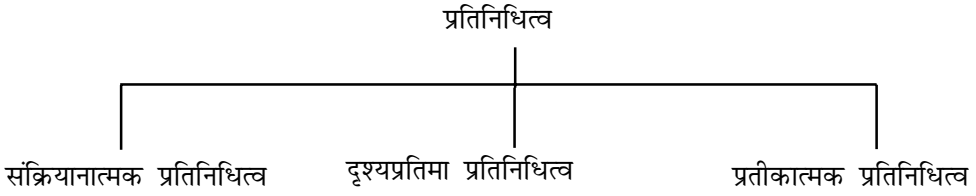

सक्रियता प्रतिनिधित्व

यह प्रतिनिधित्व की सबसे प्रारम्भिक अवस्था है जो जीवन के प्रथम वर्ष के उत्तरार्द्ध में पाया जाता है। इसके अन्तर्गत वातावरणीय वस्तुओं पर बालक की प्रतिक्रिया आती है। इस प्रकार का प्रतिनिधित्व संवेदी-गामक अवस्था की पहचान हैं यह व्यक्ति पर केन्द्रित होता है। अतः इसे आत्म केन्द्रित भी कह सकते है।

दृश्य प्रतिमा प्रतिनिधित्व

यह प्रत्यक्षीकरण को क्रिया से अलग करता है। क्रियाओं की पुनरावृत्ति द्वारा ही बालक के मन में क्रियाओं की अवधारणा का विकास होता है। अर्थात् क्रियाओं को स्थानिक परिपेक्ष्य में समझना आसान हो जाता है। इस प्रकार इस प्रतिनिधित्व में क्रियामुक्त अवधारणा का विकास होता है। यह प्रतिनिधित्व प्रथम वर्ष के अन्त तक पूर्णतया विकसित हो जाता है।

सांकेतिक प्रतिनिधित्व

यह किसी अपरिचित जन्मजात प्रतीकात्मक क्रिया से प्रारम्भ होता है जो कि बाद में विभिन्न व्यवस्थाओं में रूपान्त्रित हो जाता है। क्रिया और अवधारणा प्रतिकात्मक क्रियाविधि को प्रदर्शित कर सकती है। लेकिन भाषा प्रतिकात्मक क्रिया का सबसे अधिक विकसित रूप है।

प्रतिनिधित्वों के मध्य सम्बन्ध और अन्तः क्रिया

यह तीनों प्रतिनिधित्व वैसे तो एक-दूसरे से पृथक व स्वतन्त्र है किन्तु यह एक-दूसरे में तब्दील भी हो सकते है। यह स्थिति तब होती है जब बालक के मन में कोई दुविधा होती है और वह अपनी समस्या को सुलझाने के लिए सभी प्रतिनिधित्वों की पुनरावृत्ति करता है। यह तीन प्रकार से हो सकता है-

1. मिलान द्वारा
2. बेमिलान द्वारा
3. एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहकर

अगर दो प्रतिनिधित्व आपस में मिलान करते है तो व्यक्ति को दुविधा नहीं होती है और वह सामान्य प्रक्रियाओं को करते हुए अपनी समस्याओं को सुलझा लेता है। जब दो प्रतिनिधित्व में बेमिलान होता है तो किसी एक में सुधार किया जाता है या उसे दबा कर दिया जाता है। पूर्व किशोरावस्था में यह दुविधा क्रिया और दृश्य व्यवस्था के बीच होती है जिनमें उन्हें एक या अन्य चुनना होता है। बार-बार समस्या समाधान करते-करते उनमें प्राथमिकता का विकास होता है।

क्रिया और प्रतिनिधित्व एक-दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हो सकते है किन्तु प्रतिकात्मक प्रतिनिधित्व उन दोनों से स्वतन्त्र हो सकता है। प्रतिनिधित्व के माध्यम के रूप में भाषा अनुभव से अलग होती है और जब यह अनुभव और चिन्तन के आधार पर प्रयोग किया जाता है तो उच्च स्तर की मानसिक क्रियाओं को करने में सक्षम होती है।

2.16 संवेगात्मक विकास

जीवन में संवेगों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है तथा व्यक्ति के वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास में संवेगों का योगदान होता है। लगातार संवेगात्मक असन्तुलन/अस्थिरता व्यक्ति के वृद्धि एवं विकास को प्रभावित करती है तथा अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक और समाजिक समस्याओं को उत्पन्न करती है। दूसरी ओर संवेगात्मक रूप से स्थिर व्यक्ति खुशहाल, स्वस्थ एवं शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। अत: संवेग व्यक्ति के व्यक्तित्व के सभी पक्षों को प्रभावित करते है।

अंग्रेजी का 'Emotion' शब्द लेटिन भाषा के शष्द 'Emovere' से लिया गया है। 'Emovere' का अर्थ होता है- Stir up, toAgitate या to excite अर्थात - उत्तेजित होना।

इंगलिश तथा इंगलिश (1958) के अनुसार- 'संवेग एक जटिल भाव की अवस्था होती है जिसमें कुछ खास-खास शारीरिक व ग्रन्थीएँ क्रियाएँ होती हैं।'

बेरान, बर्न तथा कैन्टोविल (1980) के अनुसार- 'संवेग से तात्पर्य एक ऐसी आत्मनिष्ठ भाव की अवस्था से होता है जिसमें कुछ शारीरिक उत्तेजना पैदा होती है और फिर जिसमें कुछ खास-खास व्यवहार होते है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि -संवेग-

1. जटिल मानसिक अवस्था है जिसमें शारीरिक व मानसिक पक्षों का समावेश होता है।
2. किसी व्यक्ति, वस्तु एवं स्थिति के सम्बन्ध में सुख-दुख की अनुभूति कम या अधिक मात्रा में होती है।
3. संवेग की अवस्था में आंगिक प्रक्रियाओं जैसे नाड़ी, ष्टवसन, ग्रन्थिस्त्रवों का एक विसरित उद्दीपन होता है।
4. व्यक्ति की चिन्तन एवं तर्क शक्ति क्षीण हो जाती है।
5. व्यक्ति आवेगी बल का अनुभव करता है।

संवेगों के विकास के सन्दर्भ में दो मत है-

1. **संवेग जन्मजात होते है**-इस मत को मानने वालो में वके विन तथा हांलिगवर्थ आदि है।

   हांलिगवर्थ का मानना है कि प्राथमिक संवेग जन्मजात होते है। वाटसन ने बाताया कि जन्म के समय बच्चे में तीन प्राथमिक संवेग भय, क्रोध व प्रेम होते है।

2. **संवेग अर्जित किए जाते है**–कुछ मनोवैज्ञनिको का मत है कि संवेग विकास एवं वृद्धि की प्रक्रिया के दौरान प्राप्त किए जाते है। इस सम्बन्ध में हुए प्रयोग स्पष्ट करते है कि जन्म के समय संवेग निश्चित रूपे विद्यमान नहीं होते है। बाद में धीरे-धीरे बच्चा ऐसी निश्चित प्रतिक्रियाएँ करता है जिससे ज्ञात होता है कि उसे सुखद व दुखद अनुभूति हो रही है।

नोट

2.17 संवेगों की विशेषताएँ

1. संवेगात्मक अनुभव किसी मूल प्रवृति या जैविकीय उत्तेजना से जुड़े होते है।
2. सामान्यत: संवेग प्रत्यक्षीकरण का उत्पाद होते हैं।
3. प्रत्येक संवेगात्मक अनुभव के दौरान प्राणी में अनेक शारीरिक परिवर्तन होते है।
4. संवेग किसी स्थूल वस्तु या परिस्थिति के प्रति अभिव्यक्त किए जाते है।
5. प्रत्येक जीवित प्राणी में संवेग होते है।
6. विकास के सभी स्तरों में संवेग होते है और बच्चे व बूड़ो में उत्पन्न किए जा सकते है
7. एक ही संवेग को अनेक प्रकार के उतेजनाओं (वस्तुओं या परिस्थितियों) से उत्पन्न किया जा सकता है
8. संवेग शीघ्रता से उत्पन्न होते है और धीरे-धीरे समाप्त होते है।

2.18 बच्चों के संवेगों की विशेषताएं

1. बच्चों के संवेग थोड़े समय के लिए होते है बच्चे अपने संवेगों की अभिव्यक्ति बाहरी व्यवहार द्वारा तुरन्त कर देते है जब कि बड़े होने पर बाहरी व्यवहार पर सामाजिक नियन्त्रण होता है।
2. बच्चों के संवेग तीव्र होते है। बच्चे डर, क्रोध व खुशी आदि की अभिव्यक्ति अत्यधिक तीव्रता से करते है।
3. बच्चों के संवेग अस्थिर होते है। बच्चों के संवेगो में शीघ्रता से बदलाव होता है उदाहरणार्थ अभी लड़ाम्र और थोड़ी ही देर में तुरन्त दोस्ती कर लेते है।
4. बच्चों के संवेग बार-बार दिखायी देते है क्योंकि वे अपने संवेगों को छिपाने में असमर्थ होते है। बच्चे दिन में अनेक बार गुस्सा करते है या खुश होते है।
5. बच्चों की संवेगात्मक प्रतिक्रिया में भिन्नता पायी जाती है एक ही संवेग की अवस्था में प्रत्येक बच्चा अलग-अलग प्रतिक्रिया देता है- उदाहरणार्थ- अजनबी के सामने एक बच्चा भाग जाएगा व दूसरा रोने लगेगा।

2.19 बच्चों के सामान्य संवेगात्मक ढंग

डर

प्रथम वर्ष के अन्त के पहले ही डर से सम्बन्धित उत्तेजनाएँ बच्चे पर प्रभाव डालने लगती है। समय के साथ-साथ उन वस्तुओं की संख्या बढती जाती है जो बच्चे को डराती है। मानसिक विकास के

नोट

साथ-साथ वह इस योग्य होता है कि उन वस्तुओं और व्यक्तियों को पहचान सके जो उसे डराती हैं। डर चाहे तार्किक हो या अतार्किक इसकी जड़ बच्चों के अनुभवों में होती है। छोटा बच्चा सामान्यत: जोर की आवाज, अजनबी - लोग, -जगह, वस्तुएँ, अंधेरी जगह व केले रहने से डरते है। यह डर अवस्था के साथ-साथ कम हो जाता है। डर के प्रति बच्चे की प्रतिक्रिया इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी शारीरिक व मानसिक दशा क्या है। यदि बच्चा थका हुआ है तो ऐसी स्थितिया डर को और बढ़ाती है। Boston ने अपने अध्ययनों में पाया कि बुद्धिमान बच्चे डर अधिक प्रदर्शित करते है क्योंकि वे खतरे की सम्भावनाओं को समझते है। डर तब उपयोगी होता है जब यह खतरे से सावधान करता है।

क्रोध

यह संवेगात्मक प्रतिक्रिया बच्चे ज्यादा करते है क्योंकि वातावरण में क्रोध दिलाने वाले उत्तेजक डर की अपेक्षा अधिक होते है। अधिकतर बच्चे शीघ्र ही यह समझ जाते है कि क्रोध ध्यान आकृष्ड करने का अच्छा तरीका है। इससे उनकी इच्छा की पूर्ति होती है।

छोटे बच्चे को आराम न मिलने पर क्रोध आता है। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है तो वह स्वयं काम करना चाहता है और कार्य न कर पाने पर गुस्सा दिखाता है। विद्यालय जाने से पूर्व की आयु के बच्चे उन पर गुस्सा करते है जो उनके खेल की चीजों को छूते है व उनके खेलने में बाधा उत्पन्न करते है। उत्तर बाल्यावस्था में बच्चे की मजाक उड़ाने, उनकी गलती निकालने व दूसरे बच्चो से तुलना करने पर उनके गुस्सा आता है। क्रोध को अभिव्यक्त करने का ढ़ंग वातावरण से सीखा जाता है।

ईर्ष्या

ईर्ष्या बच्चे तब दिखाते है जब प्यार की कभी के लिए वास्तव में कोई स्थिति जिम्मेदार होती है या बच्चा प्यार की कमी महसूस करता है। ईर्ष्या इस बात पर निर्भर करती है कि दूसरे उससे कैसा व्यवहार करते है व बच्चे को कैसा प्रशिक्षण मिला है। कभी-कभी माता-पिता दूसरों की प्रशंसा अत्याधिक करते है उस प्रकार वे अपने बच्चों में प्रतिद्वन्दिता व स्पर्धा उत्पन्न करते है। ईर्ष्या की स्थिति में बच्चे विभिन्न प्रतिक्रिया देते है।

1. **गुस्सा करना**–यह दो प्रकार से प्रकट किया जाता है–
   (अ) प्रत्यक्ष रूप से जिससे ईर्ष्या होती है उसके रास्ते में मिल जाने पर उस पर प्रहार करना।
   (ब) अप्रत्यक्ष रूप से जिससे ईर्ष्या होती है उसकी अनुपस्थिति में उसके बस्ते से उसकी कापी या किताब चुराना लेना।
2. **आत्मीकरण करना**–जिससे ईर्ष्या होती है उससे बच्चा आत्मीकरण कर लेते है।
3. अधिक प्यार मिलने वाले से स्वयं को अलग करना
4. **दमन**–बच्चा अपनी भावनाओं को यह कहते हुए दबा देते हैं कि मैं परवाह नहीं करता
5. **मार्गन्तीकरण**–यदि बच्चा पढने में तजे बच्चे से ईर्ष्या करता है तो वह खेल में स्वयं को आगे कर लेता है।

नोट

हर्ष, सन्तोष एवं सुख

ये तीनों सुखद संवेग है। इनमें मात्रा का अन्तर है। ये निश्चयात्मक संवेग है। क्योंकि व्यक्ति उस परिस्थिति को स्वीकार करता है जो इस संवेग को उत्पन्न करती है। छोटे बच्चों में ये संवेग शारीरिक कष्ट न होने पर देखा जाता है। बडे बच्चों को सन्तोष व हर्ष तब होता है जब उन्हें सफलता मिलती है, दूसरों से प्रशंसा मिलती है व दूसरों से उच्चता या श्रेष्ठता का अनुभव होता है।

स्नेह

स्नेह बच्चे किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति दिखाते है। छोटे बच्चे उनके प्रति स्नेह दिखाते है जो उनकी आवश्यमताओं की परवाह करते है, उनसे खेलते है, सामान्यत: जो उन्हें हर्ष एवं सन्तोष प्रदान करते है। परिवार के सदस्यों एवं ऐसे लोग जिनसे खून का सम्बन्ध नहीं है, बच्चा स्नेह दिखाएगा या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि बच्चे के प्रति इन लोगों का व्यवहार कैसा है।

उत्सुकता या कौतुहल

छ: से सात महीने के बाद बच्चे नम्र चीजों को पकड़ना चाहते है। पकड़ने के बाद सब तरु से देखकर, छूकर, पटककर, हिलाडुला कर, मुँह में डालकर विभिन्न ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करते है। जैसे ही बच्चे बोलना सीखते है वे अपने कौतुहल को प्रश्न पूछकर कौतुहल को शान्त करते है आठ से नौ वर्ष के बच्चे इसी इच्छा के कारण अपना अधिक समय पढ़ने में लगाते है।

2.20 किशोर के सामान्य संवेगात्मक ढंग

डर -

किशोर सामाजिक परिस्थितियों, अपरिचित व्यक्तियों एवं नई स्थिति में जाने से डरते है। डर की अभिव्यक्ति में लिंग भेद पाया जाता है। क्योंकि लड़के व लड़कियों के मूल्यों में अन्तर होता है। लड़किया व्यक्तिगत सुरक्षा को विशेष महत्व देती है इसलिए अपरिचित के सामने डरती है जबकि लड़कों में ऐसा नहीं पाया जाता। डर पर सामाजिक - आर्थिक स्तर का भी प्रभाव पड़ता है।

चिन्ता

चिन्ता डर से उत्पन्न होती है। ये काल्पनिक कारणों से होती है। इसमें वास्तविकता का अंश भी होता है लेकिन ये अनावष्ठयक रूप से बड़ी छुपी अवस्था है अर्थात् परेशानी अभी है नही, लेकिन आ सकती है इस बात की चिन्ता होती हैं। चिन्ता किसी वस्तु, व्यक्ति एवं स्थिति से सम्बन्धित हो सकती है। जैसे परीक्षा में अच्छे नम्बर आयेगें या नही, नौकरी मिलेगी या नहीं या फिर दूसरों के सामने बोलने से डरते है। लड़के व लडकियों के मूल्यों में अन्तर अलग-अलग होते है। जैसे लड़के नौकरी व व्यवसाय को लेकर चिन्तित होते है जबकि लड़कियां बाहय आकृति एवं सामाजिक मान्यता को लेकर अधिक चिन्तित रहती है।

दुश्चिन्ता

दुश्चिन्ता आन्तरिक द्वन्द्व के कारण उत्पन्न होती है। यह लगातार रहने वाली कष्टकारी मानसिक दशा है। व्यक्ति बेचैनी का अनुभव करता है। उसे यह स्पष्ट नहीं होता है कि वह क्या करे और क्या न करें। जब अनेक चिन्ताएं एकत्रित होती है तो वह दुश्चिन्ता का रूप धारण कर लेती है। उदाहरण

के लिए यदि किशोर ऐसे सांस्कृतिक समूह में रहता है जहां वाह्य आकृति, प्रसिद्धि, अध्ययन व सम्प्राप्ति को महत्व दिया जाता है और किशोर स्वयं को इन सांस्कृतिक आशाओं के अनुरूप नहीं पाता तो दुश्चिन्ता हो जाती है।

नोट

क्रोध

किशोरों को पक्षपातपूर्ण व्यवहार से गुस्सा आता है। यह पक्षपातपूर्ण व्यवहार घर पर भी हो सकता है। यदि कोई उन पर रोब जमाता है तो गुस्सा आता हैं। भाई बहनों द्वारा एक-दूसरे का सामान प्रयोग करने पर, व्यग्ंयात्मक बातों का प्रयोग करने पर, आदतों मे बाधा होने पर, योजना को सफलतापूर्वक सम्पन्न न करने पर क्रोध आता है। क्रोध की अभिव्यक्ति में किशोर चीजों को तोड़ते, फैंकते है, तेज बोलते है। कभी-कभी बोलना बन्द कर देते है।

ईर्ष्या

इसमें दो संवेग शामिल होते है। सामाजिक स्तर खोने का डर और क्रोध। किशोरावस्था में ईर्ष्या भाई बहनों के प्रति कम और संगी साथियों के प्रति ज्यादा होती है। जितना अधिक किशोर सामाजिक स्थितियों में असुरक्षा का अनुभव करेगा उतना अधिक उन लोगों से ईर्ष्या करेगा जिनको सामाजिक मान्यता प्राप्त है। असन्तुष्ट बच्चा ईर्ष्या का शिकार होता है। इस संवेग की अनुभूति पर मौखिक अभिव्यक्ति होती है। जैसे मजाक उड़ाना या व्यंग्य करना।

जलन की भावना

जलन की भावना व्यक्ति की चीजों के प्रति होती है जैसे कोई अमीर घर का लड़का कार में आता है, अच्छे कपड़े पहनता है, अच्छे खिलौने रखता है। तो गरीब घर के लड़के को उसकी इन सुविधाओं से जलन होती है।

नाराज होना

यह गुस्से से कम तीव्र संवेग है। किशोर गुस्से की तुलना में नाराज अधिक होते है। किशोर उन चीजों के बारे में बात करके सुख का अनुभव करते है। जो उसे नाराज करती है। किशोर दूसरें लोगों के भाषण, व्यवहार करने के तरीके से अधिक नाराज होते है। किशोर जब आशा के अनुरूप कार्य नहीं कर पाता, उसका समायोजन अच्छा नहीं होता वे नाराज होते है।

जिज्ञासा/उत्सुकता

किशोर लिंग, वैज्ञानिक चीजों, संसार की घटनाओं, धर्म व नैतिकता में उत्सुकता दिखाते है और इन विषयों पर वे प्रश्न भी करते है। वे किताबें, पत्र पत्रिकाएं पढ़कर अपनी जिज्ञासा को शान्त करते है।

स्नेह

यह व्यक्ति, वस्तु या जानवर के प्रति कोमल लगाव है। यह सुखद अनुभवों पर आधारित होता है। किशोरावस्था व बाल्यावस्था के इस संवेग में अन्तर होता है। किशोर स्नेह निर्जीव व जानवरों की तुलना में व्यक्तियों के प्रति अधिक करते है। किशोर के लिए स्नेह में भी तीव्रता होती है। लेकिन किशोर बच्चों की तरह केवल घर के लोगों से भी स्नेह नहीं करते वरन संग-साथी व बाहर के लोगों से भी करते हैं।

दुख

इस संवेग की अनुभूति तब होती है जब व्यक्ति ऐसी चीज खो देता है जिसको वो बहुत महत्व देता है। तथा उससे उसे संवेगात्मक लगाव होता है। किशोर को इस संवेग का अनुभव बार-बार होता है क्योंकि किशोर में अब सोचने समझने की शक्ति बढ़ जाती है। किशोर बच्चों की तरह रोते नहीं है वरन् अपने चारों तरु के लोगों व चीजों में रुचि नहीं लेते है। एकान्त में रहते है। भूख कम लगती हैं व नींद कम आती है। इसका किशोर के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

नोट

खुशी

किशोर खुशी का अनुभव तब करता है जब उसका समायोजन अच्छा होता है। प्रशिक्षण व योग्यता से किशोर इस योग्य होता है कि वह परिस्थिति के साथ ठीक से समायोजन कर सके। अच्छा समायोजन व्यक्ति को आत्म सन्तोष देता है। यदि किशोर समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कार्यों को सफलतापूर्वक करता है तो उसमें उच्चता की भावना आती है उससे भी उसे सन्तोष मिलता है। अन्ततः वह खुशी का अनुभव करता है।

2.21 संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक

1. **परिपक्वता**–व्यक्ति के विकास पर संवेगात्मक विकास निर्भर करता है विशेष रूप से स्नायु तन्त्र के विकास पर। यदि Frontal Lobe को हटा दिया जाए तो संवेगों में स्थिरता नहीं रहती है।
2. **स्वास्थ्य और शारीरिक विकास**–बच्चे के स्वास्थ्य, शारीरिक विकास एवं संवेगात्मक विकास में धनात्मक सहसम्बन्ध होता है। स्वास्थ्य में गिरावट से संवेगात्मक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।
3. **बुद्धि**–Hurlock ने अध्ययनों में पाया कि सामान्य व कम बुद्धि के लोगों में अपने संवेगों पर नियन्त्रण कम होता है। चूंकि बुद्धिमान व्यक्ति के पास चिन्तन व तर्क की योग्यता होती है इसलिए संवेगों पर नियन्त्रण कर लेते है।
4. **सीखना**–व्यक्ति समाज व संस्कृति द्वारा मान्य ढंग से संवेगों को व्यक्त करना सीखता है। उदाहरण के लिए नीग्रों के डर को व्यक्त करने का तरीका भारतीयों से भिन्न प्रकार का होता है। बच्चे संवेगात्मक व्यवहार को दो प्रकार से सीखते है -
   - (अ) **अनुबन्धान द्वारा**–Watson ने Albert नामक बच्चे पर प्रयोग किया। यह बच्चा खरगोश से बहुत प्यार करता था और उसके साथ खेलता था। Watson ने इस बच्चे को खरगोश से डरना सिखाया। अतः जब कभी बच्चा खरगोश के साथ खेलता था तो वे जोर की आवाज (जो डरावनी थी) करते थे। इससे बच्चा डरने लगा। धीरे-धीरे बच्चा खरगोश से डरने लगा। बाद में वह सफेद फर वाली सभी चीजों से डरना सीख गया।
   - (ब) **अनुकरण**–यदि माता-पिता चिन्तित रहते है तो बच्चे चिन्तित रहना सीख जाते है। इसी प्रकार माता-पिता शान्त तो बच्चे भी शान्त होते है। Turner ने पाया कि शिक्षकों के संवेगात्मक व्यवहार का प्रभाव छात्रों पर पड़ता है।

5. **विद्यालयी वातावरण**–शिक्षकों का अपने व्यवसाय एवं छात्रों के प्रति मनोवृत्ति, विद्यालय अनुशासन, विद्यालय में अकादमिक सुविधाएं, भौतिक सुविधाएं, शिक्षण विधि, पाठ्य सहगामी क्रियाएं आदि का बच्चे के संवेगात्मक विकास पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए यदि विद्यालय में अत्यन्त कठोर अनुशासन होता है या अनुशासन विहीन विद्यालय दोनों का बच्चे के संवेगात्मक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।
6. **संगी-साथी**–संवेगात्मक व्यवहार अनुकरण द्वारा सीखे जाते है। साथ ही कहावत है- संगत का असर पड़ता है। अत: बच्चों के संवेगात्मक विकास पर मित्रों, संगी साथियों व सह पाठियों के व्यवहार का प्रभाव पड़ता है।
7. **परिवारिक वातावरण**–माता-पिता व बच्चे के मध्य सम्बन्ध, बच्चे का जन्म क्रम, लड़का व लड़की, परिवार का आकार, परिवार का सामाजिक आर्थिक स्तर, अनुशासन, माता-पिता का बच्चे के प्रति मनोवृत्ति, आदि बच्चे के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करते है।

2.22 संवेगात्मक विकास का शैक्षिक निहितार्थ

सभी सीखने की क्रियाओं का सम्बन्ध संवेगों से होता है। विद्यालय में दिया जाने वाला शिक्षण सफल नहीं होगा यदि छात्रों का बौद्धिक विकास तो हो रहा है लेकिन वे संवेगात्मक रूप से विचलित है। UNESCO रिपोर्ट (1955) के अनुसार– "Learning in thestrict educationalsense will not proceedsatisfactorly if the child's emotional life is disturbed."

1. कक्षा में पढ़ाते समय शिक्षक को इस बात के लिए संवेदनशील होना चाहिए कि उनके प्रति छात्रों के कैसे संवेग हैं
2. प्रत्येक कक्षा में हम भावना (Feeling Tone) होती है। जिसके कारण छात्र कक्षा में सुरक्षित महसूस करते है। शिक्षक का प्रयास होना चाहिए कि यह भावना बनी रहे और छात्र कक्षा में किसी भी प्रकार का तनाव का अनुभव न करें।
3. छात्रों के संवेगों व संवेगात्मक व्यवहार के प्रति शिक्षक का सकारात्मक दृष्टिकोण होना चाहिए।
4. स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को महत्व देना चाहिए।
5. परीक्षा में नम्बरों पर बहुत बल नहीं होना चाहिए।
6. सम्पूर्ण उपस्थिति के स्थान पर बच्चे के स्वास्थ्य पर बल देना चाहिए।
7. संवेगात्मक समस्याओं के समाधान हेतु निर्देशन का प्रबन्ध होना चाहिए।
8. छात्रों को सामाजिक मान्यता प्राप्त ढंग से संवेगात्मक व्यवहार करने का तरीका सिखाना चाहिए।
9. छात्रों के संवेगों को समझते समय शिक्षक का पक्षपात रहित व वस्तुनिष्ठ व्यवहार होना चाहिए।

2.23 सामाजिक विकास का अर्थ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करता है और उसके व्यवहार से प्रभावित होता है। इस परस्पर व्यवहार के व्यवस्थापन पर ही सामाजिक संबंध निर्भर होते हैं। इस परस्पर व्यवहार में रुचियों, अभिवृत्तियों, आदतों आदि का बड़ा महत्व है। सामाजिक विकास में इन सभी का विकास सम्मिलित है। जब सामाजिक परिस्थिति इस प्रकार की होती है कि शिशु समाज के नियमों तथा नैतिक मानक को आसानी से सीख लेता है तो यह कहा जाता है कि उसमें सामाजिक विकास हुआ है।

सोरेन्सन ने सामाजिक विकास को परिभाषित करते हुये लिखा है – 'सामाजिक वृद्धि और विकास से तात्पर्य अपने साथ और दूसरों के साथ भली प्रकार चलने की बढ़ती हुई योग्यता से है।'

इस प्रकार सामाजिक विकास में लगातार दूसरों के साथ अनुकूलन करने की योग्यता में वृद्धि पर जोर दिया जाता है। मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियां बदलती रहती है। इस परिवर्तन के साथ व्यक्ति को बराबर बदलना होता है।

नोट

2.24 सामाजिक प्रौढ़ता तथा अप्रौढ़ता

सामाजिक विकास के अर्थ को भली प्रकार समझने में सामाजिक प्रौढ़ता अथवा सामाजिक दृष्टि से परिपक्व व्यक्ति के व्यवहार प्रतिमानों को समझने में सहायता मिलेगी। एक सामाजिक दृष्टि से परिपक्व व्यक्ति दूसरों से सहयोग करता है और उनका विरोधा बहुत कम करता है। वह कभी भी अशिष्ट नहीं होता बल्कि सदैव दूसरे व्यक्तियों के प्रति शिष्ट, दयालु और मैत्रीपूर्ण रहता हैं। इसलिए उनके मित्रों की संख्या भी बहुत अधिक होती है। सामाजिक दृष्टि से प्रौढ़ व्यक्ति कला, अध्ययन, खेल आदि में अच्छी रुचि का परिचय देता है। वह अच्छे-अच्छे लेखकों की रचनाएं पढ़ता है और अपनी आयु के उपयुक्त खेलों और मनोरंजन में भाग लेता है।

सामाजिक रूप से प्रौढ़ व्यक्ति के विरूद्ध सामाजिक दृष्टि से अप्रौढ़ अथवा अविकसित व्यक्ति समूह में झेंपता और शर्माता है। वह दूसरों की उपस्थिति में बेचैनी महसूस करता है। वह अपनी माता की राय पर अत्यधिक निर्भर होता है और उसके साथ लगा रहता है। उसके मित्रों की संख्या बहुत कम होती है और उसे दूसरों से मिलने जुलने में कठिनाई होती है।

2.25 शैष्ठवस्था में सामाजिक विकास

यद्यपि जन्म के समय शिशु सामाजिक नहीं होता है परन्तु दूसरे व्यक्तियों के प्रथम सम्पर्क से ही उसके समाजीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जो निरन्तर आजीवन चलती रहती है। सामाजिक विकास निम्नांकित ढंग से होता है-

1. **प्रथम माह**–प्रथम माह मे शिशु किसी व्यक्ति या वस्तु को देखकर कोई स्पष्ट प्रतिक्रिया नहीं करता हैं वह तीव्र प्रकाश तथा धवनि के प्रति प्रतिक्रिया अवष्ठय करता है। वह रोने तथा नेत्रों को घुमाने की प्रतिक्रियायें करता है।
2. **द्वितीय माह**–दूसरे माह में शिशु आवाजों को पहचानने लगता है जब कोई व्यक्ति शिशु से बातें करता है या ताली बजाता है या खिलौना दिखाता है तो वह सिर घुमाता है तथा दूसरों को देखकर मुस्कराता है।
3. **तृतीय माह**–तीसरे माह में शिशु माँ को पहचानने लगता है। जब कोई व्यक्ति शिशु से बातें करता है या ताली बजाता है तो वह रोते-रोते चुप हो जाता है।
4. **चतुर्थ माह**–चौथे माह में शिशु पास आने वाले व्यक्ति को देखकर हँसता है, मुस्कराता है। जब कोई व्यक्ति उसके साथ खेलता है तो वह हँसता है तथा अकेला रह जाने पर रोने लगता है।
5. **पंचम माह**–पाँचवे माह में शिशु प्रेम व क्रोध के व्यवहार में अंतर समझने लगता है। दूसरे व्यक्ति के हँसने पर वह भी हँसता है तथा डाँटने पर सहम जाता है।

नोट

6. **षष्टम माह**–छठे माह में शिशु परिचित-अपरिचित में अंतर करने लगता है। वह अपरिचितों से डरता है। बड़ों के प्रति आक्रामक व्यवहार करता है। वह बड़ों के बाल, कपड़े, चष्ठमा आदि खींचने लगता है।
7. **नवम् माह**–नवे माह में शिशु दूसरों के शब्दों, हावभाव तथा कार्यों का अनुकरण करने का प्रयास करने लगता है।
8. **प्रथम वर्ष**–एक वर्ष की आयु में शिशु घर के सदस्यों से हिल-मिल जाता है। बड़ों के मना करने पर मान जाता है तथा अपरिचितों के प्रति भय तथा नापसन्दगी दर्शाता है।
9. **द्वितीय वर्ष**–दो वर्ष की आयु में शिशु घर के सदस्यों को उनके कार्यों में सहयोग देने लगता है। इस प्रकार वह परिवार का एक सक्रिय सदस्य बन जाता है।
10. **तृतीय वर्ष**–तीन वर्ष की आयु में शिशु अन्य बालकों के साथ खेलने लगता है। खिलौनों के आदान-प्रदान तथा परस्पर सहयोग के द्वारा वह अन्य बालकों से सामाजिक संबंध बनाता है।
11. **चतुर्थ वर्ष**–चौथे वर्ष के दौरान शिशु प्राय: नर्सरी विद्यालयों में जाने लगता है जहां वह नए-नए सामाजिक संबंध बनाता है तथा नए सामाजिक वातावरण में स्वयं को समायोजन करता है।
12. **पंचम वर्ष**–पांचवे वर्ष में शिशु में नैतिकता की भावना का विकास होने लगता है। वह जिस समूह का सदस्य होता है उसके द्वारा स्वीकृत प्रतिमानों के अनुरूप अपने को बनाने का प्रयास करता है।
13. **षष्ठम वर्ष**–छठे वर्ष में शिशु प्राथमिक विद्यालय में जाने लगता है जहां उसकी औपचारिक शिक्षा का आरम्भ हो जाता है तथा नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन करता है।

शैशावस्था में बालक के द्वारा किए जाने वाले उपरोक्त वर्णित सामाजिक व्यवहारों के अवलोकन से स्पष्ट है कि जन्म के उपरान्त धीरे-धीरे बालक का समाजीकरण होता है। जन्म के समय शिशु सामाजिक प्राणी नहीं होता है। परन्तु अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आने पर उसके समाजीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

2.26 बाल्यावस्था में सामाजिक विकास

बाल्यावस्था में समाजीकरण की गति तीव्र हो जाती है। बालक वाह्य वातावरण के सम्पर्क में आता है। जिसके फलस्वरूप उसका सामाजिक विकास तीव्र गति से होता है। बाल्यावस्था में होने वाले सामाजिक विकास को निम्नांकित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है।

1. बालक किसी न किसी टोली या समूह का सदस्य बन जाता है। यह टोली अथवा समूह ही उसके खेलो, वस्त्रों की पसंद तक्षा अन्य उचित-अनुचित बातों का निर्धारण करते है।
2. समूह के सदस्य के रूप में बालक के अंदर अनेक सामाजिक गुणों का विकास होता है। उत्तरदायित्व, सहयोग, सहनशीलता, सद्भावना, आत्मनियन्त्रण, न्यायप्रियता आदि सामाजिक गुण बालक में धीरे-धीरे उदित होने लगते है।
3. इस अवस्था में बालक तथा बालिकाओं की रुचियों में स्पष्ट अंतर दृष्टिगोचर होता है।
4. बाल्यावस्था में बालक प्राय: घर से बाहर रहना चाहता है, और उसका व्यवहार शिष्टतापूर्ण होता है।

5. इस अवस्था में बालक में सामाजिक स्वीकृति तथा प्रशंसा पाने की तीव्र इच्छा होती है।
6. प्यार तथा स्नेह से वंचित बालक इस आयु में प्राय: उद्धण्ड हो जाते है।
7. बाल्यावस्था में बालक मित्रों का चुनाव करते है। वे प्राय: कक्षा के सहपाठियों को अपना घनिष्ठ मित्र बनाते है।

नोट

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस अवस्था में बालक के सामाजिक जीवन का क्षेत्र कुछ चिरूतृत हो जाता है जिसके फलस्वरूप बालक - बालिकाओं के समाजीकरण के अवसर तथा सम्भावनायें बढ़ जाती है।

2.27 किशोरावस्था में सामाजिक विकास

किशोरावस्था में किशोर एवं किशोरियों का सामाजिक परिवेश अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक परिवर्तनों के साथ-साथ उनके सामाजिक व्यवहार में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। किशोरावस्था में होने वाले अनुभवों तथा बदलते सामाजिक संबंधों के फलस्वरूप किशोर-किशोरियां नए ढंग के सामाजिक वातावरण में समायोजित करने का प्रयास करते है। किशोरावस्था में सामाजिक विकास का स्वरूप निम्नांकित होता है-

1. **समूहों का निर्माण**–किशोरावस्था में किशोर एवं किशोरियां अपने-अपने समूहों का निर्माण कर लेते है। परन्तु यह समूह बाल्यावस्था के समूहों की तरह अस्थायी नहीं होते है। इन समूहों का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन छकरना होता है। पर्यटन, नृत्य, संगीत पिकनिक आदि के लिए समूहों का निर्माण किया जाता है। किशोर-किशोरियों के समूह प्राय: अलग-अलग होते है।
2. **मैत्री भावना का विकास**–किशोरावस्था में मैत्रीभाव विकसित हो जाता है। प्रारम्भ में किशोर-किशोरो से तथा किशोरियां-किशोरियों से मित्रता करती है। परन्तु उत्तर किशोरावस्था में किशोरियों की रुचि किशोरो से तथा किशोरों की रुचि किशोरियों से मित्रता करने की भी हो जाती है। वे अपनी सर्वोत्तम वेशभूषा, श्रृंगार व सजधाज के साथ एक-दूसरे के समक्ष उपस्थित होते है।
3. **समूह के प्रति भक्ति**–किशोरों में अपने समूह के प्रति अत्यधिक भक्तिभाव होता है। समूह के सभी सदस्यों के आचार-विचार, वेशभूषा, तौर-तरीके आदि लगभग एक ही जैसे होते है। किशोर अपने समूह के द्वारा स्वीकष्टत बातों को आदर्श मानता है तथा उनका अनुकरण करने का प्रयास करता है।
4. **सामाजिक गुणों का विकास**–समूह के सदस्य होने के कारण किशोर-किशोरियों में उत्साह, सहानुभूति, सहयोग, सद्भावना, नेतष्टत्व आदि सामाजिक गुणों का विकास होने लगता है। उनकी इच्छा समूह में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने की होती है, जिसके लिए वे विभिन्न सामाजिक गुणों का विकास करते है।
5. **सामाजिक परिपक्वता की भावना का विकास**–किशोरावस्था में बालक-बालिकाओं में वयस्क व्यक्तियों की भांति व्यवहार करने की इच्छा प्रबल हो जाती है। वे अपने कार्यों तथा व्यवहारों के द्वारा समाज में सम्मान प्राप्त करना चाहते हैं। स्वयं को सामाजिक दृष्टि से परिपक्व मान कर वे समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने का प्रयास करते है।
6. **विद्रोह की भावना**–किशोरावस्था में किशोर किशोरियों मे अपने माता-पिता तथा अन्य परिवारीजनों से संघर्ष अथवा मतभेद करने की प्रवृत्ति आ जाती है। यदि माता-पिता उनकी

नोट

स्वतंत्रता का हनन करके उनके जीवन को अपने आदर्शों के अनुरूप ढ़ालने का प्रयत्न करते है अथवा उनके समक्ष नैतिक आदर्शों का उदाहरण देकर उनका अनुकरण करने पर बल देते है तो किशोर-किशोरियां विद्रोह कर देते हैं।

7. **व्यवसाय चयन में रूचि**–किशोरावस्था के दौरान किशोरों की व्यावसायिक रुचियां विकसित होने लगती है। वे अपने भावी व्यवसाय का चुनाव करने के लिये सदैव चिन्तित से रहते है। प्राय: किशोर अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा तथा अधिकार सम्पन्न व्यवसायों को अपनाना चाहते है।
8. **बर्हिमुखी प्रवृत्ति**–किशोरावस्था में बर्हिमुखी प्रवृत्ति का विकास होता है। किशोर-किशोरियों को अपने समूह के क्रियाकलापों तथा विभिन्न सामाजिक क्रियाओं में भाग के अवसर मिलते है, जिसके फलस्वरूप उनमें बर्हिमुखी रुचियां विकसित होने लगती है।

2.28 वयस्क अवस्था

सामाजिक विकास की यह अवस्था वास्तव में किशोरावस्था का परिणाम मात्र है। इस अवस्था में द्वितीयक समाजीकरण, विसमाजीकरण तथा पुर्नसमाजीकरण की प्रक्रिया मन्द गति से जारी रहती है। इस अवस्था की मुख्य विशेषता यह है कि यहां व्यक्ति वैवाहिक जीवन को निभाने में सक्रिय हो जाता है, जीविकोपार्जन भी इस अवस्था की मुख्य विशेषता है।

2.29 सामाजिक विकास के मूल आधार

बालक के सामाजिक विकास का प्रक्रम अर्जित ही होता है अत: इसका स्वरूप इस तथ्य पर आधारित है कि बालक की अन्य व्यक्तियों के प्रति कैसी अभिवृत्तियां है और स्वयं उसके इस संबंध के साथ अपने कैसे विशेष अनुभव है। आगे इसके अतिरिक्त उसे इस संबंध में विकास के कैसे अवसर मिले है। इस प्रकार एक बालक के सामाजिक विकास से संबन्धित विभिन्न मूल आधारों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है -

- बालक को दूसरों के साथ रहने व व्यवहार के पर्याप्त अवसर मिलते रहने चाहिए।
- एक बालक को अन्य व्यक्तियों के साथ अपनी भावाभिव्यक्ति के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति के रुचियों को भी समझना आवश्यक है।
- बालक को सामाजिक बनने के लिए प्रेरणा देना चाहिये।
- बालकों को मार्गदर्शन प्रदान करना चाहिए।

2.30 बालक के सामाजिक विकास की प्रमुख कसौटियां

बालक के सामाजिक विकास के मूल्यांकन की प्रमुख कसौटियां प्राय: निम्नलिखित होती है–

1. **सामाजिक अनुरूपता**–एक बालक जितनी शीघ्रता व कुशलता से अपने समाज की परम्पराओं, नैतिक मूल्यों व आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करना सीख लेता है। उसके सामाजिक विकास का स्तर भी प्राय: उतना ही अधिक उच्च होता है। स्पष्टत: यहां सामाजिक अनुरूपता व सामाजिक विकास में एक प्रकार का धनात्मक सह-सम्बन्ध देखने में आता है।
2. **सामाजिक समायोजन**–एक बालक अपनी सामाजिक स्थितियों को जितनी अधिक सफलता व कुशलता से समझने व सुलझाने में सम्पन्न होता है, जितनी अधिक उसमें समायोजन की

शक्ति होती है उसके सामाजिक विकास का स्तर भी प्रायः उतना ही अधिक होता है।

3. **सामाजिक अन्तः क्रियाएं**–एक बालक की सामाजिक अन्तः क्रियाओं का स्तर जितना अधिक विस्तृत व जटिल होता है, यह स्थिति भी लगभग उसी समानुपात में उसकी सामाजिक विकास के स्तर की द्योतक होती है।
4. **सामाजिक सहभागिता**–एक बालक अथवा व्यक्ति जितने अधिक सहज भाव और जितने अधिक आत्मविश्वास के साथ सामाजिक गतिविधियां में भाग लेता जाता है, वह भी प्रायः उसके उच्च सामाजिक विकास का ही सूचक होता है।

नोट

2.31 सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक

वातावरण और संगठित साधनों के कुछ ऐसे विशेष कारक हैं जिनका बालक के सामाजिक विकास की दशा पर निश्चित और विशिष्ट प्रभाव पड़ता है।

1. **परिवार के वातावरण का स्वरूप**–परिवार ही वह साधान है जहां बालक का सबसे पहले समाजीकरण होता है। जिस परिवार का वातावरण सामान्यतः पारस्परिक, सुखद और सुन्दर भावनाओं पर आधारित होता है व जिसमें बालकों के प्रति आवश्यक स्नेह व सहानुभूति बनी रहती है। तब ऐसे उत्साहपूर्ण व प्रेरक पारिवारिक परिवेश में बालक के व्यवहार में भी पारस्परिक आधार पर आदान-प्रदान की मधुर सामाजिक भावनाएं विकसित होती है।
2. **पास-पड़ोस के परिवेश का प्रभाव**–बच्चे का कुछ समय अपने पड़ोसियों के साथ गुजरता है। अतः पड़ोसियों के साथ पारस्परिक अन्तःक्रिया का प्रभाव उसके सामाजिक विकास पर पड़ता है।
3. **वंशानुक्रुम**–मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सामाजिक विकास पर वंशानक्रुम का भी प्रभाव पड़ता है। वंशानुक्रम व्यक्ति को शारीरिक तथा मानसिक विकास के साथ-साथ उसके सामाजिक विकास को भी प्रभावित करता है। अनेक सामाजिक गुण व्यक्ति को वंश परम्परा के रूप में अपने पूर्वजों से प्राप्त होते है।
4. **शारीरिक तथा मानसिक विकास**–शारीरिक तथा मानसिक विकास का व्यक्ति के सामाजिक विकास से घनिष्ठ संबंध होता है। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ तथा विकसित मस्तिष्क वाले बालकों के समाजीकरण की सम्भावनायें अधिक होती है, जबकि अस्वस्थ तथा कम विकसित मस्तिष्क वाले बालकों के समाजीकरण की सम्भावना कम होती है। बीमार, अपंग, शारीरिक दृष्टि से अनाकर्षक, विकृत मस्तिष्क वाले, अल्प बुद्धि वाले बालक प्रायः सामाजिक अवहेलना तथा तिरस्कार सहते रहते है। जिसके फलस्वरूप उनमें हीनता की भावना विकसित हो जाती है तथा वे अन्य बालकों के साथ स्वयं को समायेाजित करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं।
5. **संवेगात्मक विकास**–सामाजिक विकास का एक महत्वपूर्ण आधार संवेगात्मक विकास होता है। संवेगात्मक तथा सामाजिक व्यवहार एक-दूसरे के अनुयायी होते हैं। जिन बालकों में प्रेम, स्नेह, सहयोग, हास-परिहास के भाव अधिक होते हैं, वे सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं तथा स्नेह व आकर्षण का पात्र बन जाते हैं। इसके विपरीत जिन बालकों में ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा, नीरसता आदि भाव होते हैं, वे किसी को भी अच्छे नहीं लगते हैं, तथा ऐसे बालकों की सभी उपेक्षा करते हैं।

6. **पालन-पोषण प्रणाली**—बालकों में सामाजिक विकास उनके पालन-पोषण के ढंग द्वारा अधिक प्रभावित होता है। जिन बालकों के पालन पोषण में माता-पिता द्वारा उचित दुलार-प्यार दिया जाता है तथा बालकों की देख-रेख उनके द्वारा स्वयं की जाती है, उनमें सामाजिक नियमों को सीखने तथा उनके अनुरूप व्यवहार करने की तीव्र प्रेरणा होती है। अत: ऐसे बालकों का सामाजिक विकास अधिक तीव्र तथा संतोषजनक होती है।
7. **सामाजिक वर्ग-भेद**—सामाजिक आथिर्क स्थिति के आधार पर समाज को मुख्य मुख्य रूप से तीन वर्गों अर्थात निम्न, मध्य तथा उच्च वर्ग में विभाजित किया जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक वर्ग के नियमों, मूल्यों, मानदण्डो, विश्वासों तथा लोकरीतियों में अंतर होता है, इस कारण भिन्न-भिन्न वर्गों के बच्चों के समाजीकरण में अंतर होता है।
8. **समाज**—समाज का भी बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। सामाजिक व्यवस्था बालक के समाजीकरण को एक निश्चित दिशा प्रदान करती है। समाज के कार्य, आदर्श तथा प्रतिमान बालक के सामाजिक दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं।
9. **विद्यालय**—बालक के सामाजिक विकास में उसके विद्यालय की उतनी ही आवश्यकता होती है, जितना कि उसके परिवार की। विद्यालय में बालक छनियम, आत्म संयम, अनुशासन, नम्रता जैसे गुणों को लगभग सहज रूप से ही अधिगत कर लेता है। यदि विद्यालय का वातावरण जनतंत्रीय है, तो बालक का विकास अविराम गति से उत्तम रूप ग्रहण करता चला जाता है।
10. **अध्यापक**—बालकों के सामाजिक विकास पर उनके अध्यापकों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। छात्र अपने अध्यापक से उसी के समान व्यवहार करना सीखते हैं। यदि अध्यापक शांत, शिष्ट तथा सहयोगी होता हैं तो छात्रों में भी शिष्टता, धैर्य तथा सहकारिता के गुण विकसित हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि शिक्षक अशिष्ट, क्रोधी तथा असहयोगी हैं तो छात्र भी उसी के समान बन जाते हैं।
11. **अभिजात समूह**—बालक को सामाजिक विकास में उसके सगी-साथियों की मंडली की भी प्रभावशाली भूमिका रहती है। समान आयु के बच्चे एक अलग समूह का निर्माण कर लेते है, जो ऐच्छिक होता है। एक बालक की मित्र मंडली, जितनी बड़ी, विषम व जितनी अधिक विभिन्न अभिरुचियों व अभिवृत्तियों वाली होती है। उतना ही बालक का सामाजिक विकास का क्षेत्र तद्नुसार अधिक देखने में आता है।
12. **संस्कृति**—प्रत्येक सस्कृति के अपने कुछ प्रतमिान, परम्पराएँ मूल्य होते हैं जिन्हें सांस्कृतिक प्रतिमान अथवा प्रतिरूप कहते है। बच्चे अपनी संस्कृति के इन प्रतिरूपों को माता-पिता, शिक्षक आदि के माध्यम से सीख लेते है। इस सीखने में समाजीकरण के कई संरचन सहायक होते हैं, जिसमें प्रत्यक्ष निर्देशन, अनुकरण, निरीक्षण, प्रतिरूपण, प्रबलन आदि मुख्य हैं।
13. **प्रचार के माध्यम**—बालकों के सामाजिक विकास पर प्रचार के भिन्न-भिन्न माध्यमों जैसे रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, अखबार, मैंगजीन आदि का भी प्रभाव पड़ता है। इन माध्यमों द्वारा भिन्न-भिन्न सामाजिक पहलुओं पर अपने-अपने ढंग से जोर डाला जाता है। बालकों को इन माध्यमों से तरह-तरह की बातें बताई जाती हैं। इन बातों का वे तुलनात्मक अध्ययन एवं विष्ठलेषण करते हैं, जिससे उनमें सामाजिक सूझ भी विकसित हो जाती है, जो उन्हें विभिन्न तरह के सामाजिक व्यवहार सीखने में मदद करती है।

14. **सामाजिक वचन**–जब बालक को अन्य साथियों एवं व्यक्तियों से मिलने जुलने का अवसर नहीं दिया जाता है तो इससे उनका सामाजिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा इस स्थिति को सामाजिक वंचन कहा जाता है। कई बार सामाजिक वंचन अधिक होने से बालकों में असामाजिकता का शीलगुण विकसित होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

नोट

2.32 सामाजिक विकास का शैक्षिक महत्व

बालक के सामाजिक विकास में प्रत्येक अवस्था में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति का सामाजिक विकास करना है। इसलिए शिक्षा को सविचार व सप्रयोजन क्रिया कहा गया है जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन और परिमार्जन होता रहता है, जिससे वह आने वाली परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित कर सके। मानसिक विकास का भी सामाजिक विकास से सम्बन्ध होता है। सामाजिक विकास पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है।

1. **वृद्धि का प्रभाव**–बालक जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे वह सामाजिक बनता जाता है। इस ओर आरम्भ से ही ध्यान देना आवश्यक है।
2. **लिंग भेद का प्रभाव**–बालक और बालिका के सामाजिक व्यवहार में भिन्नता पाई जाती है। अत: दोनों को भिन्न-भिन्न उपयुक्त सामाजिक व शैक्षिक वातावरण मिलना चाहिए।
3. **सीखने का प्रभाव**–बालक समाज में रहकर ही अनुभव प्राप्त करता है और सीखता है और सीखकर शिक्षा प्राप्त करके ही सामाजिक व्यक्ति बनता है।
4. **सांस्कृतिक और आर्थिक दशा का प्रभाव**–बालक के सामाजिक व्यवहार पर उसके सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है इसी प्रकार परिवार की आर्थिक स्थिति उसके सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करती है।
5. **भाषा का प्रभाव**–सामाजिक जीवन पर भाषा का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भाषा के माध्यम से विचारों का आदान प्रदान होता है और इसी के द्वारा हमें शिष्ट और सभ्य समझा जाता है।

बालकों के सामाजिक विकास को विकसित करने में शिक्षक की भूमिका बालकों के सामाजिक विकास में शिक्षक का काफी महत्वपूर्ण योगदान होता है। स्कूली अवस्था में बालकों का सम्पर्क शिक्षकों से सीधा होता है। अत: शिक्षकगण बालक के सामाजिक विकास को सीधे प्रभावित करते हैं। बालकों के सामाजिक विकास को सही दिशा में विकसित करने में शिक्षक तथा स्कूल की महत्वपूर्ण भूमिका है -

1. यदि स्कूल में शिक्षक एक ऐसा सामाजिक वातावरण बनाकर रखते हैं, जिससे कि बालकों में अनुशासन एवं आज्ञापालिता का भाव विकसित होता है, तो उससे बालकों में सामाजिक विकास तीव्र गति से होता है।
2. बालकों का सामाजिक विकास करने के लिए स्कूल में पर्याप्त मात्रा में पाठ्येत्तर कार्यक्रमों जैसे नाटय, राष्ट्रीय सामाजिक सेवा, खेलकूद, वाद-विवाद प्रतियोगिता आदि का संचालन होना चाहिए।
3. शिक्षकों को अध्यापन कार्य में प्रजातंत्रत्मक साधनों का सहारा अधिक लेना चाहिए तथा दण्डात्मक साधनों का प्रयोग न के बराबर करना चाहिए।

नोट

4. शिक्षकों को बालकों में सामाजिक उत्तरदायित्व उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों से अवगत कराना चाहिए।
5. स्कूल में शिक्षक अभिभावक सभा समय-समय पर आयोजित की जानी चाहिए।
6. शिक्षक बालकों के सामाजिक विकास करने के लिए कुछ खास-खास विषयों जैसे सामाजिक अध्ययन तथा नागरिक शास्त्र के अध्ययन पर अधिक जोर डालकर, बालकों को विभिन्न तरह की सामाजिक समस्याओं से अवगत करा सकते हैं।

2.33 सारांश

बालक के विकास की प्रक्रिया जन्म पूर्व जब वह माता के गर्भ में आता है तभी से आरम्भ हो जाती है और जन्म के बाद शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था तथा क्रमशः चलती रहती है। विकास एक बहुमुखी प्रक्रिया है। इसमें बहुत-सी बातों का समावेश होता है। शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन में बालक का केवल बौद्धिक पक्ष ही नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए शारीरिक, मानसिक सामाजिक तथा संवेगात्मक अवस्थाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्ति के स्वाभाविक विकास को अभिवृद्धि (Growth) कहते हैं। गर्भाशय में भ्रूण बनने के पश्चात् जन्म होते समय तक उसमें जो प्रगतिशील परिवर्तन होते हैं वह अभिवृद्धि है।

शिक्षा-मनोविज्ञान शैक्षिक परिस्थितियों में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है और उसका लक्ष्य बालक के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन करना है। अतः शिक्षक को बालक की अभिवृद्धि एवं विकास के विषय में तथा इनके परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों को जानना भी आवश्यक है। विकास शरीर के गुणात्मक परिवर्तनों का नाम है, जिसके कारण व्यक्ति की कार्य-क्षमता, कार्य कुशलता और व्यवहार में प्रगति या अवनति होती है। विकास में क्रमबद्ध रूप से परिवर्तन होता है जो परिपक्वता की ओर निर्देशित रहता है। अभिवृद्धि एवं विकास का प्रत्येक क्रम एक प्रकार से परिपक्वता पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ जब बालक की माँसपेशियाँ और हड्डियाँ चल पाने की आवश्यकता के अनुसार परिपक्व हो जाती हैं तो वह पैरों के बल चलने में समर्थ हो पाता है। इस प्रकार परिपक्वता अभिवृद्धि एवं विकास को गति प्रदान करती है। परिपक्वता का अर्थ है स्वाभाविक विकास। व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक गुणों का विकास जब बिना किसी प्रकार के अधिगम अथवा प्रशिक्षण के कारण स्वाभाविक रूप से होता है तो उसे हम परिपक्वीकरण कहते हैं, जबकि विकास वांछित तथा प्रगतिशील परिवर्तन के द्वारा अर्जित किया जाता है।

मानव एक विकासशील प्राणी के रूप में जन्म लेता है और जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक उसका विकास होता रहता है। मानव-जीवन में विकास की सभी अवस्थाओं में शैशव का महत्त्व सबसे अधिक हैं। मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि "शैशवावस्था द्वारा जीवन का पूरा क्रम निश्चित होता है।" शैशवावस्था में शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक विकास तीव्र गति से होता है। शैशवावस्था के अन्तिम वर्षों में सामाजिक भावना का विकास होता है। शिक्षा की दृष्टि से मानव जीवन में शैशवकाल का बहुत महत्त्व है। मानव-विकास की दूसरी अवस्था बाल्यावस्था है। शैशवावस्था के बाद बालक बाल्यावस्था में प्रवेश करता है। शैशवकाल में बालक अपने चारों ओर की परिस्थितियों से अपरिचित होता है। उसका शरीर और मन दोनों अविकसित दशा में होते हैं। बाल्यावस्था में प्रवेश करते-करते उसका पर्याप्त विकास हो जाता है और वह अपने वातावरण से परिचित होने लगता है। इस अवस्था में वह जिस वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार को तथा शिक्षा-सम्बन्धी बातों को सीखना आरम्भ करता है, वह उसके भावी जीवन की आधारशिला होती

नोट

हैं। मानव-विकास की तीसरी अवस्था किशोरवस्था है। यह बाल्यावस्था के अन्त में आरम्भ होती है और प्रौढ़ावस्था के आरम्भ में समाप्त होती है। इस अवस्था में शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक परिवर्तन होते हैं। वे व्यक्तित्व विकास दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। यह जीवन का सबसे कठिन काल है। यह समय बाल्यावस्था तथा प्रौढ़ावस्था के मध्य का सन्धिकाल है।

संवेग व्यक्ति की उत्तेजित अवस्था है। मानव जीवन में संवेगों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। बालकों में संवेगों का विकास किस रूप में हुआ है। इसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व विकास पर पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि कुछ संवेग जन्मजात होते है। जबकि बहुत से संवेगों का विकास वातावरण में धीरे-धीरे होता है। प्रारम्भिक बाल्यावस्था में बालकों में सभी प्रमुख संवेगों अर्थात् क्रोध, डर, उत्सुकता, हर्ष, स्नेह, दु:ख आदि का विकास हो जाता है। किशोरावस्था तक आते-आते बालकों में वे सभी संवेग होते है जो कि प्रारम्भिक बाल्यावस्था में होते हैं। किन्तु इनका प्रकटीकरण बाल्यावस्था से भिन्न होता है।

परिपक्वता, शारीरिक विकास, बुद्धि, वातावरण आदि कारक व्यक्ति के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करते है। संवेगात्मक विकास किस रूप में होता है यह पूर्वानुमेय है। विभिन्न संवेगों का प्रकटीकरण आयु के अनुसार बढ़ता जाता है। इन संवेगों का ज्ञान एक अध्यापक को होना चाहिये। इनका अपना शैक्षिक निहितार्थ है। हमें यह आशा है कि आपको इस इकाई में सामाजिक विकास से संबंधित विभिन्न पहलुओं को पढ़ने में आनन्द आया होगा। आपने इस इकाई में पढ़ा कि सामाजिक विकास भी बालक के विकास का एक प्रमुख घटक है। सामाजिक विकास को शैक्षिक दृष्टिकोण से भी अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। सामाजिक विकास से तात्पर्य सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुकूल व्यवहार करने की क्षमता सीखने से होता है। विभिन्न अवस्थाओं जैसे- शैशवावस्था, बाल्वावस्था, किशोरावस्था, व्यस्कावस्था में बालक के सामाजिक विकास किस रूप में होता है का भी उल्लेख किया गया है।

सामाजिक विकास के मूल आधार के लिए बालकों को दूसरों के साथ रहने व व्यवहार करने के पर्याप्त अवसर मिलते रहने चाहिए। उन्हें दूसरे व्यक्तियों के साथ भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ उनकी रुचियों को भी समझना चाहिए। साथ ही बालक को सामाजिक बनने की प्रेरणा तथा मार्गदर्शन भी प्रदान करना चाहिए। सामाजिक विकास की प्रमुख कसौटियों के रूप में सामाजिक अनुरूपता, सामाजिक समायोजन, सामाजिक अन्त: क्रियाएं, सामाजिक सहभागिता, सामाजिक परिपक्वता आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए। बालकों के सामाजिक विकास में शिक्षकों की भूमिका काफी अधिक है क्योंकि शिक्षकगण बालक के सामाजिक विकास को सीधे प्रभावित करते हैं।

हमें यह आशा है कि आपको इस इकाई में सामाजिक विकास से संबंधित विभिन्न पहलुओं को पढ़ने में आनन्द आया होगा। आपने इस इकाई में पढ़ा कि सामाजिक विकास भी बालक के विकास का एक प्रमुख घटक है। सामाजिक विकास को शैक्षिक दृष्टिकोण से भी अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। सामाजिक विकास से तात्पर्य सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुकूल व्यवहार करने की क्षमता सीखने से होता है। विभिन्न अवस्थाओं जैसे- शैशवावस्था, बाल्वावस्था, किशोरावस्था, व्यस्कावस्था में बालक के सामाजिक विकास किस रूप में होता है का भी उल्लेख किया गया है।

संवेग व्यक्ति की उत्तेजित अवस्था है। मानव जीवन में संवेगों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। बालकों में संवेगों का विकास किस रूप में हुआ है। इसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व विकास पर पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि कुछ संवेग जन्मजात होते है। जबकि बहुत से संवेगों का विकास वातावरण में धीरे-धीरे होता है। प्रारम्भिक बाल्यावस्था में बालकों में सभी प्रमुख संवेगों

अर्थात् क्रोध, डर, उत्सुकता, हर्ष, स्नेह, दुःख आदि का विकास हो जाता है। किशोरावस्था तक आते-आते बालकों में वे सभी संवेग होते है जो कि प्रारम्भिक बाल्यावस्था में होते हैं। किन्तु इनका प्रकटीकरण बाल्यावस्था से भिन्न होता है।

नोट

परिपक्वता, शारीरिक विकास, बुद्धि, वातावरण आदि कारक व्यक्ति के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करते है। संवेगात्मक विकास किस रूप में होता है यह पूर्वानुमेय है। विभिन्न संवेगों का प्रकटीकरण आयु के अनुसार बढ़ता जाता है। इन संवेगों का ज्ञान एक अध्यापक को होना चाहिये। इनका अपना शैक्षिक निहितार्थ है।

2.34 अभ्यास प्रश्न

1. अभिवृद्धि से आप क्या समझते हैं? अभिवृद्धि और विकास में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. परिपक्वता से आप क्या समझते हैं? उदाहरण सहित समझाइए।
3. 'शैशवावस्था द्वारा जीवन का पूरा क्रम निश्चित होता है' इस कथन के प्रकाश में शैशवावस्था के महत्त्व का विवेचन कीजिए।
4. शिशु की शिक्षा के संबंध में किन-किन महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्यान देना आवश्यक है?
5. किशोरावस्था में शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डालिए।
6. जॉ प्याजे व वायगास्की के संज्ञानात्मक सिद्धान्त का तुलनात्मक विवेचन करें।
7. जेराम ब्रूनर द्वारा दिये गये सिद्धान्त का उल्लेख करे।
8. संज्ञानात्मक विकास के तीनों सिद्धान्तों का शैक्षिक परिस्थितियों में निहितार्थ लिखे।
9. बाल्यावस्था में पाये जाने वाले संवेगों का शैक्षिक निहितार्थ लिखिए।
10. विभिन्न आयु में प्रकट होने वाले संवेगों का चार्ट बनाइए।
11. बालकों व किशोरों में पाये जाने वाले संवेगों में अन्तर लिखिए।
12. व्यक्ति में संवेग जन्मजात पाये जाते है या अर्जित होते है। विवेचना कीजिए।
13. अपने आस-पास के विभिन्न अवस्थाओं के बालकों में पाये जाने वाले सामाजिक व्यवहार के लक्षणों की सूची बनाइये।
14. सामाजिक विकास में एक शिक्षक की भूमिका का मूल्यांकन करें।

2.35 संदर्भ पुस्तकें

- शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली–एल. कौल, विकास पब्लिशिंग।
- शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ–शरीन एवं शशिकला, विनोद पुस्तक मंदिर।
- शैक्षिक तकनीकी एवं मूल्यांकन–डॉ. रामपाल सिंह, भट्ट ब्रदर्स।
- शिक्षा तकनीकी–आर.ए. शर्मा, भट्ट ब्रदर्स।

नोट

अध्याय-3

अधिगम

(Structure)

3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 अधिगम का स्वरूप
3.4 अधिगम की परिभाषा
3.5 अधिगम की प्रक्रिया
3.6 अधिगम प्रक्रिया की विशिष्टताएँ
3.7 अधिगम के प्रकार
3.8 शिक्षण क्या है?
3.9 अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारक
3.10 अध्यापक के लिए अधिगम का महत्त्व
3.11 अधिगम के सिद्धान्त
3.12 थॉर्नडाइक का उद्दीपक-अनुक्रिया अनुबन्ध सिद्धान्त
3.13 पावलोव का अनुकूलित प्रत्यावर्तन सिद्धान्त
3.14 शिक्षा में अनुकूलित प्रत्यावर्तन सिद्धान्त की उपयोगिता एवं महत्त्व
3.15 स्किनर का सक्रिय अनुकूलन सिद्धान्त
3.16 सक्रिय अनुकूलन का शैक्षिक महत्त्व
3.17 कोहलर का सूझ सिद्धान्त
3.18 कोहलर के सूझ सिद्धान्त का शैक्षिक महत्त्व
3.19 अधिगम के स्थानान्तरण का अर्थ
3.20 अधिगम स्थानान्तरण सम्बन्धी सिद्धान्त
3.21 अधिगम-स्थानान्तरण के प्रकार
3.22 स्थानान्तरण की सहायक स्थितियाँ
3.23 अधिगम स्थानान्तरण का शिक्षा में महत्त्व
3.24 अभिप्रेरणा का स्वरूप एवं परिभाषा
3.25 अभिप्रेरणाओं की उत्पत्ति
3.26 अभिप्रेरणाओं का विकास
3.27 अभिप्रेरणा के कारण
3.28 गैने द्वारा दिये गये अधिगम के प्रकार
3.29 सारांश
3.30 अभ्यास-प्रश्न
3.31 संदर्भ पुस्तकें

नोट

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- अधिगम के स्वरूप को समझने में;
- अधिगम की प्रक्रिया एवं उसकी विशिष्टताओं को जानने में;
- शिक्षण क्या है? यह जानने में;
- अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारक तत्वों को समझने में;
- थॉर्नडाइक के उद्दीपक-अनुक्रिया अनुबंध सिद्धांत को समझने में;
- अधिगम संबंधी पावलोव के अनुकूलित प्रत्यावर्तन के सिद्धांत को समझने में;
- स्किनर के अधिगम संबंधी सक्रिय अनुकूलन सिद्धांत को समझने में;
- अधिगम संबंधी कोहलर के सूझ के सिद्धांत को समझने में;
- अधिगम के स्थानांतरण का अर्थ एवं सिद्धांत को समझने में;
- अभिप्रेरणा के स्वरूप को समझने में।

3.2 प्रस्तावना

मनुष्य एक अधिगमशील प्राणी है और अधिगम प्रक्रिया उसके जन्म से ही नहीं बल्कि माँ के गर्भ से ही प्रारम्भ हो जाती है। महाभारत में वीर अभिमन्यु ने माँ के गर्भ में ही चक्रव्यूह तोड़ने का ज्ञान प्राप्त किया था। यह अधिगम का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। अधिगम जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य जीवन भर कुछ-न-कुछ सीखता ही रहता है। प्रारम्भ में शिशु बिल्कुल असहाय और पराश्रित होता है। किन्तु धीरे-धीरे वह अपने को वातावरण के अनुकूल समायोजित करने का प्रयत्न करता है। इस समायोजन में जिस क्रिया से वह अनुभवों से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करता है, उसे मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम कहा है। शिक्षा-मनोविज्ञान में अधिगम प्रमुख अध्ययन-विषय है। पहले अधिगम के लिए 'सीखना' शब्द का प्रयोग होता था।

शिक्षण शिक्षा प्रक्रिया का एक प्रमुख अंग है। इसके द्वारा व्यक्ति नवीन ज्ञान अर्जित करने में सफल और सक्षम होता है। शिक्षण प्रक्रिया का संचालन मानव व्यवहार और उसकी संवेदनाओं से होता है। शिक्षण के क्षेत्र में शैक्षिक प्रक्रिया को प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से शिक्षण को उद्देश्य केन्द्रित बनाया जाने लगा। यही नही मनोविज्ञान के क्षेत्र में शिक्षा की प्रक्रिया पूर्णत: मनोवैज्ञानिक मानी गई और इसके विभिन्न अंगो यथा- शिक्षक, शिक्षार्थी, पाठ्यक्रम और शिक्षा प्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। आज यह सिद्ध हो चुका है कि अधिगम को महत्त्व दिया जाए।

किसी मनोवैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के द्वारा अधिगम की अवधारणा का स्पष्टीकरण ही अधिगम सिद्धान्त है। इसके अंतर्गत अधिगम सम्बन्धी समस्याओं का व्यापक समाधान प्रस्तुत किया गया है। अधिगम सिद्धान्तों में एकरूपता आवश्यक नहीं है। अलग-अलग सिद्धान्तों में अधिगम के अलग-अलग उपागम (approach) हो सकते हैं। Hilgard ने अपनी पुस्तक 'Theories of learning' में दस से भी अधिक सीखने के सिद्धांतों का वर्णन किया है। इनके सम्बन्ध में यह निर्धारित करना कठिन है कि कौन-सा सिद्धान्त उचित है और कौन-सा अनुचित। इस सम्बन्ध में **फ्रैंडसन** (Frandsen) का कथन सराहनीय है "सिद्धान्त न तो ठीक होते हैं और न गलत। वे केवल कुछ विशेष कार्यों के लिए कम या अधिक लाभप्रद होते हैं।"

नोट

अनुकूलित प्रत्यावर्तन सिद्धान्त का प्रतिपादन आई. पी. पावलोव (1849-1936) ने किया। वह रूस का निवासी एवं प्रसिद्ध शरीर वैज्ञानिक था। उसे 1904 में पाचन प्रक्रिया पर किये गये कार्यों के लिए नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया था। वास्तव में वह कुत्तों के पाचन में लार के स्राव की भूमिका का अध्ययन कर रहा था, तभी उसने यह देखा कि कुत्ते के लार स्राव में उस समय वृद्धि हो जाती है जब भोजन आता है और भोजन लाने वाले का पदचाप सुनाई देता है। इसी घटना के अवलोकन के पश्चात् उसने अधिगम सम्बन्धी सिद्धांत प्रतिपादित किया। इस प्रकार वह 50 वर्ष की आयु में मनोवैज्ञानिक बन गया। अपने इस सिद्धान्त का प्रसार करने के लिए उसने दो पुस्तकें Conditioned Ref lexes तथा Lactures on Conditioned Ref lexes प्रकाशित कराईं। इस सिद्धान्त को सम्बद्ध प्रत्यावर्तन, सम्बन्ध प्रतिक्रिया, अनुकूलित अनुक्रिया आदि नामों से जाना जाता है, किन्तु पावलोव द्वारा किये गये कुत्ते पर प्रयोग के उदाहरण पर आधारित सिद्धान्त को 'शास्त्रीय अनुकूलन सिद्धान्त' का नाम दिया गया है। इस सिद्धान्त के स्वरूप के आधार पर इसे 'अनुक्रियात्मक अनुबन्धन सिद्धान्त' का भी नाम दिया गया है। यहाँ मुख्य बात है पावलोव द्वारा कुत्ते पर प्रयोग करके उसके निष्कर्षों को अधिगम के क्षेत्र में मानव व्यवहार पर लागू करने का विचार व्यक्त करना। अत: सर्वप्रथम पावलोव के शास्त्रीय प्रयोग को समझना आवश्यक है।

किसी अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए व्याख्यात्मक कथन, जो मूर्त्त प्रयोगों के निष्कर्षों पर आधारित हो, को सिद्धांत की संज्ञा दी जा सकती है। अधिगम के घटित होने की स्थितियों का मनोवैज्ञानिकों ने निरीक्षण, विश्लेषण तथा संश्लेषण के आधार पर और प्रयोगों के द्वारा अध्ययन कर एक संगठित विचार प्रस्तुत किए हैं, यही अधिगम के सिद्धांत हैं। यहाँ स्किनर के सक्रिय अनुकूलन के सिद्धांत को विस्तार से बताया गया है।

कोहलर का सूझ सिद्धान्त गेस्टाल्टवादी विचारों पर आधारित है। कोहलर स्वयं गेस्टाल्टवाद को विकसित करने वालों में एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक था। गेस्टाल्टवाद का प्रमुख प्रणेता मैक्सवर्दीमर (Max Wertheimer) है। कोहलर के सूझ सिद्धान्त को समझने के लिए गेस्टाल्टवाद के विचार को समझना आवश्यक है। **गेस्टाल्ट** (Gestalt) का अर्थ है पूर्णाकार। गेस्टाल्टवाद से तात्पर्य है आकृति को पूर्ण रूप या समग्र रूप में प्रत्यक्षीकरण करने का विचार। **वर्दीमर** के शब्दों में- "किसी भी पूर्णाकृति की विशेषताएँ केवल इसके वैयक्तिक तत्वों द्वारा नहीं अपितु इसके आन्तरिक संगठन या प्रकृति द्वारा निश्चित होती है।" गेस्टाल्ट विचारधारा के अन्तर्गत यह माना जाता है कि किसी वस्तु के आकार को छोटे-छोटे टुकड़ों में न देखकर उसे पूर्ण रूप में देखा जाता है जिसका कारण यह है कि सम्पूर्ण अंगों की अपेक्षा बड़ा होता है और प्रत्यक्षीकरण के प्रतिरूप के प्रति की गई प्रतिक्रिया वातावरण में स्थित सम्पूर्ण उत्तेजक दशाओं पर निर्भर रहती है, हम किसी नई बात को नवीन समग्राकृति की रचना करके सीखते हैं। यह संगठन-पुनर्गठन की क्रिया अपनी अनुक्रिया में होने वाले परिवर्तनों के रूप में व्यक्त होती है, जिन्हें अधिगम कहते हैं।

शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि किसी एक विषय के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान दूसरे विषयों और परिस्थितयों में उपयोगी सिद्ध होता है। प्राय: यह देखा जाता है कि किसी एक क्रिया या विषय का सीखना दूसरी क्रिया या विषय के सीखने में सहायक होता है। प्राचीन शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा में कुछ विषयों को उच्च स्थान दिया है। उनकी धारणा थी कि इन विषयों द्वारा मस्तिष्क को अच्छी तरह प्रशिक्षित किया जा सकता है। प्लेटो का कथन है- "यदि मन्द बुद्धि को भी ज्यामिति पढ़ाया जाए तो वह कुछ तीव्र आवश्य हो जायेगा। जो व्यक्ति ज्यामिति पढ़ेगा वह दूसरों की अपेक्षा सब विषयों को समझने में अधिक प्रवीण होगा।" शिक्षाशास्त्री लॉक का विचार है कि गणित पढ़ाने से व्यक्ति

विवेकशील बनाता है और इस विवेक शक्ति को वह दूसरे विषयों के सीखने में भी स्थानान्तरित कर सकता है। वर्तमान समय में मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने की इस विधि में परिवर्तन हो रहा है। शैक्षिक दृष्टि से सफलता प्राप्त करने के लिए सीखे हुए किसी विषय का उपयोग दूसरे विषय में किया जाता है। शिक्षा में पाठ्यक्रम निर्माण की दृष्टि से भी सीखने में स्थानान्तरण के सिद्धांत का बहुत महत्त्व है। यहाँ अधिगम स्थानान्तरण और प्रशिक्षण स्थानान्तरण दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। अधिगम स्थानान्तरण का तात्पर्य है विद्यार्थी द्वारा स्वयं अर्जित ज्ञान को दूसरी परिस्थिति में प्रयोग करना। प्रशिक्षण शब्द में सीखना-सिखाना दोनों निहित हैं। इस प्रकार दोनों शब्दों का सम्बन्ध क्रिया से है। इसलिए यहाँ सुविधा की दृष्टि से अधिगम स्थानान्तरण शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। अत: अधिगम के अर्थ, सिद्धान्त,प्रकार तथा शैक्षिक महत्त्व पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील प्राणी है वह सदा ही किसी कार्य में लगा रहता है और कोई-न-कोई व्यवहार करता रहता है। बिना प्रयोजन के वह कोई कार्य या व्यवहार नहीं करता। उसके कार्य का उद्देश्य किसी लक्ष्य विशेष की पूर्ति करना होता है। उदाहरणार्थ– एक अच्छा विद्यार्थी बड़े उत्साह एवं लगन से अध्ययन करता है, जबकि दूसरा अध्ययन की ओर से उदासीन रहता है। इसका क्या कारण है। इसी प्रकार प्रश्न उठता है–हम भोजन क्यों करते हैं? आर्थोपार्जन क्यों करते हैं और क्यों पढ़ते-लिखते हैं? इस प्रश्नों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के कार्य और व्यावहार को परिचालित करने वाली कुछ प्रेरक (Motives) शक्तियाँ हैं जो उसे विभिन्न परिस्थितियों में कार्य या व्यवहार करने की अभिप्रेरणा प्रदान करती हैं।

3.3 अधिगम का स्वरूप

अधिगम एक व्यापक शब्द है। अधिगम जन्मजात प्रतिक्रियाओं पर आधारित होता है। व्यक्ति जन्मजात प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर जो भी क्रियाएँ करता है, वह अपनी परिस्थितियों से समायोजन स्थापित करने के लिए होती हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अधिगम एक मानसिक प्रक्रिया है। मानसिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति व्यवहारों के द्वारा होती है। मानव-व्यवहार अनुभवों के आधार पर परिवर्तित और परिमार्जित होता रहता है। अधिगम की प्रक्रिया में दो तत्व निहित हैं– परिपक्वता और पूर्व अनुभवों से लाभ उठाने की योग्यता। उदाहरणार्थ यदि बालक के सामने एक जलती अंगीठी रखी है तो वह उसे जिज्ञासावश छूता है और छूते ही उसका हाथ जल जाता है, इसलिए वह अपने हाथ को तेजी से हटा लेता है और फिर कभी उसके पास नहीं जाता, क्योंकि उसने अपने अनुभव से सीख लिया कि आग उसे जला देगी। इस प्रकार अधिगम पूर्व अनुभव द्वारा व्यवहार में प्रगतिशील परिवर्तन है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि अधिगम ही शिक्षा है। अधिगम और शिक्षा एक ही क्रिया की ओर संकेत करते हैं। दोनों क्रियाएँ जीवन में सदा और सर्वत्र चलती रहती हैं। बालक परिपवक्ता (Matuirty) की ओर बढ़ता हुआ, अपने अनुभवों से लाभ उठाता हुआ, वातावरण के प्रति जो उपयुक्त प्रतिक्रिया करता है, वही अधिगम है। जैसे कि ब्लेयर, जोन्स और सिम्पसन ने कहा है– "व्यवहार में कोई परिवर्तन जो अनुभवों का परिणाम है और जिसके फलस्वरूप व्यक्ति आने वाली स्थितियों का भिन्न प्रकार से सामना करता है– अधिगम कहलाता है।" (Any change of behaviour which is a result of experience and which causes people to face later situation differently may be called learning.)

अधिगम के स्वरूप एवं अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है।

3.4 अधिगम की परिभाषा

नोट

1. **मॉर्गन** और **गिलीलैण्ड** के अनुसार– "अधिगम, अनुभव के परिणामस्वरूप प्राणी के व्यवहार में कुछ परिमार्जन है,, जो कम-से-कम कुछ समय के लिए प्राणी द्वारा धारण किया जाता है।" (Learning is some modification in the behaviour of the organism as a result of experience which is retained for at least a certain period of time.)
2. गेट्स व अन्य– "अधिगम, अनुभव और प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप व्यवहार में परिवर्तन है।" (Learning is the modification of behaviour through experience and training.)
3. **वुडवर्थ–** "नवीन ज्ञान और नवीन प्रतिक्रियाओं को प्राप्त करने की प्रक्रिया अधिगम की प्रक्रिया है।" (The process of acquiring new knowledge and new responses is the process of learning.)
4. **स्किनर–** "प्रगतिशील व्यवहार-व्यवस्थापन की प्रक्रिया को अधिगम कहते है।" (Learning is process of progressive behaviour adoption.)
5. **क्रानबैंक–** "अधिगम अनुभव के परिणामस्वरूप व्यवहार में परिवर्तन द्वारा व्यक्त होता है।" (Learning is shown by a change in behaviour as a result of experience.)
6. **क्रो** और **क्रो–**"अधिगम आदतों, ज्ञान और अभिवृत्तियों का अर्जन है।" (Learning is the acquisition of habits, knowledge and attitudes.)
7. **थार्नडाइक–**"अधिगम उपयुक्त अनुक्रिया का चयन करना तथा उसे उत्तेजना से जोड़ना है।" (Learning is selecting the appropriate response and connecting it with the stimulus.)
8. **कुप्पूस्वामी–**"अधिगम वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक जीव, एक परिस्थिति में उसके अन्त:क्रिया के परिणाम के रूप में, व्यवहार का एक नवीन प्रतिरूप अर्जित करता है, जो कुछ अंश तक स्थिरोन्मुख रहता है तथा जीव के सामान्य व्यवहार प्रतिमान को प्रभावित करता है।" (Learning is the process by which an organism, as a result of its interaction in a situation, acquires a new mode of behaviour, which tends to persist and affect the general behaviour pattern of the organism, to some degree.)
9. **पारीक–**"अधिगम ज्ञानात्मक, गामक अथवा व्यावहारगत निवेशों को आवश्यकता पड़ने पर उनके प्रभावात्मक एवं विभिन्न प्रयोग हेतु अधिग्रहण, आत्मीकरण व आन्तरीकरण करने तथा आगामी स्वचालित अधिगम को बढ़ी हुई क्षमता की ओर ले जाने वाली प्रक्रिया है।" (Learning is the process of acquiring assimilating and internalizing cognative, motor or behavioural inputs for their effective and varied use when required and leading to enhanced capability of further self-monitered learning.)
10. **गैने–**"अधिगम मानव प्रवृत्तियों, योग्यताओं अथवा क्षमताओं में लाया गया वह परिवर्तन है जो बना रहता है तथा जिसका श्रेय मात्र अभिवृद्धि प्रक्रिया को नहीं जाता है। परिवर्तन का वह रूप जिसे अधिगम कहते हैं वह स्वयं को व्यवहार में परिवर्तन के रूप में प्रदर्शित करता है तथा अधिगम का अनुमान इस तुलना से लगाया जाता है कि किसी व्यक्ति विशेष का व्यवहार किसी अधिगम परिस्थिति में जाने से पूर्व कैसा था और अधिगम

नोट

सम्बन्धी अभिक्रिया देने के पश्चात् वह कैसा व्यवहार प्रदर्शित करता है।" (Learning is a change in human disposition or capibility which can be retained and which is not simply abscribed to the process of growth. The kind of change called learning eshibits itself as a change in behaviour and the inference of learning is made by comparing what behaviour was possible before the individual was placed in a Learning Situation.)

11. **ब्राउने** एवं **एक्सटैण्ड**–"अधिगम ज्ञान, दक्षता तथा चाहना की मूलभूत व्यावहारिक विशिष्टताओं से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।" (Learning is intimately related to the basic behavioural characteristics of knowledge.)

अधिगम की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम की परिभाषाएँ दी हैं, उदाहरणस्वरूप कुछ परिभाषाएँ ऊपर प्रस्तुत की गई हैं। वस्तुतः उक्त परिभाषाओं का संग्रहण इस आधार पर किया गया है जिससे बहुकोणीय दृष्टि से अधिगम का विचार स्पष्ट हो सके। उपर्युक्त परिभाषाएँ स्वतंत्र रूप से पूर्ण होते हुए एक दूसरे की पूरक हैं। अतः अनेक परिभाषाओं के संयोग से अधिगम घटक की निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं–

1. अधिगम की क्रिया द्वारा व्यवहार में परिवर्तन होता है, जैसे आग से जल जाने पर बालक फिर उसके पास नहीं जाता।
2. व्यवहार में जो परिवर्तन होता है वह कुछ समय तक बना रहता है, जैसे वह जल्दी यह नहीं भूलता कि आग से जल जाने पर बहुत कष्ट होता है।
3. व्यवहार में परिवर्तन पूर्व अनुभवों पर आधारित होता है, जैसे यदि बालक कभी आग से जल गया है तो वह आग के साथ कार्य करते हुए ऐसा व्यवहार करेगा कि वह आग से जलने न पाए।
4. अधिगम के द्वारा व्यवहार में होने वाला परिवर्तन बाह्य रूप से दिखाई देने वाला या न दिखाई देने वाला अथवा आंशिक रूप से दिखाई या न दिखाई देने वाला हो सकता है।
5. अधिगम सम्बन्धात्मक रूप से व्यवहार या कृत कार्य में स्थाई परिवर्तन होता है। कृत कार्य के रूप में व्यवहार में होने वाले परिवर्तन में वे परिवर्तन नहीं सम्मिलित किये जा सकते जो परिपक्वता, नशावृत्ति, थकान तथा मूल-प्रवृत्ति व्यवहार से उत्पन्न होते हैं।
6. अधिगम व्यवहार का परिमार्जन है। एक बार व्यवहार में परिवर्तन होने के पश्चात् नवीन परिस्थिति में उस परिवर्तित व्यवहार का संशोधन हो सकता है।
7. अधिगम के द्वारा अधिगमी ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा मनोचालकों (Congnative, Affective and Conative or Psychomotor) के क्षेत्रों में वृद्धि एवं पुनर्वृद्धि प्राप्त करता है, जिससे उसके व्यवहार में विकासात्मक परिवर्तन होता है।

3.5 अधिगम की प्रक्रिया

उपर्युक्त परिभाषाओं में अधिगम की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। अधिगम की क्रिया चेतन या अचेतन रूप में जीवनपर्यन्त चलती रहती है। व्यक्ति का विकास अधिगम प्रक्रिया द्वारा ही होता है। इसका आधार है परिपक्वता। अधिगम की प्रक्रिया में प्रेरणा का होना आवश्यक है।

गुथरी (Guthrie) के अनुसार– "अधिगम किसी परिस्थिति में भिन्न ढंग से कार्य करने की क्षमता है जो कि परिस्थिति के अनुसार पूर्व अनुभवों के कारण आती है।" (Ability to learn is to respond differently to situation because of past experience to a situation.)

नोट

पील के अनुसार–"अधिगम व्यक्ति में एक परिवर्तन है जो उसके वातावरण के परिवर्तन के अनुसरण में होता है।

पील ने अधिगम की प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया है–

1. अधिगम के द्वारा व्यक्ति में स्थायी और अस्थायी दोनों ही प्रकार के परिवर्तन आते हैं।
2. अधिगम व्यक्ति की सहज स्वाभाविक क्रियाओं जैसे पलकें झपकाना, हाथ खींच लेना आदि से भिन्न है।
3. अधिगम सामाजिक और जैविक अनुकूलन या चेतन उद्देश्य से हो सकता है।
4. अधिगम व्यक्ति में सामाजिक या असामाजिक दोनों प्रकार के व्यवहार पैदा कर सकता है।
5. अधिगम त्रुटि रहित या त्रुटि पूर्ण हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक **बोआज** (Boaz) ने कहा है– "अधिगम एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न आदतें, ज्ञान एवं (''Learning is the process which the individual acquires various habits, knowledge and attitudes that are necessary to meet the demand of life in general.)

वुडवर्थ के अनुसार–"जब किसी नये कार्य का करना सबलीकृत (reinforced) हो जाता है और कालान्तर की क्रियाओं में वह पुनः प्रकट होता है, तो उस नये कार्य का करना अधिगम कहलाता है।" (Learning consists in doing something new provided the new activity is rein-forced and reappears in latter activities.)

यह परिभाषा स्किनर द्वारा चूहों पर किये गये प्रयोग से स्पष्ट हो जाती है।

3.6 अधिगम प्रक्रिया की विशिष्टताएँ

अधिगम की परिभाषाओं में अधिगम को एक विशिष्ट प्रकार की प्रक्रिया का स्वरूप मनोवैज्ञानिकों ने दिया है। यदि अधिगम की विशिष्ट प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाए तो अधिगम प्रक्रिया की निम्नलिखित विशिष्टताएँ प्रकाशित होती हैं–

1. **अधिगम सार्वभौमिक है** (Learning is universal)–अधिगम एक ऐसी प्रक्रिया है जो सभी समयों और स्थानों में तथा सभी जीवों के द्वारा घटित रहती है। जहाँ प्राणी है, स्थान है व समय है वहाँ अधिगम की प्रक्रिया अवश्य होगी। प्राणी प्रत्येक समय कुछ न कुछ क्रिया करता ही रहता है।
2. **अधिगम परिवर्तन है** (Learning is change)–बालक के व्यवहार में होने वाला परिवर्तन अधिगम है। अधिगम वह प्रक्रिया है जिससे बालक में परिवर्तन परिलक्षित होंगे। अधिगम द्वारा परिवर्तन और पुनर्परिवर्तन की शृंखला चलती रहती है जिससे बालक परिवर्तनों का परिणाम बन जाता है।
3. **अधिगम विकास है** (Learning is development)–बालक का विकास अधिगम प्रक्रिया के द्वारा ही होता है। बालक के सर्वांगीण विकास में अधिगम का इतना अधिक योगदान होता है कि विकास अधिगम का पर्याय बन जाता है। वैसे भी मनोवैज्ञानिकों ने माना है

नोट

कि प्रगतिशील परिवर्तन और संशोधन के रूप में बालक के व्यक्तिव का विकास होता है जो अधिगम की प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होती है। विकास के रूप में अधिगम दृष्टिगोचर होता है।

4. **अधिगम अनुकूलन है** (Learning is adjustment)–अधिगम प्रक्रिया द्वारा बालक समाज व वातावरण के साथ अनुकूलन स्थापित करता है। अनुकूलन की प्रक्रिया अधिगम की प्रक्रिया से इतनी सन्निकट हो जाती है कि हम अधिगम को अनुकूलन समझ लेते हैं। वास्तव में प्राणी को जीवित रहने के लिए वातावरण के साथ अनुकूलन करना ही होता है। अत: जीवित रहने के लिए उसे अधिगम की प्रक्रिया करनी पड़ती है। गेट्स तथा अन्य ने अधिगम को अनुकूलन के रूप में स्वीकार किया है।
5. **अधिगम प्रयोजनपूर्ण है** (Learning is Purposesive)–अधिगम के लिए किसी प्रयोजन का होना आवश्यक है। प्रयोजनपूर्वक ही अधिगम का लक्ष्य होता है। प्रयोजन अधिगम का लक्ष्य निर्धारित करता है और अनुक्रियाओं को दिशा प्रदान करता है।
6. **अधिगम निरन्तर है** (Learning is continuous)–अधिगम किसी आयु तक सीमित नहीं रहता और न ही किसी काल विशेष तक सीमित रहता है। अपितु यह सतत् आजीवन चलता रहता है।
7. **अधिगम रचनात्मक है** (Learning is creative)–मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह कुछ रचनात्मक कार्य करे। इस प्रकार के कार्य को करना अधिगम है जिसे वह विचारों एवं कार्यों के रूप में साकार करता है। रचनात्मकता व्यक्ति को स्वक्रिया के द्वारा अधि गम की ओर उन्मुख करती है।
8. **अधिगम पूर्ण परिस्थिति के प्रति अनुक्रिया है** (Learning is response to total situation)–व्यक्ति विभिन्न प्रकार की पारिस्थितियों को पूर्णता के आधार पर परख कर उसके साथ समायोजन स्थापित करता है। व्यक्ति परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करने के लिए सही अनुक्रियाओं को सीखता रहता है। अत: अधिगम व्यक्ति की पूर्ण परिस्थिति के प्रति सही अनुक्रियाओं का प्रतिपादन है।
9. **अधिगम उत्तेजना तथा अनुक्रिया के मध्य एक सम्बन्ध है** (Learning is a relationship between stimulous and response)–किसी उत्तेजना के साथ सही अथवा वांछित अनुक्रिया का सम्बन्ध स्थापित करना ही अधिगम है। इसी बात के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने अधि गम के अध्ययन में 'सम्बन्धवाद' का प्रतिपादन किया है।
10. **अधिगम ज्ञानात्मक, प्रभावात्मक तथा क्रियात्मक पक्ष से सम्बन्धित है** (Learning is related with cognative, affective and conative domains)–मनुष्य जो कुछ सीखता है उसका क्षेत्र ज्ञानात्मक, प्रभावात्मक और क्रियात्मक होता है। अत: अधिगम ज्ञानात्मक, प्रभावात्मक तथा क्रियात्मक पक्ष से सम्बन्धित होता है। वह ज्ञान संग्रह करता है, भावनाओं को ग्रहण करता है तथा क्रियाओं को करने हेतु दक्षताओं को भी संकलित करता है।
11. **अधिगम स्थानान्तरणीय है** (Learning is transferable)–एक प्रकार की परिस्थिति में सीखे गये कौशलों अथवा समस्या के समाधानों का उपयोग व्यक्ति मिलती-जुलती दूसरी परिस्थितियों में कर लेता है, अर्थात् अधिगम का स्थानान्तरण हो जाता है। इस प्रकार अधि गम स्थानान्तरणीय है।

नोट

12. अधिगम प्रक्रिया है (Learning is a process)—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिगम एक प्रक्रिया है जो जीव वातावरण के मध्य चलती रहती है। यह प्रक्रिया उत्तेजक-अनुक्रिया की दशाओं में आवश्यकता की पूर्ति, लक्ष्य की प्राप्ति, समायोजन में सफलता की प्राप्ति, व्यावहारिक परिवर्तन तथा सही व्यवहारों के स्थायीकरण में दिखाई देती है। इससे स्पष्ट है कि अधिगम की प्रक्रिया में चार प्रमुख चरण होते है। इन्हें निम्नांकित चित्र के द्वारा समझा जा सकता है।

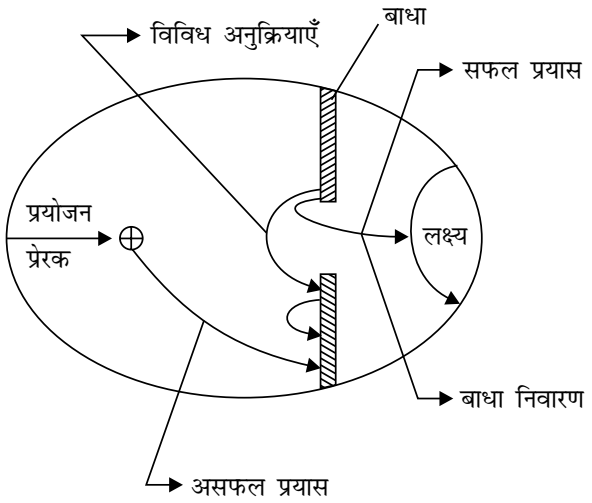

चित्र 3.1. अधिगम प्रक्रिया का चित्रण

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि एक प्रयोजन से प्रेरित होकर व्यक्ति अधिगम की प्रक्रिया प्रारम्भ करता है। प्रयोजन प्रेरक के न होने से अधिगम की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं होती। अधिगम की प्रक्रिया में व्यक्ति सर्वप्रथम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विविध प्रयास करता है जिसमें कुछ सफल तथा कुछ असफल प्रयास होते हैं। असफल प्रयास लक्ष्य प्राप्त करने में बाधाओं को भेद नहीं पाते। सफल प्रयास बाधा भेद कर लक्ष्य प्राप्त कराते हैं। अधिगम प्रक्रिया के निम्नलिखित चार चरण हैं–

1. **आवश्यकता अथवा प्रयोजन** (Need or Purpose)—अधिगम की प्रक्रिया में सर्वप्रथम आवश्यकता अथवा प्रयोजन या प्रेरक (Motive) उत्पन्न होती है। आवश्यकता वह शारीरिक शक्ति है जो शक्ति को उसकी पूर्ति के लिए क्रियाशील बना देती है।
2. **लक्ष्य** (Goal)—आवश्यकता लक्ष्य-उन्मुखी होती है जो व्यक्ति को एक लक्ष्य प्राप्त कर लेने तक क्रियाशील बनाए रखती है। लक्ष्य-बोध के अभाव में अधिगम की प्रक्रिया प्रभावशाली नहीं होती है।
3. **समायोजन** (Adjustment)—व्यक्ति लक्ष्य प्राप्त करने हेतु परिस्थितियों के साथ समायोजन स्थापित करता है। वह बाधा भेदने के लिए अनेक प्रयास करता है जिसमें बाधा भेदकर लक्ष्य प्राप्त कराने वाले प्रयास सफल प्रयास कहलाते हैं, शेष असफल प्रयास।
4. **परिवर्तन** (Change)—अधिगम की प्रक्रिया से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है जो पहले के व्यवहार से भिन्न होता है या पहले से उसके व्यवहार में नहीं होता। यह परिवर्तन स्थायी होकर व्यक्ति के अर्जित व्यवहार का एक भाग बन जाता है यद्यपि इसमें भी परिवर्तन सम्भावित होता है। इसे सबलीकरण की प्रक्रिया कहते हैं।

अधिगम की प्रक्रिया में सोपान

अधिगम की परिभाषा एवं प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर सीखने के सोपानों का पता चलता है। मनोवैज्ञानिक मिलर तथा डोलार्ड ने अधिगम के सोपानों पर इस प्रकार विचार व्यक्त किये हैं–

नोट

"अधिगम के लिए व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता का अनुभव होना चाहिए, उसे कुछ देखना-भालना चाहिए, उसे कुछ करना चाहिए और अन्त में उसे कुछ प्राप्त करना चाहिए।" (In order to learn one must want something, notice something, do something and get something.)

डेशील (Dashiell) ने अधिगम प्रक्रिया के सोपनों को अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया है। इन सोपानों में (1) अभिप्रेरणा, (2) उद्देश्य, (3) बाधा, (4) उद्देश्य प्राप्ति के लिए विभिन्न अनुक्रियाएँ, (5) सबलीकरण, (6) सामान्यीकरण या एकीकरण प्रमुख हैं। अधिगम की प्रक्रिया में व्यक्ति में अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए प्रेरक उत्पन्न हो जाता है, जिसका कोई प्रयोजन होता है। प्रयोजन से प्रेरित होकर वह क्रियाशील होता है। व्यक्ति के प्रत्येक क्रिया या व्यवहार का एक निश्चित उद्देश्य होता है। अर्थात् उसकी क्रिया सप्रयोजन होती है। अधिगम की प्रक्रिया में तीसरा सोपान है– उद्देश्य की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होना। बाधा उत्पन्न होने पर वह उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की सम्भावित अनुक्रियाएँ या व्यवहार करता है। वह प्रयत्न एवं भूल या सूझ द्वारा बाधा को हटाने के लिए जो व्यवहार करता है उसमें अधिगम की क्रिया निहित रहती है। अनेक प्रकार की सम्भावित अनुक्रियाओं में से जिस अनुक्रिया द्वारा उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है वह सबलीकृत (Reinforced) हो जाती है और वह उसी सफल क्रिया की विशेष परिस्थिति आने पर पुनरावृत्ति करता है। इस प्रकार अधिगम की प्रक्रिया में सबलीकरण (Reinforcement) एक प्रमुख सोपान है। इस सिद्धान्त का वर्णन आगे किया गया है। इसके बाद वह नवीन सफल अनुक्रिया का पूर्व ज्ञान या क्रियाओं से समन्वय करता है। इस प्रकार नवीन अनुभवों का पूर्व अनुभवों से जब समन्वय या सम्बन्ध होता है तो वह उसके ज्ञान का एक अंग बन जाता है, इसे शिक्षा शास्त्री हरबर्ट ने पुर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष कहा है अधिगम की प्रक्रिया उपर्युक्त सोपानों द्वारा सम्पन्न होती है।

अधिगम और परिपक्वता– अधिगम की क्रिया पर परिपक्वता का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। परिवक्ता का सम्बन्ध शारीरिक क्षमता के विकास से है। शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक योग्यता का विकास भी होता जाता है, इस विकास के फलस्वरूप व्यक्ति के व्यवहार में भी परिवर्तन होता रहता है। व्यवहार में परिवर्तन परिपक्वता के कारण और अधिगम के कारण होता है। अधि गम की क्रिया जीवन भर चलती है और इस प्रकार व्यक्ति का विकास होता रहता है। परिपक्वता भी विकास की सतत् प्रक्रिया है। परिपक्वता का अर्थ है कि विकास की एक निश्चित अवस्था में बच्चे वे कार्य करने के योग्य हो जाते हैं जो वे इससे पूर्व करने में समर्थ नहीं होते। परिपक्वता और अधिगम की क्रिया में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सीखने के शारीरिक उपकरणों जैसे केन्द्रीय स्नायुमण्डल, ज्ञानेन्द्रियों आदि की सहायता से ही हम सीखते हैं। जैसे-जैसे बालक का शरीर परिपक्वता की ओर बढ़ता जाता है वह अन्तर्निहित शक्तियों का प्रयोग करने लगता है और उसके व्यवहार में परिवर्तन होता रहता है, इस परिवर्तन के लिये शारीरिक, माँसपेशीयों, गामक तथा मानसिक परिपक्वता की आवश्यकता होती है। अधिगम और परिपक्वता के सम्बन्ध में बोरिंग, लॉगफील्ड और वेल्ड का विचार है– "परिपक्वता का अर्थ उस अभिवृद्धि और विकास से है जो किसी विशेष प्रकार के व्यवहार के अधिगम के पहले आवश्यक होता है।" अत: अधिगम के लिए मानसिक एवं शारीरिक परिपक्वता आवश्यक है। इस सम्बन्ध में **मनोवैज्ञानिक डेनिस** (Dannis), **मैक-ग्रो** (Mc Grow),

नोट

स्ट्रेयर (Strayer) आदि ने जुड़वाँ बालक, बालिकाओं पर प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला कि अधिगम के लिए परिपक्वता आवश्यक है। जिस कार्य को सीखने के लिए शारीरिक और मानसिक परिपक्वता की आवश्यकता है, उस पर पहले से ही अधिगम के लिए जोर देना मनोवैज्ञानिक एवं लाभप्रद नहीं होता है। डेनिस महोदय ने दो जुड़वाँ बालिकाओं पर एक प्रयोग किया। एक बालिका को उसने पाँच माह बाद ही सीढ़ियों पर चढ़ने का प्रशिक्षण दिया और दूसरी कि किसी प्रकार का प्रशिक्षण नहीं दिया गया। एक साल बाद देखा कि दोनों की सीढ़ियों पर चढ़ने की क्षमता समान थी। इस प्रयोग से यह स्पष्ट है कि किसी कार्य के अधिगम के लिए शारीरिक और मानसिक परिपक्वता दोनों आवश्यक हैं। अपरिपक्वावस्था में दिया गया प्रशिक्षण व्यर्थ सिद्ध होता है और इस प्रकार आरम्भ में बालक को जबरदस्ती लिखना, पढ़ना, गणित या किसी भी विषय का ज्ञान हानिकारक होता है। अपरिपक्वता में अधिगम से बालक पर मानसिक बोझ पड़ता है और उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उसके स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती है। अत: अधिगम की क्रियाओं में परिपक्वता के स्तर पर ध्यान रखना आवश्यक है। परिपक्वता और अधि गम दोनों क्रियाएँ एक दूसरे पर आश्रित हैं।

3.7 अधिगम के प्रकार

अधिगम के प्रकारों को बताना सरल नहीं है क्योंकि इसका वर्गीकरण कई दृष्टि से किया जा सकता है जैसे अधिगम के सिद्धान्तों, विधियों, अधिगम के ढंग एवं विषय वस्तु आदि बातों को ध्यान में रखकर अधिगम के प्रकारों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है–

1. **संवेदन गति अधिगम** (Sensory motor Learning)–इसमें कौशल अर्जन सम्बन्धी ज्ञान आता है। इस प्रकार के अधिगम में विभिन्न प्रकार की कुशलता अर्जित की जाती है। इसमें विभिन्न कौशल (Skills) आते हैं जैसे तैरना, साइकिल चलाना, टाइपिंग, चित्र बनाना आदि। इसमें संवेदन क्रियाओं का अधिगम आता है। बालक दैनिक व्यवहार में आने वाली बातों का अनुकरण करके सीखता है। जैसे निरर्थक शब्दों को बार-बार सुनकर व दोहराकर वह बोलना सीखता है।
2. **गामक अधिगम** (Motor Learning)–विकास की प्रारम्भिक अवस्था में बालक शरीर के अंगों के संचालन एवं गति पर नियंत्रण करना सीखता है।
3. **बौद्धिक अधिगम** (Intellectual Learning)–इसके अन्तर्गत ज्ञानोपार्जन सम्बन्धी समस्त क्रियाएँ आती हैं जो कि निम्नांकित हैं–
   - **(क) प्रत्यक्षीकरण अधिगम** (Perceptual Learning)–इसमें बालक प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक स्तर पर ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से सम्पूर्ण परिस्थिति को प्रत्यक्ष देखकर व सुनकर प्रतिक्रिया करता है और सीखता है।
   - **(ख) प्रत्यात्मक अधिगम** (Conceptual Learning)–इस प्रकार के सीखने में उसे तर्क, कल्पना और चिन्तन का सहारा लेना पड़ता है। इस विषय पर 'चिन्तन' और 'तर्क' अध्याय में विस्तृत रूप से विचार किया गया है।
   - **(ग) साहचर्यात्मक अधिगम** (Associative Learning)–प्रत्यात्मक अधिगम इसी अधि गम की सहायता से सम्पन्न होता है। इस प्रकार का अधिगम स्मृति के अन्तर्गत आता है। इसका वर्णन 'स्मृति' अध्याय में किया गया है।

नोट

(घ) रसानुभूतिपूरक अधिगम (Appreciational Learning)–इस प्रकार के सीखने में बालकों में संवेगात्मक या भावुकतापूर्ण वर्णन या घटना से प्रभावित होकर मूल्यांकन करने अर्थात् गुण-दोष विवेचन करने तथा सौन्दर्यबोध की क्षमता आ जाती है। अधिगम-प्रक्रिया के उपर्युक्त प्रकारों के विवेचन से अधिगम के उद्देश्य स्पष्ट हो जाते हैं। इन प्रकारों का उल्लेख पुस्तक में यथास्थान विस्तार से किया गया है।

(ङ) कार्यक्रमित अधिगम– इसका उल्लेख एक अलग अध्याय में आगे किया गया है।

यदि हम अधिगम घटित होने की दशाओं का विश्लेषण करें तो अधिगम के निम्नलिखित प्रकार दिखाई पड़ते हैं–

1. **सरल अधिगम**–बालक स्वतंत्र रूप से कार्य करते-करते जब कुछ सीख जाता है तो उसे सरल अधिगम कहते हैं, जैसे यदि बालक खेलते-खेलते आग से छू जाता है तो वह या सीख जाता है कि आग से दूर रहना चाहिए। इसी प्रकार की स्वक्रिया के परिणामों से नये अनुभवों के रूप में वह सरलतापूर्वक सीखता जाता है, उसकी किसी प्रकार की संगठित क्रिया नहीं होती।
2. **कठिन अधिगम**–कठिन अधिगम में संगठित एवं जटिल क्रियाएँ होती हैं तथा कठिनता का स्तर बढ़ता जाता है, जैसे बालक जब संगीत सीखता है तो उसे सुर, ताल, भाव आदि का ज्ञान आवश्यक हो जाता है और आगे चलकर राग, आलाप आदि की और भी कठिन क्रिया सीखनी होती है। कठिन अधिगम में बालक को विभिन्न ज्ञान एवं क्रिया में सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है।
3. **आकस्मिक अधिगम**–आकस्मिक अधिगम अनायास घटित हो जाता है, जैसे बालक पारस्परिक बातचीत में कोई नई बात सीख जाता है। इसमें बालक सीखने के लिए सचेत नहीं होता और न ही कुछ सीखने के लिए संगठित रूप से कोई प्रयास करता है। वह आकस्मिक रूप से सीख जाता है।
4. **उद्देश्यपूर्ण अधिगम**–उद्देश्यपूर्ण अधिगम सायास रूप से घटित होता है। बालक को कुछ सीखने के लिए जान-बूझकर और सचेत रूप से प्रयास करने पड़ते हैं। अधिगम का उद्देश्य पहले से निर्धारित कर संगठित रूप से बालक क्रियाशील होता है। जैसे- यदि बालक गणित सीखना चाहता है तो वह ऐसे व्यक्ति के पास जायेगा जो उसे गणित के सिद्धान्त और व्यवहार सिखा सके। इसके अतिरिक्त वह स्वयं अभ्यास आदि करता है।

3.8 शिक्षण क्या है?

अधिकांश व्यक्तियों की शिक्षण के विषय में भ्रमपूर्ण धारणा है। उनका मानना है कि शिक्षण का आशय रटने या ज्ञान को मस्तिष्क में ठूँसने से है परन्तु वास्तव में यह गलत है। शिक्षण एक सामाजिक घटना (Phenomena) है। इसका अर्थ स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित परिभाषाओं को देखा जा सकता है।

डॉ. माथुर– वर्तमान समय में शिक्षण से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि बालक के मस्तिष्क को थोथे, अव्यावहारिक ज्ञान से भर दिया जाए.... अब तो शिक्षण का अर्थ है कि बालक को ऐसे अवसर प्रदान किए जाए जिससे बालक अपनी अवस्था एवं प्रकृति के अनुरूप समस्याओं को हल

करने की क्षमता प्राप्त कर लें। वह अपने आप योजना बना सके, प्रदत्त सामग्री एकत्र कर सके, उसे सुसंगठित कर सके और फल को प्राप्त कर सके जिसे वह फिर प्रयोग में ला सके।"

नोट

थामस ई. क्लेटन (Thomes E.Clayton)–"शिक्षण वह कौशल है जो छात्रों में रुचि तथा धारणा को उद्दीप्त करने एवं ज्ञान वर्धन करने हेतु प्रयुक्त किया जाता है। वह दो या अधिक व्यक्तियों के मध्य सम्प्रेषण है। इसमें एक व्यक्ति दूसरे से सीखने में संलग्न रहता है। यह विद्यालय में किया जाने वाला अभ्यास है जिसमें पहले से शिक्षित व्यक्ति बच्चों को शिक्षा देता है।"

बी. एफ. स्किनर–"शिक्षण उन आवश्यक परिस्थितियों की व्यवस्था है जिसके अंतर्गत छात्र सीखते हैं, वे स्वाभाविक वातावरण में शिक्षण के बिना ही सीखते हैं। शिक्षक उन विशेष परिस्थितियों की व्यवस्था करते हैं जो सीखने के कार्य को तेज करे। ये व्यवहार की अभिव्यक्ति में तेजी लाती है, उसे निश्चित करती है।" (Teaching is he arrangement of contingencies under which students learn. They learn without teaching in their natural environment, but teachers arrange special contingencies which expedite learning, hastening the appearance of behaviour, which would otherwise be acquired slowly or making sure of the appearance of behaviour which might otherwise occur.)

क्लार्क (Clarke)–"छात्र के व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए दी जाने वाली क्रिया शिक्षण है।" (Teaching acivities are performed to produce change in students behaviour)

बी. ओ. स्मिथ–"अधिगम को अभिप्रेरित करने वाली क्रिया शिक्षण है।" (Teaching is a system of actions intended to produce learning.)

गेट्स–"प्रशिक्षण एवं अनुभव द्वारा व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों को अधिगम कहते है।" (Learning is the modification of behaviour through experience & training.)

बर्टन–"शिक्षण, अधिगम हेतु प्रेरणा पथ प्रदर्शन, पथ निर्देशन और प्रोत्साहन है।" (Teaching is the stimulation, guidance, direction and encouragement of learning.)

उपरोक्त परिभाषाओं से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं–

1. शिक्षण एक सामान्य विचार की व्याख्या करता है।
2. यह एक सामाजिक प्रक्रिया है।
3. यह मानव प्रकृति पर आधारित है।
4. यह उद्देश्यपूर्ण और वर्णनात्मक क्रिया है।
5. यह औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही है।
6. इसके तीन पक्ष होते हैं-शिक्षक, शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम।
7. इसकी अपनी निजी शिक्षण शैली होती है और ये अनेक विधियों, प्रविधयों द्वारा संचालित होता है।
8. इसमें मार्गदर्शन तथा निर्देश दोनों ही शामिल रहते हैं।

अच्छे शिक्षण अधिगम की विशेषताएँ–(Characteristics of teaching)

अच्छे शिक्षण की निम्न विशेषताएँ होती हैं–

1. निर्देशात्मक (Suggestive) होता है।
2. प्रेरणादायक (Stimulating) होता है।

नोट

3. सुव्यवस्थित और सुनियोजित होता है।
4. प्रगति पर आधारित होता है।
5. सहानुभूतिपूर्ण होता है।
6. सहयोग पर आधारित होता है।
7. बाल-केंन्द्रित एवं मनोवैज्ञानिक होता है।
8. बालक में आत्मविश्वास उत्पन्न करता है।
9. निदानात्मक और उपचारात्मक होता है।
10. बालक के पूर्व ज्ञान को ध्यान में रखकर दिया जाता है।

3.9 अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारक

अधिगम की प्रक्रिया का अध्ययन करने के उपरान्त शिक्षा में अधिगम को प्रभावित करने वाले कारकों का भी अध्ययन करना आवश्यक है। चूँकि मनुष्य का व्यवहार परिवर्तनशील होता है इसलिए उसका अधिगम भी जटिल होता है। उसके अधिगम में व्यक्तिगत भिन्नता पाई जाती है।

मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के आधार पर ऐसे कारकों का अध्ययन किया है, जो सामान्य रूप से सभी व्यक्तियों के अधिगम को प्रभावित करते हैं। अधिगम को प्रभावित करने वाले कारकों का समुचित ज्ञान हो जाने पर ही अधिगम की प्रक्रिया में उन्नति की जा सकती है। इन कारकों में प्रेरणा, रुचि, ध्यान, बुद्धि, स्वास्थ्य, विषय का स्वरूप और अधिगम की विधियाँ प्रमुख हैं। इन कारकों का अध्ययन अधिगम की प्रक्रिया में सहायक तथा बाधक, दोनों रूपों में किया जा सकता है। किसी कारक का विपरीत होना अधिगम में बाधक होता है किन्तु उनका अनुकूल और उचित होना सहायक सिद्ध होता है। अधिगम के कारकों या दशाओं (Conditions) का उल्लेख करते हुए मनोवैज्ञानिक सिम्पसन का कथन है–''अन्य दशाओं के साथ-साथ अधिगम की कुछ दशाएँ हैं–उत्तम स्वास्थ्य, रहने की अच्छी आदतें, शारीरिक दोषों से मुक्ति, अध्ययन की अच्छी आदतें, संवेगात्मक सन्तुलन, मानसिक योग्यता, कार्य-सम्बन्धी परिपक्वता, वांछनीय दृष्टिकोण और रुचियाँ, उत्तम सामाजिक अनुकूलन, रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास से मुक्ति।''

उपर्युक्त विचारों के आधार पर अधिगम को प्रभावित करने वाले कारकों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) शारीरिक कारक, (ख) मनोवैज्ञानिक कारक, (ग) पर्यावरण सम्बन्धी कारक, (घ) अन्य कारक।

(क) शारीरिक कारक

1. **ज्ञानेन्द्रियाँ**–अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करने में शारीरिक तत्वों का बहुत महत्त्व है। प्रथम शारीरिक तत्व, जो अधिगम की क्रिया में निहित हैं वे ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ के पाँच प्रकार दृष्टि, श्रवण, स्वाद, सूँघना और स्पर्श हैं। हमारे सम्पूर्ण ज्ञान का आधार प्रत्यक्षीकरण है।
2. **शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य**–अधिगम के लिए शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का ठीक होना आवश्यक है। जो बालक शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होते हैं, वे

नोट

अधिगम में रुचि लेते है और शीघ्र सीख जाते हैं। अस्वस्थ बालक अधिगम में रुचि नहीं लेते हैं वे बहुत जल्दी थक जाते हैं, फलस्वरूप वे विषय को देर से और कम सीख पाते हैं। थकान के कारण भी अधिगम में बाधा पड़ती है। थका हुआ व्यक्ति रुचि और प्रेरणा होने पर भी कार्य ठीक से नहीं कर सकता। अत: शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना अवाश्यक है।

3. **परिपक्वता** (Maturity)–अधिगम का परिपक्वता से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालक आयु में जैसे-जैसे वृद्धि होती है, उसके शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक योग्यता का भी विकास होता जाता है। इस प्रकार अधिगम की क्रिया पर शारीरिक और मानसिक परिपक्वता का प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से परिपक्व बालकों को अधिगम में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती उनकी अधिक शक्ति और समय अपव्यय (नष्ट) होता है।

(ख) मनोवैज्ञानिक कारक

1. **प्रेरणा तथा अधिगम**–अधिगम की क्रिया में प्रेरणा का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधि गम की क्रिया में प्रेरणा के स्थान, महत्त्व तथा उसकी उपयोगिता पर एक अलग अध्याय में विवेचन किया गया है। अधिगम में प्रेरकों का होना आवश्यक है। प्रेरक एक आन्तरिक शक्ति है जो व्यक्ति को क्रिया करने के लिए बाध्य करती है। आन्तरिक प्रेरणा से जो कार्य किया जाता है, उसमें अधिक उत्साह एवं सक्रियता दिखार्द देती है। शिक्षक को बालकों की आवश्यताओं, रुचियों और प्रयोजनों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आवश्यकता (Need), प्रयोजन और प्रोत्साहन (Incentive) प्रेरणा से सम्बन्धित है। यदि शिक्षण प्रेरणा के इन तत्वों को भली-भाँति नहीं समझ पाता तो वह प्रेरणा की प्रक्रिया में सफलता नहीं प्राप्त कर पाता। प्रोत्साहन (Incentive) मिलने पर ही बालक विशेष

   रूप से अधिगम के लिए प्रोत्साहित होता है। आवश्यकता (Need) उसे अधिगम की प्रेरणा देती है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रेरणा से सम्बन्धित पशुओं तथा मनुष्यों पर किये गये प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि जब अधिगम की प्रेरणा रहती है और साथ ही प्रोत्साहन या प्रलोभन मिलता है, तब वे शीघ्रता तथा सरलता से सीखते हैं। बालक की शिक्षा में प्रशंसा, प्रोत्साहन, पुरस्कार आदि द्वारा उसे अधिगम के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इसी प्रकार उचित निन्दा और दण्ड से वह खराब आचरण और व्यवहार को नहीं दुहराता। शिक्षा में पुरस्कार तथा दण्ड दोनों ही क्रमश: अच्छे व्यवहारों को अधिगम और गलत व्यवहारों को त्यागने में सहायता करते हैं।

2. **रुचि और रुझान** (Interest and Aptitude)– अधिगम व्यक्ति की रुचि पर निर्भर होता है। यदि बालक को किसी विषय में रुची होती है तो वह अधिगम करते समय सरलता और आनन्द का अनुभव करता है। शिक्षक का प्रथम कर्त्तव्य बालक में विषय के प्रति रुचि एवं जिज्ञासा को जाग्रत करना है। बालक को जब अपनी रुचि और रुझान (अभिक्षमता) के अनुकूल कार्य का अवसर मिलता है, तब वह अपनी योग्यता का पूरा प्रदर्शन करता है और उसे कुशलतापूर्वक सीख लेता है। विद्यालयों में बालकों की रुचि और रुझान की जाँच करके उसी के अनुसार शिक्षा देने की व्यवस्था करना आवश्यक है ताकि वे सफलतापूर्वक विभिन्न परिस्थितियों में अपने को समायोजित कर सकें।

नोट

3. **अधिगम की इच्छा** (Will to Learn)–अधिगम में व्यक्ति की इच्छा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि अधिगम करने की इच्छा होती है तो व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अधिगम कर लेता है। जिस व्यक्ति को अधिगम की इच्छा नहीं होती उसे किसी भी प्रकार से सिखाया नहीं जा सकता। जैसा कि एक मनोवैज्ञानिक का कथन है–''घोड़े को पानी के तालाब तक तो ले जाया जा सकता है किन्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध उसको पानी नहीं पिलाया जा सकता है।'' अत: शिक्षक को चाहिए कि वह रुचि और जिज्ञासा को जाग्रत करकें बालकों की इच्छाशक्ति को दृढ़ करें।
4. **बुद्धि**–बुद्धि और अधिगम की क्षमता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालकों में बुद्धि का वितरण समान नहीं होता, इसलिए भिन्न-भिन्न बालकों में अधिगम की क्षमता भी भिन्न होती है। अधिगम विशेष रूप से अधिगम करने वाले की बौद्धिक योग्यता पर निर्भर है। तीव्र-बुद्धि बालक विषय को जल्दी सीख लेता है, कम-बुद्धि बालक समझने और अधिगम में अधिक समय लगाता है। विचार, कल्पना, तर्क, चिन्तन और निर्णय-शक्तियाँ बुद्धि से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार अधिगम में प्रगति लाने का महत्त्वपूर्ण कारक बुद्धि है।

(ग) पर्यावरण सम्बन्धी कारक

वातावरण–अधिगम की प्रगति अधिकांश रूप में अनुकूल वातावरण पर निर्भर होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में अधिगम का कार्य सरलतापूर्वक नहीं सम्पन्न हो सकता। कक्षा का 'मनोवैज्ञानिक' वातावरण अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। मान्टेसरी ने कहा है कि अधिगम के लिए 'मनोवैज्ञानिक क्षण' (Psychological Moment) उत्पन्न करना शिक्षक के लिए अत्यन्त अवाश्यक है। पढ़ने का स्थान, स्वच्छ वायु और प्रकाशयुक्त होना चाहिए, जिससे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहे। पढ़ने का स्थान चाहे वह घर हो या विद्यालय उसका वातावरण शांतिपूर्ण हो। एकान्त शान्त वातावरण में ही पढ़ने की ओर ध्यान एकाग्र किया जा सकता है। कक्षा में विषय की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए तीव्र उद्दीपनों का प्रयोग करना चाहिए, जैसे सहायक सामग्री, उपयुक्त उदाहरण आदि। कक्षा का वातावरण सरल, रोचक तथा जिज्ञासापूर्ण होना चाहिए। इस प्रकार उपयुक्त वातावरण में ही अधिगम में उन्नति होती है।

(घ) अन्य कारक

1. **विषय-सामग्री का स्वरूप** (Nature of Subject Matter)–कसी विषय का अधिगम विषय-सामग्री के स्वरूप पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ- पाठ्य-पुस्तक में कठिन और आलोचनात्मक निबन्ध के पाठ की अपेक्षा, रोचक कहानी का पाठ सरलता से और रुचि से सीख लिया जाता है। इस सम्बन्ध में शिक्षक के 'सरल से कठिन की और' (From Simple to Difficult of Complex) का सिद्धान्त सहायक होता है। अर्थात् सरल बातों को सिखाते हुए कठिन की ओर बढ़ना चाहिए।
2. **अधिगम की विधियाँ**–अधिगम में उन्नति विशेष रूप से अधिगम की विधियों पर निर्भर करती है। इनका उल्लेख यथा-स्थान किया गया है। अधिगम की विधि बालक की अवस्था के अनुकूल जितनी रुचिकर और उपयुक्त होगी, अधिगम उतना ही सरल होगा। इस दृष्टि से ही प्रारम्भिक कक्षाओं में 'खेल विधि' और करके सीखने की विधि' या 'क्रिया विधि'

का प्रयोग किया जाता है। उच्च कक्षाओं में 'सामूहिक सहसम्बन्ध व्याख्यान' तथा अन्य विधियों का प्रयोग किया जाता है।

3. **अभ्यास**–अधिगम में उन्नति लाने का महत्त्वपूर्ण कारण अभ्यास अधिगम को बहुत अधिक प्रभावित करता है। यह 'अभ्यास के नियम' में बताया जा चुका है।

नोट

4. **शिक्षक और अधिगम की प्रक्रिया**–अधिगम की प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा की द्विमुखी प्रक्रिया में, शिक्षक के आचार-विचार, व्यवहार, व्यक्तित्व, ज्ञान और शिक्षण-विधि का विद्यार्थी पर तथा अधिगम की प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। मान्टेसरी, फ्रोबेल तथा अन्य शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षक को एक पथ-दर्शक, माली तथा कलाकार की संज्ञा दी है। शिक्षक अपनी योग्यता तथा विभिन्न साधनों द्वारा बालक के लिए अधिगम की प्रक्रिया को सरल और तीव्रगामी बना सकता है। पढ़ने की जगह हमेशा साफ-सुथरी और स्वच्छ वायु एवं प्रकाशयुक्त होनी चाहिए। शांत वातावरण में मना एकाग्रचित होता है, जो पढ़ाई की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त है।

5. **सफलता या परिणाम का ज्ञान** (Knowledge of Results)– किसी कार्य अधिगम करते समय यदि समय-समय पर अधिगम की प्रगति का ज्ञान होता रहता है, तो अधिगम करने वाले को आगे अधिगम में उत्साह और प्रेरणा मिलती है। यदि अधिगम में गलतियाँ या असफलता मिलती है, तो भी इसका ज्ञान करना आवश्यक होता है। इससे सीखने वाले को बार-बार प्रयत्न करने और सुधार करने की भी प्रेरणा मिलती है। अतः विद्यार्थी को उसके अधिगम की प्रगति और सफलता या परिणाम का ज्ञान कराते रहना चाहिए।

उपरोक्त महत्त्वपूर्ण कारकों के **अतिरिक्त शिक्षण अधिगम** की दृष्टि से कुछ विशेष वर्गीकरण के आधार पर निम्नलिखित कारकों का अवलोकन किया जा सकता है।

1. **शिक्षार्थी से सम्बन्धित कारक** (Factors belonging to the Learner)– यूँ तो परिवार बालक की प्रथम पाठशाला है परन्तु जब बालक औपचारिक रूप से विद्यालय में प्रवेश लेता है तो उसके मन में अनेक तरह की जिज्ञासाएँ उठती हैं जिन्हें वह शान्त करना चाहता है और उसे नवीन वातावरण में समायोजन करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अधिगम क्रिया अनेक कारकों से प्रभावित होती है जैसे– बालक (जो शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया का आधार है), अधिगम की इच्छा, आकांक्षा का स्तर, शैक्षिक पृष्ठभूमि, स्वास्थ्य, परिपक्वता, अभिप्रेरणा, सीखने वाले की अभिवृत्ति, सीखने का समय, सीखने की अवधि, बुद्धि और अधिगम प्रक्रिया आदि। इन प्रमुख कारकों से प्रभावित होकर शिक्षार्थी आसानी से कुछ भी सीखकर जीवन को सफलता के पथ पर अग्रसित कर सकता है।

2. **शिक्षक सम्बन्धी कारक** (Factor belonging to the Teacher)–अधिगम को प्रभावित करने वाले शिक्षक से सम्बन्धित अनेक कारक हैं जैसे– शिक्षक को विषय को ज्ञान, मनोविज्ञान का ज्ञान, शिक्षण विधियाँ, व्यक्तिगत भेदों का ज्ञान, उचित व्यवहार, बाल केन्द्रित शिक्षा, समय-सारिणी, पाठ्य-सहगामी क्रियाएँ और अनुशासन इत्यादि। ये ऐसे प्रमुख कारक हैं जिससे शिक्षक को सिखाने में सहायता मिलती है। किसी एक कारक के अभाव में अधिगम सही तरीके से नहीं हो पाएगा।

3. **पाठ्यवस्तु से सम्बन्धित कारक** (Factors belonging to the subject Matter)–अधिगम को प्रभावित करने वाले पाठ्यवस्तु से सम्बन्धित कुछ मुख्य कारक अग्रलिखित है। यथा–

विषयवस्तु की प्रकृति, आकार, भाषा-शैली, क्रम; उदाहरण प्रस्तुतीकरण, दृश्य-श्रव्य सामग्री, रुचिकर विषय वस्तु, की उद्देश्यपूर्णता, विभिन्न विषयों का कठिनाई स्तर और उसकी संरचना आदि। इन प्रमुख कारकों से अधिगम प्रक्रिया अत्यधिक प्रभावित होती है और यदि इनका निर्माण करने में कुछ बातों का विशेष ध्यान रखा जाए तो अधिगम स्थायी होगा।

4. **अधिगम व्यवस्था से सम्बन्धित कारक** (Factor related to Management to Learning) – अधिगम को प्रभावित करने वाले अधिगम व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक कारक हैं। इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए अनेक विधियों को अपनाया जाना चाहिए- यथा सम्पूर्ण बनाम खण्ड विधि, उप-विषय बनाम सकेन्द्रीय विधि, संकल्पित बनाम वितरित विधि, आयोजित बनाम प्रासंगिक विधि और संक्रिय बनाम निष्क्रिय विधि।
5. **वातावरण से सम्बन्धित कारक** (Environmental Factors)–वातावरण के बहुत से कारक अधिगम को प्रभावित करते हैं जैसे– वंशानुक्रम, सामाजिक वंशानुक्रम का ज्ञान, वातावरण का प्रभाव, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण, शिक्षा के अनौपचारिक कारण, व्यक्तित्व का विकास, पारिवारिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण, कक्षा का भौतिक वातावरण और सम्पूर्ण परिस्थिति आदि।
6. **समूह की विशेषताएँ तथा अन्तः क्रियात्मक प्रक्रिया** (Group characteristics, Internal process)–मानव एक सामाजिक प्राणी है, इसके अभाव में उसका कोई अस्तित्व नहीं माना जाता। इसके लिए अनेक समूह या समुदाय से अपना सम्पर्क बना लेता है और उसे उस समूह के नियम, रीति-रिवाज, मान्यताएँ, परम्पराएँ आदि प्रभावित करते हैं। अधिगम प्रक्रिया को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अध्यापक को समूह मनोविज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है।

3.10 अध्यापक के लिए अधिगम का महत्त्व

अधिगम सम्बन्धी उपर्युक्त ज्ञान की सामग्री शिक्षण कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। एक अध्यापक उनका उपयोग करके शिक्षण को प्रभावशाली बना सकता है। अध्यापक के लिए अधिगम के महत्त्व को निम्नलिखित रूप से व्यक्त किया जा सकता है-

1. बालक के व्यवहार में वांछित परिवर्तन लाने के लिए अध्यापक अधिगम के सिद्धान्तों के ज्ञान का प्रयोग कर सकता है।
2. अध्यापक अध्यापन में कुशलता प्रदर्शित करने के लिए शिक्षण प्रविधियों, अधिगम प्रविधियों तथा अधिगम कुशलता के विकल्पों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।
3. अध्यापक वैयक्तिक भिन्नताओं के अनुसार प्रत्येक बालक की उन्नति के लिए उपयुक्त अधिगम विधियों एवं नियमों का चयन कर उनका उपयोग कर सकता है।
4. अध्यापक अधिगम ज्ञान से अधिगम में अभिप्रेरणा के महत्त्व को समझ जाता है। वह बालकों के उचित अभिप्रेरणा के द्वारा बालकों को अधिगम के लिए प्रेरित कर सकता है।
5. अधिगम सम्बन्धी ज्ञान अध्यापक को अधिगम को सुगम बनाने वाले तथा बाधक तत्वों से अवगत कराता है जिससे अध्यापक बाधक तत्वों से सावधान रहते हुए प्रभावात्मक तत्वों का उपयोग कर सके।

6. अधिगम के ज्ञान से अध्यापक अधिगम की दशाओं तथा अधिगम के स्थानान्तरण के सिद्धान्तों का उपयोग कर अधिगम को रोचक तथा सुगम बना सकता है।
7. अधिगम के ज्ञान को प्राप्त कर अध्यापक कक्षा की अधिगम-शिक्षण परिस्थिति को नियंत्रित व उपयोगी बना सकता है। आवश्कतानुसार वह कक्ष-कक्ष परिस्थिति में सुधार करने का उपाय कर सकता है।
8. अध्यापक छात्र में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षाओं की तुलना में अपने अध्यापन की सार्थकता का मूल्यांकन कर सकता है या छात्रों के मूल्यांकन परिणाम के आधार पर अधि गम विधियों की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता का निर्धारण कर सकता है।

नोट

3.11 अधिगम के सिद्धान्त

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, कुछ सिद्धान्तों में समान विचार निहित हैं तो कुछ में भिन्नता दिखाई देती है। समानताओं एवं भिन्नताओं के आधार पर अधि गम के सिद्धान्तों का वर्गीकरण किया जा सकता है। शिक्षा मनोविज्ञान की पुस्तकों में विभिन्न आधारों पर अधिगम के सिद्धान्तों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। अत: स्पष्ट है कि अधिगम के सिद्धान्तों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। अध्ययन को सीमित तथा सरल बनाने की दृष्टि से यहाँ निम्नलिखित रूप में अधिगम के सिद्धान्तों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है–

(अ) समीपता सिद्धान्त (Contiguity Theories)–इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सिद्धान्त प्रमुख रूप से सम्मिलित हैं–

(1) पावलोव का अनुकूलित प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त (Pavlov's Conditioned Reflex Theory)

(2) वाट्सन का अधिगम सिद्धान्त (Watson's Theory of Learning)

(3) गुथरी का सामीप्य अनुकूलन सिद्धान्त (Gutherie's Contiguous Conditioning Theory)

(ब) सबलीकरण सिद्धान्त (Theories of Reinforcement)–इस वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित समूह के अधिगम सिद्धान्त प्रमुखतया सम्मिलित हैं–

(1) हल एवं उनकी परम्परा के सिद्धान्त (Hull's Theory and Theories of Hull's Tradition)

(2) यांत्रिक सबलीकरण सिद्धान्त (Instrumental Reinforcement Theories)

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सिद्धान्त सम्मिलित हैं–

(i) थॉर्नडाइक का उत्तेजना-अनुक्रिया अनुबन्ध सिद्धान्त (Thorndike's S-R Bond Theory)

(ii) वुडवर्थ का उत्तेजना-प्राणी-अनुक्रिया सिद्धान्त (Woodworth's S-O-R Theory)

(iii) स्किनर का सक्रिय अनुकूलन सिद्धान्त (Skinner's Operant Conditioning Theory)

(स) ज्ञानात्मक सिद्धान्त (Cognative Theories)–इस वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित समूह के प्रमुख सिद्धान्त सम्मिलित हैं–

(1) चिह्न अधिगम सिद्धान्त (Sign Learning Theories)–इसमें मुख्यत: टॉलमैन का चिह्न अधिगम सिद्धान्त (Tolman's Sign Learning Theory) है।

नोट

(2) **गेस्टाल्ट अधिगम सिद्धान्त** (Gestalt Learning Theories)–इसमें मुख्यत: कोहलर का सूझ सिद्धान्त (Kohler's Insight Theory) तथा कोफ्का का पदांक सिद्धान्त (Koffka's Trace Theory) सम्मिलित है।

(3) **गत्यात्मक सिद्धान्त** (Dynamic Theories)–इसमें मुख्यत: लेविन का क्षेत्र सिद्धान्त (Levin's Field Theory) तथा अधिगम का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त (Psycho-analytical Theory of learning)सम्मिलित है।

(4) बन्दूरा का प्रतिरूपण सिद्धान्त (Bandura's Modelling Theory)

(5) पियाजे का अधिगम का विकसात्मक सिद्धान्त (Piget's Development of Learning Theory) उपर्युक्त अधिगम के सिद्धान्तों के अतिरिक्त भी अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख मनोविज्ञान की पुस्तकों में मिलता है, किन्तु उन्हें यहाँ स्थान देना समीचीन नहीं है। पुस्तक के उद्देश्यों एवं सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यहाँ सभी अधिगम-सिद्धान्तों का निरूपण न करते हुए केवल निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण अधिगम-सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है।

अधिगम के प्रमुख सिद्धान्त

(1) थॉर्नडाइक का उद्दीपक-अनुक्रिया अनुबन्ध सिद्धान्त (Thorndike's S-R Bond Theory)

(2) पावलोव का अनुकूलित प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त (Pavlov's Conditioned Reflex Theory)

(3) स्किनर का संक्रिय अनुकूलन सिद्धान्त (Skinner's Operant Conditioning Theory)

(4) कोहलर का सूझ सिद्धान्त (Kohler's Insight Theory)

3.12 थॉर्नडाइक का उद्दीपक-अनुक्रिया अनुबन्ध सिद्धान्त

एडवर्ड एल. थॉर्नडाइक (Edward L. Thorndike) ने अपनी पुस्तक 'एनीमल इन्टेलीजेन्स' (Animal Intelligence), 1898 में प्रसिद्ध 'सम्बन्धवाद' (Connectionism) का प्रतिपादन किया। अधिगम मनोविज्ञान के क्षेत्र में 'सम्बंधवाद' का तात्पर्य है उद्दीपक के साथ अनुक्रिया का सम्बन्ध बनाना। सम्बन्धवाद में उद्दीपक तथा अनुक्रिया के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। अत: इसे 'उद्दीपक-अनुक्रिया सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त में व्यक्ति के जन्मजात कारकों के साथ-साथ उद्दीपक अनुक्रिया के बाह्य तथा आन्तरिक उद्दीपकों के मध्य व्यवहार रहता है। 'उद्दीपक-अनुक्रिया सिद्धान्त' अधिगम मनोविज्ञान में एक व्यापक सिद्धान्त है, जिसके प्रणेताओं में थॉर्नडाइक, वुडवर्थ, पैवलव, वॉटसन, गुथरी, टॉलमैन तथा हल के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। इन मनोविज्ञानकों के विचार से प्रत्येक क्रिया के पीछे एक उद्दीपक होता है जिसका प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है और वह उसी के अनुरूप अनुक्रिया करता है। इस प्रकार उद्दीपक अनुक्रिया से सम्बन्धित होते है। इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक थॉर्नडाइक ने अधिगम के लिए उद्दीपक तथा अनुक्रिया के मध्य अनुबन्ध स्थापित करने पर बल दिया है। इसी सम्बन्ध (Bond) पर बल देने के कारण थॉर्नडाइक का अधिगम सिद्धान्त उद्दीपक-अनुक्रिया अनुबन्ध सिद्धान्त (S-R Bond Theory) कहलाता है। थॉर्नडाइक का सिद्धान्त सम्बन्धवाद के अन्तर्गत ही आता है और यह साहचर्य-सिद्धान्त' का एक अंग है। थॉर्नडाइक के अनुसार दो या अधिक अनुभवों के मध्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। किसी भी कार्य की क्रिया के लिए उद्दीपक (S) होता है जिसके कारण अनुक्रिया (R) होती है। उद्दीपक

प्राणी पर प्रभाव डालता है जिसके परिणाम स्वरूप वह अनुक्रिया (R) करता है। इस प्रकार एक विशिष्ट उद्दीपक एक अनुक्रिया से सम्बन्धित हो जाता है, अर्थात् उद्दीपक और अनुक्रिया में अनुबन्ध (S-R bong) हो जाता है। इस सिद्धान्त की परिभाषा रेन (Wren) ने निम्नलिखित रूप में दी है–

नोट

"सम्बन्धवाद वह सिद्धान्त है जो समस्त मानसिक प्रक्रियाओं की परिस्थितियों तथा अनुक्रियाओं के बीच एवं अर्जित सम्बन्ध का कार्य मानता है।" (Conectionism is the doctrine that all mental processes consitst of the functioning of the native and acquired connection between situations and responeses.)

थॉर्नडाइक का सिद्धान्त निम्नलिखित तीन तत्वों पर आधारित है–

(1) उद्दीपक (Stimulus or S) तत्व जो वातावरण की परिस्थितियों में सम्मिलित रहता है।

(2) अनुक्रिया (Response or R) तत्व जो व्यवहार की क्रिया को प्रदर्शित करता है।

(3) उद्दीपक (उ.), अनुक्रिया (अनु.), अनुबन्धन तत्व जो उद्दीपक एवं अनुक्रिया में सम्बन्ध स्थापित करता है अथवा एक उ. के साथ अनु. को बाँधता है। उ. और अनु. में अनुबन्धन का निर्माण ही थार्नडाईक के सिद्धान्त की मुख्य बात है।

थॉर्नडाइक के अनुसार, "अधिगम स्नायु मण्डल में परिस्थितियों और अनुक्रियाओं के मध्य संयोग सम्बन्धों के बनने तथा सबलित होने की बात है।"

थार्नडाईक के सिद्धान्त के अनुसार उद्दीपक तथा अनुक्रिया में संयोग स्थापित होता है। इनको संकेत रूप में उ. → अनु. (S→R) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। (S→R) अनुबन्धनों के आधार पर अधिगम के नियमों को थॉर्नडाइक ने प्रस्तुत किया है। अपनी पुस्तक म्कनबंजपवदंस च्ेलबीवसवहल में उसने शैक्षिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त का व्यापक उल्लेख किया है।

थॉर्नडाइक ने अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने के लिए मुर्गियों, बिल्लियों, मछलियों, कुत्तों, बन्दरों तथा मानव पर अनेक प्रयोग किए। बिल्लियों पर किए गए प्रयोग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। बिल्लियों पर किए गए प्रयोगों के आधार पर थॉर्नडाइक ने मूलभूत अधिगम के प्रकार के रूप में 'प्रयास एवं त्रुटि' (Trial and Error) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। थॉर्नडाइक ने अधिगम प्रक्रिया की व्याख्या में प्रयास एवं त्रुटि के द्वारा उत्तेजक के साथ सही अनुक्रिया अनुबन्धित करने या सम्बन्धित करने पर बल दिया है अतः थॉर्नडाइक का सिद्धान्त 'प्रयास एवं त्रुटि का सिद्धान्त' (Theory of Trial and Error) के नाम से अधिक जाना जाता है। चूँकि प्रयास त्रुटि के द्वारा (S-R) में अनुबन्धन स्थापित किया जाता है इसलिए मौलिक रूप से थार्नडाईक के अधिगम सिद्धान्त को उद्दीपक-अनुक्रिया अनुबन्ध सिद्धान्त (Stimulus-Response Bond Theory) के नाम से जाना जाता है।

उद्दीपक-अनुक्रिया अनुबन्ध सिद्धान्त की मुख्य विशेषताएँ

1. उद्दीपक तथा अनुक्रिया के मध्य अनुबन्धन स्थापित हो जाना ही अधिगम है।
2. उद्दीपक तथा अनुक्रिया में अनुबन्धन की प्रक्रिया प्रयास तथा त्रुटि के द्वारा ही घटित होती है। अधिगमी सही अनुक्रिया का अधिगम करने के लिए अनेक प्रयास एंव त्रुटियाँ करता है किन्तु अनेक प्रयासों में त्रुटियों को कम करते-करते त्रुटिहीन प्रयास कर सही अनुक्रिया करना सीख जाता है।
3. प्रयास एवं त्रुटि के द्वारा अधिगमी निश्चित उद्दीपक के लिए निश्चित अनुक्रिया करने में दक्ष हो जाता है। इसके लिए वह अन्य सम्भावित अनुक्रियाओं में से सही अनुक्रिया

नोट

को छाँटता है, इसलिए थॉर्नडाइक के इस सिद्धान्त को 'चयन एवं सम्बन्धन का सिद्धान्त' भी कहते हैं। स्वयं थॉर्नडाइक के अनुसार– "अधिगम सही अनुक्रियाओं का चयन (Selecting) और उसे उद्दीपक से सम्बन्धित (Connecting) करने के परिणामस्वरूप होता है।"

4. अधिगम की यह प्रक्रिया यांत्रिक (Mechanistic) होती है, क्योंकि सही अनुक्रिया का चयन करना धीरे-धीरे त्रुटियों को हटाने के बाद ही सम्भव हो पाता है।
5. उद्दीपक के अनुरूप ही अनुक्रिया होती है और उसी के अनुरूप जीव के व्यवहार का निर्धारण होता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त बताता है कि उद्दीपक ही व्यवहार का एकमात्र निर्धारण एवं नियंत्रण करता है तथा साथ ही एक विशिष्ट अनुक्रिया के लिए विशिष्ट उद्दीपक की आवश्यकता होती है।
6. थॉर्नडाइक के सिद्धान्त ने शिक्षा मनोविज्ञान के क्षेत्र में अधिगम प्रक्रिया को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है।
7. यह सिद्धान्त साहचर्य सिद्धान्त का ही एक रूप है।

उद्दीपक-अनुक्रिया अनुबन्ध सिद्धान्त की सीमाएँ

उद्दीपक-अनुक्रिया अनुबन्ध सिद्धान्त की अनेक विशेषताओं के होते हुए भी, अनेक सीमाएँ भी हैं, जो निम्नलिखित रूप में व्यक्त की जा सकती हैं–

(1) इस सिद्धान्त में उद्दीपक तथा अनुक्रिया की उपयुक्त व्याख्या नहीं की गई है।

(2) 'मिलर' महोदय ने परिहास करते हुए कहा है कि इस सिद्धान्त को हाइफन सिद्धान्त कहना गलत न होगा, क्योंकि इसमें उद्दीपक तथा अनुक्रिया के मध्य जो सम्बन्ध होता है उसका जितना निरूपण किया गया है उतना उद्दीपक अथवा अनुक्रिया का नहीं किया गया है।

(3) इस सिद्धान्त में व्यक्तित्व की सरचनाओं का विशेष वर्णन नहीं किया गया। यही कारण है कि इस सिद्धान्त को मानने वालों ने अपने विचार और अनुसंधानों में मनोविश्लेषण ात्मक सिद्धान्त को लाभप्रद बनाया है।

(4) समग्रवादियों ने इस सिद्धान्त को आणुविक तथा खण्डमय सिद्धान्त कहा है।

(5) इस सिद्धान्त में किसी क्रिया को सीखने के लिए व्यर्थ के प्रयासों पर बल दिया जाता है।

(6) व्यवहारवादियों ने प्रभाव या परिणाम के नियम की आलोचना करते हुए कहा है कि इसमें अधिगम की प्रक्रिया की अपूर्ण व्याख्या की गई है।

(7) गेस्टाल्टवादियों के अनुसार अनुभव में स्वयं सम्बन्ध समाहित होता है, इसे हम समग्र रूप में पाते हैं, अतः किसी प्रकार के सम्बन्ध-निर्माण की आवश्यकता नहीं होती है।

थॉर्नडाइक के सिद्धान्त की विशेषताओं एवं सीमाओं पर प्रकाश डालने के पश्चात् थॉर्नडाइक की अधिगम सम्बन्धी व्याख्या का और निरूपण करने के लिए उसके द्वारा किये गये मुख्य प्रयोग, प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम की विधि तथा अधिगम के नियमों पर प्रकाश डालना समीचीन होगा।

प्रतिनिधिक प्रयोग

थॉर्नडाइक ने अपने अधिगम सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए अनेक पशुओं, जैसे- कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, मुर्गी आदि पर प्रयोग किए। किन्तु उनकी पुस्तक 'Animal Intelligence' में

वर्णित बिल्ली पर किया गया प्रयोग और उसके अवलोकन बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसे उनके प्रयोगों का एक प्रतिनिधिक प्रयोग मानते हुए उसका विवरण निम्नवत् प्रस्तुत है–

नोट

थॉर्नडाइक का शास्त्रीय प्रयोग एक बिल्ली को एक पिंजड़े, जिसे 'पहले पेटी' (Puzzle Box) कहा गया है, मैं रखकर किया गया। यह एक सरल प्रयोग था। पिंजड़ा इस प्रकार बनाया गया था कि एक डोरी के खींचने या एक बटन के दबाने से पिंजड़े का दरवाजा खुल जाता था। पिंजड़े के बाहर मछली रखी गई थी। एक भूखी बिल्ली को पिंजड़े में रखा तो वह मछली को देख उसे पाने के लिए उसने कई ऐसे प्रयास किये जिससे कि वह बाहर आकर मछली खा सके। बाहर निकलने के प्रयास में बिल्ली ने कई व्यवहार किये, जैसे उछल-कूद, पंजे चलाना, इधर-उधर घूमना, छपटाना आदि। इस उछल-कूद में अचानक किसी प्रकार बिल्ली का पंजा डोरी पर पड़ गया और पिंजड़े का दरवाजा खुल गया। बिल्ली बाहर निकल अपनी भूख मिटाने में सफल हो गई। थॉर्नडाइक ने पुनः बिल्ली को पिंजड़े में बन्द कर दिया। बिल्ली पुनः मछली खाने के लिए बाहर आने का प्रयास करने लगी, किन्तु इस बार उसने पहले की अपेक्षा कम उछल-कूद करते हुए और कम समय में डोरी खींचकर बाहर आने में सफलता प्राप्त कर ली। इस प्रकार के प्रयोग के कई क्रम में थॉर्नडाइक ने यह देखा कि अगले क्रमों में बिल्ली के निरर्थक प्रयास कम होते गये और कम समय में वह बाहर निकलने और मछली खाने में सफल होने लगी। त्रुटियाँ कम होती गई। एक बार यह देखा गया कि बिल्ली को पिंजड़े मे रखते ही बिल्ली ने बिना त्रुटि किए डोरी खींची और बाहर आ गईं और मछली खा गर्ह। प्रयोग के निरीक्षणों से थॉर्नडाइक ने यह निष्कर्ष निकाला कि उद्दीपक के प्रति सही अनुक्रिया के साथ सम्बन्ध (Connection) का प्रत्यक्ष निर्माण कर बिल्ली ने पिंजड़े से बाहर निकलना सीख लिया। थॉर्नडाइक के अनुसार बिल्ली द्वारा बाहर निकलने की विधि का अधिगम करने के लिए दो बातों का होना आवश्यक था–(i) बिल्ली का भूखा होना–यह इसलिए आवश्यक था कि बिल्ली अधिगम हेतु अभिप्रेरित रहे जिससे वह प्रयास कर सके, और (ii) भोजन (मछली) का होना- जिससे वह भूख मिटा सके। थार्नडाईक ने इस प्रयोग के आधार पर अधिगम के नियमों का प्रतिपादन किया जो पशु तथा मानव दोनों के अधिगम में उ. - अनु. अनुबन्ध सरंचना (S-R Bond Structure) के निर्माण की व्याख्या करते हैं।

थार्नडाइक के अधिगम के नियम (Thorndike's Laws of Learning)–विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला विधि द्वारा पशुओं पर परीक्षण करके अधिगम के नियमों की खोज की है। किन्तु अधिगम के नियमों को क्रमबद्ध करने का श्रेय थार्नडाइक को ही है। थार्नडाइक के अधिगम के नियम उद्दीपक-अनुक्रिया सिद्धान्त या सम्बन्ध वाद सिद्धान्त पर आधारित हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जब व्यक्ति के सामने एक उद्दीपक होता है तो वह उसे विशेष प्रकार की अनुक्रिया करने के लिए प्रेरित करता है। इसमें एक विशिष्ट उद्दीपक एक विशिष्ट अनुक्रिया से सम्बन्धित हो जाता है। उसकी इस अनुक्रिया में अधिगम की क्रिया निहित होती है। **थार्नडाइक** के अनुसार अधिगम उ. और अनु. में सम्बन्ध स्थापित करता है। सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य मस्तिष्क करता है। अधिगम की प्रक्रिया में शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में सम्बन्ध होना आवश्यक है। उसने उद्दीपन और अनुक्रिया के अनुबन्धों का अध्ययन किया और अधिगम के मुख्य तथा गौड़ नियमों की रचना की। ये नियम निम्नलिखित हैं–

(अ) अधिगम के मुख्य नियम (Primary Laws of Learning)–

(1) तत्परता का नियम (Law of Readiness)

(2) अभ्यास का नियम (Law of Exercise)

(3) प्रभाव का नियम (Law of Effect)

(ब) अधिगम के गौण नियम (Secondary Laws of Learning)–

नोट

(1) बहु अनुक्रिया का नियम (Law of Multiple Response)

(2) मानसिक स्थिति अथवा मनोवृत्ति का नियम (Law of Mental Set or Attitude)

(3) तत्वों की पूर्व समर्थता का नियम (Law of Prepotancy of Elements)

(4) सादृश्यता द्वारा अनुक्रिया का नियम (Law of Response by Analogy)

(5) साहचर्य परिवर्तन का नियम (Law of Associative Shifting)

(अ) अधिगम के मुख्य नियम (Primary Laws of Learning)

थार्नडाइक ने अधिगम के प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन नियम बताए हैं–

1. **तत्परता का नियम** (Law of Readiness)–इस नियम का अर्थ है कि जब अधिगम करने वाला अधिगमी (Learner) अधिगम के लिए तत्पर या तैयार (Ready) होता है, तभी अधिगम कर सकता है, अन्यथा नहीं। अधिगम के लिए उसे तैयार करना पड़ता है। बालक को शिक्षा देते समय शिक्षक को सर्वप्रथम अधिगम के लिये ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिए जिससे कि बालक में रुचि और जिज्ञासा जाग्रत हो सके और वह अधिगम के लिए तैयार हो जाए। इसके लिए शिक्षक कई विधियों द्वारा बालक को अधि गम क्रिया करने के लिए तत्पर कर सकता है। कुशल शिक्षक नवीन पाठ को प्रारम्भ करने के पूर्व पाठ से या पूर्व ज्ञान से उसे सम्बन्धित करके या प्रश्न पूछकर शिक्षा की नवीन विधियों द्वारा बालक में रुचि जाग्रत कर देते हैं। शिक्षक प्रायः आवश्यकतानुसार बालक को पाठ पढ़कर भी आने के लिए कहते हैं। इस प्रकार कई बातों से अधिगम करने के लिए उसकी मानसिक तैयारी हो जाती है। अधिगम के लिए तत्परता ध्यान केन्द्रित करने में सहायता देती है। बालक इस प्रकार किसी भी कार्य को शीघ्र सीख लेता है और उसे सीखने में संतोष प्राप्त होता है।
2. **अभ्यास का नियम** (Law of Exercise)–अभ्यास का नियम यह बताता है कि एक परिस्थिति में सही अनुक्रिया को दृढ़ करने के लिए उस अनुक्रिया को बार-बार दुहराया जाए। जिस अधिगम क्रिया की हम कई बार पुनरावृत्ति करते हैं उसे हम शीघ्र ही अधिगम कर लेते हैं। अभ्यास से अधिगम को सुगम बनाया जा सकता है। **डॉ. जे. एन. सिन्हा** के अनुसार, "अन्य बातों के समान होते हुए जब कभी एक परिस्थिति और एक अनुक्रिया के मध्य परिवर्तनीय सम्बन्ध का अभ्यास किया जाता है तो वह दृढ़ हो जाता है। यही अभ्यास का नियम कहलाता है।''

   अभ्यास के नियम के दो रूप हैं–

   (i) उपयोग का नियम (Law of Use)

   (ii) अनुपयोग का नियम (Law of Disuse)

   (i) उपयोग का नियम (Law of Use)–जिस कार्य का अभ्यास बार-बार किया जाता है, वह सरलातापूर्वक शीघ्र सीख लिया जाता है। कविता याद करने के लिए उसे

नोट

बार-बार दुहराना पड़ता है। इसी प्रकार साईकिल चलाना सीखने के लिए बालक को अनेक बार प्रयास करने पड़ते हैं, वह गिरता भी है चोट भी खाता है। अन्त में अभ्यास के द्वारा वह बिना गिरे साईकिल चलाने लगाता है। चित्रकारी, टाइप करना, संगीत सीखना, कोई खेल खेलना आदि को अभ्यास और उपयोग करके ही सीखा जा सकता है।

(ii) अनुपयोग का नियम (Law of Disuse)–यह नियम उपयोग के नियम के विपरीत है। यदि सीखे हुए कार्य का अभ्यास या उपयोग नहीं किया जाता है जो व्यक्ति उसे भूल जाता है। उदाहरणार्थ- गाने और बजाने का अभ्यास छोड़ देने पर व्यक्ति नहीं गा-बजा सकता। खिलाड़ी बहुत दिनों बाद यदि खेल के मैदान में खेलने आता है तो वह ठीक से खेल नहीं पाता। यही बात पढ़ने-लिखने के लिए भी कही जा सकती है, जैसे- गणित का नित्य अभ्यास करने पर ही सफलता मिलती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस कार्य को बहुत समय तक किया या दुहराया नहीं जाता, वह याद नहीं रहता है- इसी को अनुपयोग का नियम कहते हैं। शिक्षकों को चाहिए कि वह बालकों को विभिन्न विषयों में लगातार अभ्यास देते रहें। अन्यथा पढ़ाया हुआ ज्ञान अभ्यास के अभाव में अथवा अनुपयोग के कारण उन्हें याद न रह सकेगा।

3. **प्रभाव का नियम** (Law of Effect)–इस नियम को सन्तोष या असन्तोष का नियम भी कहा जाता है। जिस कार्य को करने के उपरान्त हमें संतोष या सुख मिलता है, उसे हम बार-बार करना चाहते हैं। शिक्षा में पुरस्कार और दण्ड देने का नियम इसी ओर संकेत करता है। जिस कार्य को करने से बालक को पुरस्कार मिलता है, उसे वह बार-बार करना चाहता है। किन्तु जिस कार्य को करने के लिए दण्ड मिलता है उसे वह नहीं करना चाहता, अत: उसे वह नहीं सीखता। इस नियम का प्रयोग शिक्षा में मनोवैज्ञानिक ढंग सें किया जा सकता है। शिक्षक को चाहिए कि वह बालक के लिए अधिगम की ऐसी परिस्थिति का निर्माण करे जिससे उसे सफलता प्राप्त हो सके और संतोष व सुख की अनुभूति हो। बालकों को जिस कार्य के लिए प्रशंसा मिलती है, उसे वे शीघ्र सीख जाते हैं। अधिगम के उपर्युक्त सभी नियम एक दूसरे पर आधारित तथा आन्तरिक रूप से सम्बन्धित हैं।

(ब) अधिगम के गौण नियम (Scondary Laws of Learning)

उपर्युक्त तीन प्रमुख अधिगम नियमों के अतिरिक्त थॉर्नडाइक ने अधिगम के पाँच गौण नियम भी प्रतिपादित किये हैं, जो निम्नलिखित हैं–

1. **बहुअनुक्रिया का नियम** (Law of Multiple Response)–**थॉर्नडाइक** के अनुसार जब कोई उद्दीपक जीव को उत्तेजित करता है तो सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए वह अनेक प्रकार की अनुक्रियाएँ करता है अर्थात् सही अनुक्रिया के पूर्व बहु अनुक्रियाएँ होती हैं जिनमें से प्राय: अनेक अनुक्रियाएँ निरर्थक भी रहती हैं। किन्तु यदि अनुक्रियाएँ बहुरूपी न हों तो अधिगमी सही अनुक्रिया करना नहीं सीख सकता। इस नियम के आधार पर अधिगम के विभिन्न उपायों और विधियों की खोज में प्रयासरत् अधिगमी के अधिगम मार्ग में अवरोधक बनने के स्थान पर उसे त्रुटियों में सुधार के द्वारा अधिगम का अवसर देना चाहिए अथवा उसे किसी निश्चित एवं प्रभावी उपाय के सम्बन्ध में निर्णय लेने में निर्देशक प्रदान करना चाहिए जिससे वह कम-से-कम निरर्थक प्रयास करे।

2. **मानसिक स्थिति अथवा मनोवृत्ति का नियम** (Law of Mental Set or Attitude)–अधिगम में मानसिक स्थिति अथवा मनोवृत्ति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अनुकूल मनोवृत्ति आती है। यदि अधिगमी में अधिगम क्रिया के प्रति उपेक्षित मनोवृत्ति या मानसिक स्थिति का अभाव है तो वह अधिगम नहीं कर सकता, शिक्षण चाहे कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो। थॉर्नडाइक के अनुसार व्यक्ति किसी उद्दीपन के प्रति किस प्रकार प्रतिक्रिया करेगा यह उसके समाज से समायोजन करने के पूर्व अनुभवों, उसके विचार, संस्कृति आदि पर निर्भर करता है। प्रतिक्रिया करने पर प्रायः सामाजिक प्रवृत्तियाँ अधिक प्रभावशाली रहती हैं। अधिगम हेतु बालक की तत्परता का विकास व वांछित स्थिति का निर्माण करना आवश्यक होता है। अतः इस नियम के अनुसार यह आवश्यक है कि शिक्षण-क्रिया से पूर्व बालक को मानसिक रूप से पहले तैयार किया जाए।

3. **तत्वों की पूर्व समर्थता का नियम** (Law of Perpotancy of Elements)–इस नियम को चयनकारी अनुक्रिया का नियम (Law of Selective Response) भी कहते हैं। इस नियम का तात्पर्य यह है कि अधिगमी समस्याजनक परिस्थिति के सभी तत्वों के प्रति अनुक्रिया न कर कुछ चुने हुए तत्वों के प्रति अनुक्रिया करने में समर्थ रहता है। जिस स्थिति के प्रति अधिगमी अनुक्रिया करने में समर्थ होता है उसे समर्थता का तत्व कहते हैं जो अधिगमी में पहले से विद्यमान रहती हैं। इन्हीं पूर्व समर्थता के तत्वों के आधार पर प्रतिक्रिया की जाती है। अधिगम परिस्थिति में इन तत्वों को पहचानना अधिगमी की बुद्धि पर निर्भर करता है। इन तत्वों को पहचानने की समर्थता से अधिगम को विश्लेषणात्मक और अन्तर्दृष्टिपूर्ण बनाना सम्भव होता है।

4. **सादृश्यता द्वारा अनुक्रिया का नियम** (Law of Response by Analogy)–सादृश्यता द्वारा अनुक्रिया के नियम का तात्पर्य यह है कि अनुक्रिया दो परिस्थितियों की समानता अथावा सादृश्यता के आधार पर होती है। इसमें पूर्व-ज्ञान या पूर्व अनुभव का उपयोग नवीन अधि गम परिस्थितियों में कर लिया जाता है। यहाँ अन्तरण का सिद्धान्त कार्य करता है। जब किसी ज्ञान या अनुभव को अच्छी तरह से धारण कर लिया जाता है या उसका आत्मसात् (Assimilation) कर लिया जाता है तो किसी दूसरी या नवीन अधिगम परिस्थितियों में उसका सरलता से अन्तरण (Transfer) किया जा सकता है। इसीलिए इस नियम को आत्मीकरण का नियम (Law of Assimilation) भी कहते हैं। ज्ञान या अनुभव को सम्बद्ध करने की क्रिया है। बालक को यह समझना चाहिए कि जो कुछ उसे वर्तमान में सिखाया जा रहा है, वह उसके द्वारा भविष्य में प्राप्त किए जाने वाले ज्ञान की एक कड़ी है तथा वह नवीन ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानता है ऐसा अनुभव करेगा। इसके आधार पर अधिगमी पूर्व ज्ञान का नवीन ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करके, प्रदत्त ज्ञान को अपने कोष का स्थाई अंग बना लेता है।

5. **साहचर्य परिवर्तन का नियम** (Law of Associative Shifting)–थॉर्नडाइक के साहचर्य परिवर्तन के नियम से यह अभिप्राय है कि अधिगमी की अनुक्रिया का स्थान परिवर्तित होता है, यह पूर्व तथा पश्चात् की परिस्थिति के रूप में होता है, जिनमें समानता होती है। यदि नवीन ज्ञान को प्रदान करते समय वही परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जाएँ जो अभिप्राय को पूर्व ज्ञान प्रदान करते समय विद्यमान थीं तो अधिगमी पूर्वानुसार ही अनुक्रिया करेगा।

पूर्व एवं नवीन परिस्थितियों में इस प्रकार की सहचारी समानता स्थापित करना ही साहचर्य परिवर्तन कहलाता है। अत: जहाँ तक हो सके अधिगम से पूर्व सहचारी परिस्थितियों का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे अधिगामी ज्ञान का स्थान परिवर्तन कर सके।

नोट

थॉर्नडाइक के अधिगम नियमों की आलोचना–थॉर्नडाइक के द्वारा प्रतिपादित नियमों को व्यवहारवादी तथा अवयवीवादी मनोवैज्ञानिकों ने कटु आलोचना की हैं। उनके कुछ विचार निम्नलिखित हैं–

(क) अवयवीवादियों के अनुसार–"अधिगम का सार खोज में निहित है।" अत: बालक को रचनात्मक कार्यों के आधार पर स्वयं अनुभव करने तथा अधिगम के लिए प्रेरित करना चाहिए। केवल प्रभाव के नियम पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। उन्होंने प्रभाव के नियम की कटु आलोचना करते हुए कहा है कि अधिगम के लिए प्रत्येक अधिगमी को पुरस्कार या प्रभाव अथवा परिणाम के फल की आवश्यकता नहीं होती। फल बाद में प्राप्त होता है और अधिगम की क्रिया पहले ही सम्पन्न हो जाती है। किन्तु यहाँ कहना भी आवश्यक हो जाता है कि इस नियम से अधिगम में प्रेरणा को महत्त्वपूर्ण स्थान मिल जाता है।

(ख) इसी प्रकार सभी प्रकार के अधिगमों में केवल अभ्यास के नियम पर ही आश्रित नहीं रहा जा सकता। यह नियम रटने पर अधिक बल देता है। अधिगम की क्रिया में अधिगमी की रुचि अवधान, मनोवृत्ति का भी महत्त्व होता है। प्राय: हम बहुत-सी बातों को केवल एक बार के अनुभव या निर्देश से सीख जाते हैं और अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती है।

(ग) थॉर्नडाइक के अधिगम नियम में किसी क्रिया को सीखने के लिए व्यर्थ के प्रयासों पर बल दिया जाता है।

(घ) निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि केवल अभ्यास के नियम या प्रभाव के नियम पर निर्भर रहने पर अधिगमी की अधिगम-प्रक्रिया में अपेक्षित उन्नति नहीं होती वरन् इन तीनों नियमों के अतिरिक्त व्यक्ति नवीनता, स्पष्टता और सहचारिता के आधार पर अधि गम करता है।

(ङ) अधिगम से सम्बन्धित अन्य गौण नियम विचार साहचर्य पर आधारित हैं, जिनका सम्बन्ध स्मृति के मनोविज्ञान से है। विचार साहचर्य का विस्तृत अध्ययन 'स्मृति और विस्मृति' अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के रहते हुए भी थॉर्नडाइक के मुख्य नियमों एंव गौण नियमों का शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये नियम बालकों के शिक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। थॉर्नडाइक के द्वारा प्रतिपादित प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम विधि में उपर्युक्त नियमों की प्रासंगिकता प्रकाशित होती है।

प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम (Learning by Trial and Error)–जानवरों पर अनेक प्रयोग करने के पश्चात् थॉर्नडाइक ने सर्वप्रथम प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम विधि का निरूपण किया। थॉर्नडाइक के शास्त्रीय प्रयोग (Classical Experiment), जिसे उसने एक भूखी बिल्ली को एक पहेली पेटी (Puzzle Box) में रखकर किया था, के आधार पर प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम विधि की व्याख्या की जा सकती है। इसी प्रयोग का वर्णन पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है। थॉर्नडाइक के अनुसार जब प्राणी के सामने कोई नई समस्या उत्पन्न होती है तो उसका समाधान करने के लिए वह किसी-न-किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करने लगता है। प्रारम्भ में ये प्रतिक्रियाएँ इत्रुटिपूर्ण होती हैं किन्तु प्रतिक्रियाओं को करते-करते प्रतिक्रिया में संयोगवश सफलता मिल जाती है। अधिगम

नोट

के सम्बन्ध में प्रयास तथा त्रुटि का अर्थ है कि किसी को सीखते समय आरम्भ मे सफलता नहीं मिलती, कुछ-न-कुछ त्रुटियाँ या भूलें हो ही जाती हैं, किन्तु जब कई बार प्रयास किए जाते हैं तो प्रत्येक प्रयास के पश्चात् त्रुटियाँ कम हो जाती हैं। जैसें-जैसे प्रयास किया जाता है, वैसे-वैसे त्रुटियों या भूलों की संख्या कम होती है और अन्त में ऐसा समय भी आता है कि व्यक्ति ठीक ढंग से सही कार्य करने में सफल हो जाता है। वुडवर्थ (Wood Worth) ने अपनी पुस्तक 'Psychology' में प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम विधि के निम्नलिखित सोपान बताए है–

(क) किसी लक्ष्य तक पहुँचने की तत्परता,

(ख) लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग स्पष्ट रूप से दिखाई न देना,

(ग) परिस्थितियों का जायजा लेना तथा सम्भावित मार्ग को ढूँढ़ना और उनको आजमाना, और

(घ) अन्त में सही मार्ग को पा लेना, प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम की परिथितियाँ–प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम की क्रिया में निम्नलिखित परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं–

(1) सीखने वाले, अर्थात् अधिगामी में अन्तर्नोद (Drive) का होना आवश्यक है। अन्तर्नोद ही अधिगम की प्रेरणा देता है। और उसे क्रियाशील बनाता है। भूख एक अन्तर्नोद (चालन) है। थॉर्नडाइक के प्रयोग में हमने देखा कि भूख ने ही बिल्ली को अधिगम (पिंजड़े का दरवाजा खोलना सीखना) के लिए प्रेरित किया।

(2) अन्तर्नोद की सन्तुष्टि में जब बाधा पड़ती है, तब व्यक्ति प्रयास करता है। प्रयास और त्रुटि होते-होते वह अन्त में सीख जाता है।

(3) अन्तर्नोद की सन्तुष्टि के लिए प्रयोजन (अन्दाज) से अनावश्यक क्रियाएँ (Random Activities) होती हैं, क्योंकि अधिगमी को सही क्रिया का ज्ञान नहीं होता- जैसे, बिल्ली की अनावश्यक उछल-कूद।

(4) अनावश्यक क्रियाओं द्वारा संयोग से सही क्रियाओं के होने पर अचानक सफलता मिल जाती है।

थॉर्नडाइक के अनुसार प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम विधि में निम्नलिखित व्यवहारिक अवस्थाएँ पाई जाती हैं–

1. **लक्ष्य–**अधिगम के लिए किसी लक्ष्य का होना आवश्यक है। लक्ष्य का ज्ञान होने पर ही अधिगम क्रिया करने में तत्परता दिखाई देगी।
2. **मानसिक स्थिति का ठीक होना–**व्यक्ति की मानसिक स्थिति ठीक होने पर ही वह समस्या का समाधान करने का प्रयास करता है और समस्या के समाधान के लिए सम्भव मार्गों को खोजता है। यदि मार्ग में बाधा आती है तो वह दूसरे मार्ग को अपनाता है।
3. **लक्ष्य**-प्राप्ति में बाधा–बाधा उत्पन्न होने पर ही समस्या उत्पन्न होती है और समस्या समाधान करने के लिए ही व्यक्ति प्रयास करता है।
4. **प्रयास–**बाधाएँ आने पर व्यक्ति प्रयास करता है। असफलता मिलने पर, एक के बाद दूसरा प्रयास किया जाता है। यह प्रयास तब तक जारी रहता है जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए।
5. **आकस्मिक सफलता–**बार-बार प्रयास करने पर बीच-बीच में संयोगवश सफलता मिलती है।

6. **सही क्रिया का स्थायीकरण**–अनेक बार प्रयास करने में जब अचानक सही क्रिया की जानकारी होती है तब लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उस सही क्रिया को चुन लिया जाता है। सही क्रिया को बार-बार दुहराकर उसका स्थायीकरण किया जाता है।

नोट

7. **सही क्रिया का चुनाव**–यह अधिगम की अन्तिम अवस्था है। इसमें सही क्रिया का चुनाव होने पर प्रयास सफल हो जाता है और त्रुटि नहीं होती। प्रयास एवं त्रुटि अधिगम विधि की शैक्षिक उपयोगिता–प्रयास एवं त्रुटि अधिगम विधि की शिक्षा में महत्त्वपूर्ण उपयोगिताएँ निम्नलिखित हैं–

   (1) यह विधि एक प्रकार से सुधार की विधि है। इसके द्वारा बालक अपनी पहले की, की गई गलतियों से जो अनुभव प्राप्त करता है, उससे लाभ उठाता है।

   (2) बालकों में निरन्तर प्रयत्न करने से धैर्य और परिश्रम के गुणों का विकास होता है।

   (3) इस विधि में जो क्रियाएँ बालक को सफल प्रतीत होती हैं, उसे वह दुहराता है। ये क्रियाएँ उद्दीपक के रूप में अधिगम के लिए उसे प्रेरणा प्रदान करती हैं। वह सफल क्रियाओं के चुनाव द्वारा सीखता है। इसलिए कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इस विधि को 'सफल प्रतिक्रियाओं के चुनाव द्वारा अधिगम' (Learning by Selection of the Successful Variation) भी कहा है।

   (4) यह विधि अभ्यास पर आधारित है। इसलिए सीखा हुआ कार्य स्थाई हो जाता है। अत: शिक्षक को, यदि बालक किसी कार्य में असफल हो जाता है तो उसे कई बार प्रयास करने के लिए, प्रोत्साहित करना चाहिए। यह विधि गम्भीर विषयों जैसे- गणित, विज्ञान, व्याकरण आदि के लिए बहुत उपयोगी है। गणित के प्रश्नों का समाधान, प्रयास और त्रुटि द्वारा करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। इस विधि से बालक को अधिक लाभ होता है। बार-बार प्रयास करके जो सफलता मिलती है, वह स्थाई होती है।

   (5) इस विधि के द्वारा जब बालक को लक्ष्य ज्ञात रहता है किन्तु लक्ष्य प्राप्ति का तरीका नहीं ज्ञात होता है, तब वह स्वयं प्रयास करता है। इससे उसमें आत्म-निर्भरता और आत्मविश्वास के गुण उत्पन्न हो जाते हैं। यह गुण भावी जीवन में आने वाली उन परिस्थितियों और समस्याओं का सरलतापूर्वक समाधान ढूँढने में योग्यता प्राप्त करेंगे, जिनका लक्ष्य तो उन्हें ज्ञात होगा किन्तु उसे प्राप्त करने का मार्ग नहीं।

   (6) यह विधि बहुत छोटे बालकों के लिए उपयोगी नहीं है।

   (7) यह विधि मंद-बुद्धि बालकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

थॉर्नडाइक के अधिगम सम्बन्धी विचार का विस्तृत अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि उसके सिद्धान्त, प्रयोग, विधि एवं नियम आदि अधिगम मनोविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, जिनका शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

3.13 पावलोव का अनुकूलित प्रत्यावर्तन सिद्धान्त

पावलोव का शात्रीय प्रयोग–पावलोव ने अपना प्रयोग एक प्रयोगशाला में एक कुत्ते पर किया। उसने कुत्ते की लार ग्रन्थि में आपरेशन करके एक नली लगा दी, जो एक बीकर में गिरती थी, जिससे

नोट

लार के गिरने का अवलोकन किया जा सके। इस परीक्षण में एक कुत्ते को प्रतिदिन एक निश्चित समय पर भोजन दिया जाता था। भोजन को देखकर कुत्ते की लार टपकने लगती थी। भोजन की प्रस्तुति एक स्वाभाविक उत्तेजक और इस उत्तेजक से लार का टपकना स्वाभाविक अनुक्रिया थी। पावलोव ने दूसरे समय में घंटी बजाई जो एक अस्वाभाविक उत्तेजक ओर इस उत्तेजना से कुत्ते का चौकन्ना होना, कान खड़ा करना आदि अस्वाभाविक अनुक्रिया थी। इसके पश्चात् पावलोव ने भोजन की प्रस्तुति और घंटी की आवाज एक साथ की अर्थात् स्वाभाविक और अस्वाभाविक उत्तेजक एक साथ प्रस्तुत किये गये जिससे अनुक्रिया के रूप में कुत्ते ने लार टपकाई। यह दोनों उत्तेजकों की एक अनुक्रिया थी। यह क्रम पावलोव ने प्रयोगशाला में कई बार दुहराया जिसके द्वारा भोजन और घण्टी अथवा स्वाभाविक उत्तेजक और अस्वाभाविक उत्तेजक सम्बद्ध प्रत्यावर्तित अथवा अनुकूलित (Conditioned) हो गई। अब तीसरे चरण में पावलोव ने केवल घण्टी की आवाज की अर्थात् केवल अस्वाभाविक उत्तेजक प्रस्तुत नहीं किया, भोजन प्रस्तुत नहीं किया, तो भी कुत्ते ने लार टपका दी। यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि भोजन रूपी उत्तेजक घण्टी रूपी उत्तेजक में स्थानापन्न (Substitute) हो गई। यही स्थानापन्न Substitution) अधिगम है जिसे पावलोव ने अनुकूलित प्रत्यावर्तन (Conditioned Reflex) का नाम दिया। आज के मनोवैज्ञानिकों ने पावलोव के अनुकूलित प्रत्यावर्तन को शास्त्रीय अनुकूलिन (Classical Conditioning) की संज्ञा दी है।

पावलोव के प्रयोग के उपर्युक्त वर्णन को निम्नांकित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है-

तालिका सं. 3.1. शास्त्रीय अनुकूलन के मूल तत्व

अनुकूलन के पहले की स्थिति
स्वाभाविक उत्तेजक-भोजन.....स्वाभाविक अनुक्रिया-लार का स्राव
अस्वाभाविक उत्तेजक-घण्टी.....अस्वाभाविक अनुक्रिया-कान खड़े करना
अनुकूलन की मध्य की स्थिति
स्वाभाविक उत्तेजक-भोजन एवं
अस्वाभाविक उत्तेजक-घण्टी.....स्वाभाविक अनुक्रिया-लार का स्राव
(यह स्थिति कई बार दुहराई गई)
अनुकूलन के बाद की स्थिति
अस्वाभाविक उत्तेजक-घण्टी.....स्वाभाविक अनुक्रिया-लार का स्राव

(इस स्थिति में स्वाभाविक उत्तेजक-भोजन का लोप होने पर भी लार का स्राव हुआ)

पावलोव ने अपने सभी प्रयोग नियंत्रित दशाओं के अन्तर्गत किसी बाधा से मुक्त ध्वनिरोधी कक्ष में किये। पावलोव का अनुकूलित प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त अधिगम के यांत्रिक उपागम पर आधारित है। पावलोव के उपर्युक्त प्रयोग तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि–"शास्त्रीय अनुकूलन एक प्रक्रिया है जिसमें अस्वाभाविक उत्तेजक स्वाभाविक उत्तेजक के साथ मिलकर उसकी सभी विशेषताओं को प्राप्त कर लेता है।" (Classical Conditioning may be defined as "A process in which an unnatural stimulus by pairing with a natural stimulus, acquires all the characteristics of natural stimulus).

पावलोव के प्रयोग में हम देखते हैं कि पहले घण्टी की ध्वनि पर लार का स्राव नहीं होता था, लार का स्राव भोजन प्रस्तुत करने पर ही होता था। तत्पश्चात् भोजन के साथ घण्टी की ध्वनि

नोट

की जाती थी जिसकी अनुक्रिया में लार का स्राव होता था, इस स्राव का मापन किया जाता था। यह प्रयोग कई बार दुहराया गया और यह देखा गया कि घण्टी की ध्वनि और भोजन की प्रस्तुति एक साथ करने पर लार की मात्रा भी बढ़ने लगी और फिर केवल घंटी की ध्वनि की अनुक्रिया से स्रावित लार की मात्रा बढ़ने लगी। यहाँ स्पष्ट है कि सबलीकरण द्वारा एक अनुक्रिया अनुकूलित अथवा अनुबन्धित (Conditioned) होती है। यहाँ भोजन देने के पूर्व लार स्रावण क्रिया (Salivating Process) को मानसिक या कल्पना प्रसूत स्राव (Psychic Secretion) कह सकते हैं जो कि शास्त्रीय अनुकूलन (Classical Conditioning) का आधार है। पावलोव ने प्रत्यावर्तन (Reflex) को दो भागों में वर्गीकृत किया है–शारीरिक तथा मानसिक (Physiological and Psychic Reflexes)। मानसिक प्रत्यावर्तन क्रिया किसी विशेष अनुभव का ही परिणाम होती है। इसी को प्रायः अनुकूलित अथवा सम्बद्ध सहज क्रिया (Conditioned Reflex Action) कहते हैं। जब किसी परिस्थिति के साथ किसी अनुक्रिया (Response) को, जिनका पहले से कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं होता, उसे संबद्ध किया जाता है तो उस स्थिति को अनुकूलन, सम्बन्धीकरण या सबलीकरण (Conditioning) कहा जाता है। इस प्रकार सम्बन्धीकरण एक साधारण क्रिया है। जिसमें एक उत्तेजक का दूसरे के साथ यांत्रिक स्थानापन्न (Mechanical Substitution) होता है। यद्यपि सहज क्रियाओं (Reflex Action) में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता, किन्तु उन्हें सम्बद्ध किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, उन्हें मूल उत्तेजक के अतिरिक्त एक अन्य उत्तेजक से भी प्रकाश में लाया जा सकता है, जैसे-भोजन को घण्टी के साथ सम्बद्ध कर लार के स्रावित होने की क्रिया।

इसी कारण पावलोव ने भोजन को भी अनुकूलित उत्तेजक कहा है। घण्टी की ध्वनि दो बातें प्रस्तुत करती हैं-प्रशिक्षण के प्रारम्भ में वह अनुकूलन उत्तेजक था क्योंकि इसका उपयोग लार अनुक्रिया को अनुकूलित करने के लिए किया गया था। जब अनुबन्धन या अनुकूलन हो गया तो इसे अनुकूलित या अनुबन्धित उत्तेजना कहा गया,क्योंकि इसमें एक प्रभाव था जो पहले इसमें नहीं था, अर्थात् लार स्राव अनुक्रिया को जाग्रत करना। अनुकूलन के बाद इसे अनुकूलित अनुक्रिया का नाम दिया गया क्योंकि अब वह घण्टी ध्वनि के प्रति अनुबन्धित हो गई थी। अनुबन्धित उत्तेजक (भोजन) और अनुबंधन उत्तेजक (घण्टी) को मिलाकर अनुबन्ध क्रिया कहा गया।

पावलोव ने सामान्य रूप में ऐसे उत्तेजक और अनुक्रिया को स्वाभाविक अनुक्रिया कहा है। भोजन को देखकर लार टपकाने की अनुक्रिया में भोजन को एक स्वाभविक उत्तेजक कहेंगे और लार स्राव को एक स्वाभविक अनुक्रिया। कभी-कभी स्वाभविक उत्तेजक की अनुक्रिया के समय वहाँ कुछ अन्य उत्तेजक, जिन्हें अस्वाभविक उत्तेजक कहते हैं, रहते हैं जैसे -भोजन के साथ उपस्थित व्यक्ति। इस सिद्धान्त के अनुसार जब कोई अन्य अस्वाभाविक उत्तेजक कई बार स्वाभाविक उत्तेजक के साथ प्रस्तुत होता है तो व्यक्ति उस अन्य अस्वाभाविक उत्तेजक (भोजन के उपस्थित व्यक्ति) के प्रति भी स्वाभविक अनुक्रिया करने लगता है। इस प्रकार के अनुबन्धन को उच्च श्रेणी अनुकूलन (Higher Order Conditioning) कहा जाता है।

उच्च श्रेणी अनुकूलन (Higher Order Conditioning)–पावलोव ने अपने प्रयोग को आगे बढ़ाते हुए पाया कि एक अस्वाभविक उत्तेजक के साथ किसी दूसरे अस्वाभाविक उत्तेजक को काल सामीप्य में प्रस्तुत करने पर दूसरा अस्वाभाविक उत्तेजक भी सबलीकरण का कार्य करता है। दूसरे अस्वभाविक उत्तेजक से स्वाभाविक अनुक्रिया जाग्रत करना ही उच्च श्रेणी का अनुकूलन है। पावलोव ने इस प्रयोग में, जब कुत्ते ने घण्टी की ध्वनि सुनकर लार स्राव प्रारम्भ कर दिया तो घण्टी के साथ दूसरे अस्वाभाविक उत्तेजक प्रकाश की किरणों को भी प्रस्तुत किया। ऐसा कई बार किया

गया कुछ दिनों बाद देखा गया कुत्ते ने प्रकाश की किरण (दूसरा अस्वाभाविक उत्तेजक) देखकर लार टपकाया। इस प्रयोग में प्रकाश की किरण देखकर लार देखकर लार टपकाने की अनुक्रिया ही उच्च श्रेणी अनुकूलन है, क्योंकि प्रारम्भिक सबलन या स्वाभाविक उत्तेजक (भोजन) के साथ कभी भी दूसरे अस्वाभाविक उत्तेजक (प्रकाश की किरण) प्रस्तुत नहीं किया गया था।

उच्च श्रेणी अनुकूलन के अतिरिक्त पावलोव एवं उनके सहयोगियों ने कुत्ते पर अनेक प्रकार के प्रयोग किये तथा उनके निष्कर्षों के आधार पर और भी महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ प्रस्तुत कीं जो अनुकूलन अधिगम सिद्धान्त को और अधिक विस्तार प्रदान करते हैं। ये अवधारणाएँ निम्नलिखित हैं–

अनुकूलित उत्तेजना एवं अनानुकूलित उत्तेजना के मध्य सम्बन्ध (Temporal Relationship between Conditioned Stimulus and Unconditioned Stimulus)–कुत्ते पर किए गए प्रयोगों में पाया गया कि अनु० ख उ०ख (CS) और अना० ख उ०ख (UCS) के माध्य तभी सम्बन्ध स्थापित होता है जब कि एक निश्चित मात्रा में काल सामीप्य हो। पावलोव के प्रयोग मे CS तथा UCS में 5 सेकेण्ड की समीपता से अनुकूलन अधिगम देखा गया। काल समीपता की तीन स्थितियाँ हैं–

(अ) समकालिक अनुकूलन (Simultanious Conditioning)–जब अनुकूलित उत्तेजना (CS) तथा अनानुकूलित उत्तेजना (UCS) एक साथ प्रस्तुत किया जाये, जैसे–

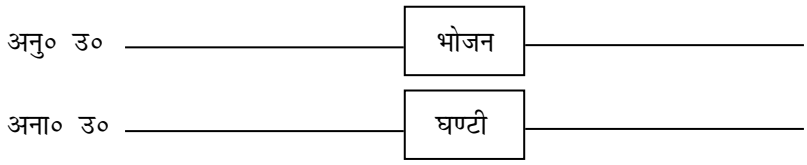

(ब) विलम्ब अनुकूलन (Delayed Conditioning)–जब अनुकूलित उत्तेजना प्रस्तुत करने के कुछ क्षण पश्चात् अनानुकूलित उत्तेजना प्रस्तुत की जाए, जैसे

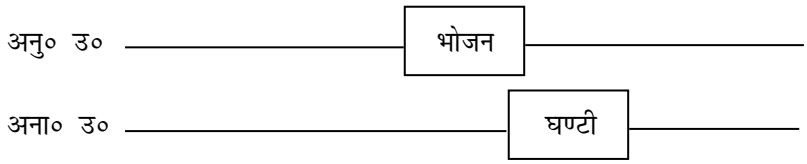

प्रयोगों में पाया गया कि विलम्ब अनुकूलित क्रिया सर्वाधिक प्रभावशाली होती है, इस काल सामीप्य में दोनों उत्तेजनाओं में शीघ्र सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

(स) अनुमार्गी अनुकूलन (Trace Conditioning)–जब अनुकूलित उत्तेजना के, विलम्ब अनुकूलन की स्थिति से, बहुत समय पश्चात् अनानुकूलित उत्तेजना प्रस्तुत की जाए, जैसे–

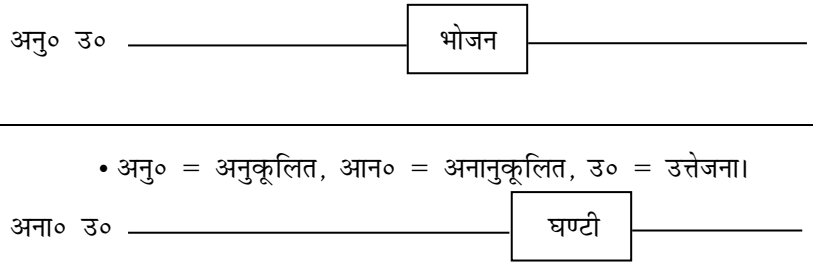

इस स्थिति में दोनों उत्तेजनाओं के मध्य यदि लम्बी काल दूरी होती है तो अनुकूलन दुष्कर हो जाता है।

(द) **पृच्छोन्मुख अनुकूलन** (Backward Conditioning)–पृच्छोन्मुख अनुकूलन वह स्थिति होती है जब कि अनानुकूलित उत्तेजना (UCS) अनुकूलित उत्तेजना (CS) से पूर्व प्रस्तुत की जाती है, जैसे–

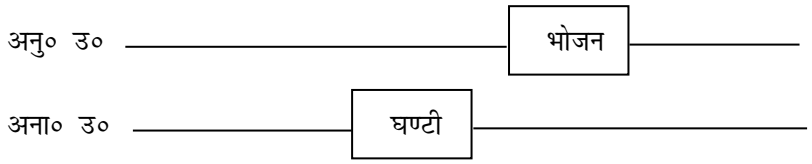

इस स्थिति में प्राय: अनुकूलन घटित नहीं हो पाता।

विलोपन (Extinetion)–पावलोव ने अपने आगे के प्रयोगों में अनुकूलित तथा अनानुकूलित उत्तेजनाओं को काल सामीप्य के आधार पर एक साथ प्रस्तुत करना बन्द कर दिया। अर्थात् केवल घण्टी बजाई जाती थी और भोजन नहीं प्रस्तुत किया जाता था जिससे कुछ दिनों के पश्चात् घण्टी की ध्वनि पर कुत्ते ने लार टपकाना बन्द कर दिया। इसे पावलोव ने विलोपन प्रक्रिया (Exinction) की संज्ञा दी है। केवल घण्टी की ध्वनि पर कुत्ते के लार स्राव का प्रत्येक प्रयास के पश्चात् मापन करने पर पाया गया कि लार की मात्रा बराबर कम होती गई। अत: विलोपन अनुकूलन के कार्य को समाप्त कर देता है और यह घण्टी की ध्वनि और लार-अनुक्रिया के साहचर्य को दुर्बल कर देता है, जिस प्रकार अनुकूलन उस साहचर्य को सबलित कर देता है।

तात्कालिक पुनराप्ति (Spontaneous Recovery)–विलोपन सम्बन्धी प्रयोगों के निरीक्षणों में देखा गया कि अनुकूलन पूर्णत: समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि अनुकूलित प्रक्रिया में प्रतिरोधन क्षमता का विकास हो जाता है। **मॉर्गन एवं किंग** (Morgan and King) के अनुसार "विलोपन अनुकूलन द्वारा अधिगृहीत अनुक्रिया का प्रतिरोधन करने की अधिगम प्रक्रिया है।" (Extinction is a process of learining to inhibit the response acquired in conditioning.)

यदि उसी अनुकूलित और अनानुकूलित उत्तेजनाओं को पुन: कई बार प्रस्तुत किया जाए तो शीघ्र ही काल सामीप्य के आधार पर दोनों उत्तेजनाओं में सम्बन्ध स्थापित कर अनुकूलन स्थापित हो जाता है। जैसे कि एक घटना का ओझल हो जाने पर उसे विस्मृत और पुन: घटित होने पर स्मृत हो जाने की क्रिया। उदाहरण के लिए जब कुछ दिनों तक भोजन और घण्टी-ध्वनि साथ-साथ प्रस्तुत नहीं किए गये तो यह देखा गया कि केवल घण्टी की ध्वनि पर कुत्ते का लार स्राव बन्द हो जाता है- यह क्रिया विलोपन है। किन्तु पुन: भोजन और घण्टी-ध्वनि को काल सामीप्य में प्रस्तुत करने पर, कुत्ते ने केवल घण्टी की ध्वनि होने पर लार टपकाना प्रारम्भ कर दिया- यह क्रिया तात्कालिक पुनराप्ति है।

प्रतिरोधन (Inhibition)–प्रतिरोधन, अनुकूलन स्थापित करने की क्रिया में, वह प्रक्रिया है जिसमें कोई अन्य उत्तेजना अनुकूलित अनुक्रिया में प्रतिरोध उत्पन्न कर दे। प्रतिरोधन दो कारणों से हो सकता है- (क) आन्तरिक कारण- जिसमें कोई आन्तरिक प्रतिरोधक तत्व क्रियाशील होता है, तथा (ब) बाह्य कारण- जिसमें वातावरण का बाहरी कोई प्रतिरोधक तत्व क्रियाशील होता है।

सामान्यीकरण (Generalization)–सामान्यीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें अनुकूलित अनुक्रिया से सम्बन्धित उत्तेजना से मिलती जुलती उत्तेजना उसी के समान प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ यदि कुत्ता घण्टी की ध्वनि पर लार टपकाना सीख गया है तो वह मेट्रानोम की ध्वनि पर भी लार टपकाता है, क्योंकि घण्टी और मेट्रोनोम की ध्वनि मिलती-जुलती है।

नोट

सबलीकरण (Reinforcement)–अनुकूलन प्रक्रिया और विलोपन प्रक्रिया में जो अन्तर है वह घण्टी की ध्वनि के बाद अनुकूलित उत्तेजक (भोजन) के प्रस्तुत करने का है। इस अन्तर से स्पष्ट होता है कि साहचर्य दृढ़ (सबल) हो रहा है, या दुर्बल। अनुकूलित अनुक्रिया को बनाने के लिए **सबलीकरण** का होना आवश्यक है। पावलोव के प्रयोग से अधिगम के एक प्रसिद्ध सिद्धान्त **'सबलीकरण के सिद्धान्त'** का निर्माण हुआ। मनोवैज्ञानिक **स्किनर** और हल महोदय ने अधिगम के इसी पक्ष (प्रबल या सबलीकरण) पर जोर दिया है, इसलिए उनके सिद्धान्तों को सबलीकरण का सिद्धान्त कहा गया है।

अनुकूलित प्रत्यावर्तन द्वारा अधिगम (Learning by Conditioned Reflex)–अनुकूलित प्रत्यावर्तन द्वारा अधिगम को पावलोव के शास्त्रीय प्रयोगों द्वारा समझा जा सकता है जिसका उल्लेख पिछले पृष्ठों पर किया जा चुका है। यह अनुकूलित प्रर्त्यावर्तन द्वारा अधिगम का एक प्रारम्भिक एवं उपयुक्त उदाहरण है जिसे विद्यार्थियों को समझाने के लिए अवश्य निरूपित करना चाहिए।

जी. एस. एंडरसन ने अनुकूलित प्रत्यावर्तन द्वारा अधिगम प्रक्रिया का उल्लेख इस प्रकार किया है- "अनुकूलित प्रत्यावर्तन अनुक्रिया में एक विशिष्ट उत्तेजक के फलस्वरूप जो अनुक्रिया साधारणत: होती है उसका चयन कर लिया जाता है कि यह उत्तेजक अनुक्रिया प्राणी की मूल प्रवृत्ति के कारण एक प्रकार का अधिगम है। इसके बाद मूल उत्तेजक के साथ एक नया उत्तेजक दिया जाता है और तब यह देखा जाता है कि इस नये उत्तेजक से भी वही अनुक्रिया होती है जो मूल उत्तेजक से होती थी। इस प्रकार अनुकूलित प्रत्यावर्तित अनुक्रिया द्वारा होने वाले अधिगम में अनुकुलित अनुक्रिया नये उत्तेजक के साथ अनुकूलित हो जाती है।"

इसी प्रकार व्यक्ति अनुकूलित प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा अधिगम करते हैं। बालकों में भय, घृणा, प्रेम तथा आदतों का कारण यह सम्बन्धीकरण होता है। उदाहरणार्थ- बालक का अंधेरे या जानवर से भयभीत होना स्वाभाविक नहीं है, बल्कि अस्वाभाविक उत्तेजकों से सम्बन्धित या अनुकूलित होने के कारण है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाटसन (Watson) ने एक शिशु पर यह परीक्षण किया, जो जानवरों से नहीं डरता था और खरगोश के साथ खेलने से बड़ा प्रसन्न होता था। एक दिन जब वह खरगोश के साथ खेल रहा था तो एक डराने वाली ध्वनि की गई। इससे बालक डर गया। इस ध्वनि को जब वह खरगोश के साथ खेलता था तो कई बार दुहराया गया। कुछ दिनों के पश्चात् वह खरगोश को देखकर उस समय भी डरने लगा जबकि डरावनी ध्वनि नहीं की जाती थी।

अनुकूलित प्रत्यावर्तन सिद्धान्त का मूल्यांकन–अधिगम के उपर्युक्त सिद्धान्त पर अनुकूलित अनुक्रिया विधि आधारित है, जो कि आलोचना से परे नहीं है, क्योंकि कुछ मनोवैज्ञानिकों को यह सिद्धान्त इस रूप में आज मान्य नहीं है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित विचार प्रस्तुत हैं–

1. सम्बद्धीकरण द्वारा अधिगम केवल पशुओं में आसान है। मनुष्य आयु वृद्धि के साथ इस क्रिया के सहारे कम ही सीखता है। जटिल विषयों को सीखने में इसकी उपयोगिता नहीं है।
2. सम्बद्धीकरण अथवा अनुकूलीकरण विशेष परिस्थितियों में ही सम्भव होता है। ये परिस्थितियाँ अस्वाभाविक होती हैं, जबकि अधिगम प्राय: स्वाभाविक परिस्थितियों में होता है।
3. इस विधि में अधिगम स्थाई नहीं होता।
4. यह विधि अभ्यास पर तथा एक प्रकार से प्रलोभन पर अधिक बल देती है। अस्वाभाविक उत्तेजक को बार-बार उपस्थित करके अधिगम की क्रिया यांत्रिक बन जाती है, जिसमें कोई नवीनता नहीं होती।

इससे यह स्पष्ट होता है कि यह विधि अथवा सिद्धान्त अधिगम की समुचित व्याख्या नहीं कर पाती किन्तु कुछ शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों के अनुसार शिक्षा में इस विधि की अत्यधिक उपयोगिता है और शिक्षण में यह महत्त्वपूर्ण पद्धति है।

नोट

3.14 शिक्षा में अनुकूलित प्रत्यावर्तन सिद्धान्त की उपयोगिता एवं महत्त्व

अनुकूलित प्रत्यावर्तन क्रिया (Conditioned Reflex Action), सम्बद्ध प्रत्यावर्तन, अनुकूलित अनुक्रिया, सम्बद्ध अनुक्रिया अथवा सम्बन्धीकरण की क्रिया के नाम से विख्यात पावलोव द्वारा मुल रूप से प्रतिपादित अधिगम सिद्धान्त एवं विधि शिक्षा में बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि व्यक्ति के अधिगम का प्रारम्भ अपेक्षित अनुक्रिया करने के द्वारा होता है। शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में अनुकूलित प्रत्यावर्तन सिद्धान्त की उपयोगिता एवं महत्त्व पर निम्नलिखित रूप से प्रकाश डाला जा सकता है–

1. बालकों की शिक्षा में सम्बद्धीकरण की क्रिया द्वारा अधिक लाभ उठाया जा सकता है। बाल्यावस्था में बहुत सी क्रियाएँ किसी विशेष वस्तु से सम्बद्ध हो जाती हैं और बड़े होने पर भी वह रहती हैं, उदाहरणार्थ- यदि बालक में किसी विशेष वस्तु या व्यक्ति के प्रति किसी कारणवश अरुचि, घृणा या भय उत्पन्न हो जाता है तो बड़े होने पर भी बालक उस प्रकार की वस्तु या व्यक्ति के प्रति उसी प्रकार की प्रतिक्रिया करता है। बालकों को सदैव अच्छी बातें सिखाने के लिए सम्बद्धीकरण का प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए।
2. यह विधि बुरी आदतों के निवारण, आचरण तथा व्यवहार बदलने में सहायता करती है।
3. इस विधि की सहायता से भय सम्बन्धी मानसिक रोगों का उपचार किया जा सकता है।
4. अनुशासन स्थापित करने के दण्ड एवं पुरस्कार के सिद्धान्त इसी विधि पर आधारित हैं।
5. यह विधि बालकों के समाजीकरण में तथा वातारण में समायोजन करने में सहायता देती है।
6. सामाजिक तथा असामान्य मनोविज्ञान के विद्वानों ने इस सिद्धान्त के आधार पर अनेक विषयों की व्याख्या की है। समूह निर्माण में तथा व्यक्ति के असामान्य व्यवहार की व्याख्या करने में इस सिद्धान्त से सहायता ली जा सकती है। क्रो तथा क्रो का विचार है, "यह विधि उन विषयों की शिक्षा के लिए उपयोगी है, जिनमें चिन्तन की आवश्यकता नहीं होती, जैसे, सुलेख और अक्षर विन्यास।"
7. यह अधिगम की स्वाभाविक विधि है। बालक को इस विधि से अधिगम का सदैव अवसर मिलता रहता है।
8. शिक्षण से दृश्य-श्रव्य उपकरणों का जो प्रयोग किया जाता है, वह भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है।
9. इस विधि की सहायता से घर तथा विद्यालय से होने वाली अधिगम की क्रियाओं को सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है।
10. बालकों से अनुकूलन कार्य करने के लिए इस विधि का ठीक से प्रयोग करना चाहिए। इस विधि की शिक्षण-कार्य में बहुत उपयोगिता है।
11. **प्रो. एंडरसन** का विचार है कि–"अनुकूलित अनुक्रिया का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसमें हमें एक ऐसी बुनियादी वैज्ञानिक आधार सामग्री प्राप्त हुई है जिससे हम अधि गम के एक सिद्धान्त का निर्माण कर सकते हैं।"

नोट

3.15 स्किनर का सक्रिय अनुकूलन सिद्धान्त

'सक्रिय अनुकूलन' अधिगम की एक पद्धति है, जिसका विकास अमेरिकी मनोवैज्ञानिक **बी. एफ. स्किनर** (B. F. Skinner) ने किया। उनके अधिगम सम्बन्धी विचारों का प्रसार 1932 ई. के लगभग होने लगा था। उनकी दो पुस्तकें 'The behaviour of Organism' तथा 'Beyond Freedom and Dignity' प्रसिद्ध हैं। व्यवहारिवादियों की श्रेणी में **स्किनर** का नाम प्रमुख रूप से जाना जाता है। स्किनर ने दो प्रकार के व्यवहारों का वर्णन किया है यथा–

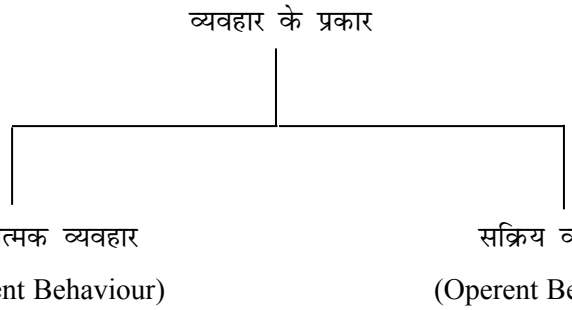

1. **प्रतिक्रियात्मक व्यवहार**–इस प्रकार का व्यवहार उत्तेजना के नियंत्रण में रहता है। उदाहरण के लिए मुँह में भोजन देने से लार का स्रावित होना प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। पावलोव के प्रयोग से इस उदाहरण के अतिरिक्त प्रतिक्रियात्मक व्यवहार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं, जैसे- प्रकाश पड़ने से आँखों का बन्द होना, हाथ में पिन चुभने से हाथ का हट जाना। गर्म चीज पर हाथ पड़ने से हाथ का हटा लेना आदि।
2. **सक्रिय व्यवहार**–इस प्रकार का व्यवहार उपर्युक्त से कुछ अलग होता है। यह व्यवहार उत्तेजना के प्रत्यक्ष नियंत्रण में नही होता है। इसमें प्रयोज्य की स्वेच्छा निहित होती है। जब तक व्यक्ति स्वेच्छा पूर्वक इस प्रकार के व्यवहार को करने के लिए तत्पर नहीं होगा, आपरेन्ट व्यवहार घटित नहीं होगा। उदाहरण के लिए स्किनर के प्रयोग में चुहे का व्यवहार आपरेन्ट है। इसी प्रकार घण्टी बजने पर दरवाजा खोलना या न खोलना किसी व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। अत: घण्टी बजने पर दरवाजा खोलने से सम्बन्धित व्यवहार आपरेन्ट व्यवहार है। स्किनर के प्रयोग में चूहा पुरस्कार प्राप्त करने के लिए लीवर को Operate करता है। इसी कारण इस प्रकार के अधिगम को नैमित्तिक अधिगम (Instrumental Conditioning) कहा जाता है।

अन्य व्यवहारवादियों के समान वह अधिगम को व्यवहार में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया मानता था। उसने अधिगम का कारण अनुकूलन बताया, किन्तु उसके अनुकूलन की प्रक्रिया सर्वथा भिन्न रूप में है। वास्तव में उसने अपने अधिगम सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से पूर्व पहले से किये गये अधिगम सम्बन्धी अध्यनों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया और प्रत्यावर्तन (Reflex) के संप्रत्यय (Concept) का क्रियात्मक विश्लेषण किया। उसके अनुसार व्यक्ति के व्यवहार का मूल आधार उत्तेजक-अनुक्रिया सम्बन्धों का निरीक्षित सह-सम्बन्ध है। मानव-व्यवहार की व्याख्या करने में पूर्व मनोवैज्ञानिकों ने जिस सबलीकरण के संप्रत्यय (Concept) का प्रतिपादन किया था स्किनर ने उस 'सबलीकरण अनुसूची' (Schedules of Reinforcement) को और आगे बढ़ाया। उसने अपने एक आदर्शात्मक उपन्यास 'Walden Two' में एक ऐसे समाज के प्रारूप की कल्पना की है, जिसमें व्यक्ति के व्यवहार का रूप निर्धारण एवं नियंत्रण एक व्यवस्थित ढंग से पुरस्कार द्वारा किया जा सकता है।

नोट

स्किनर के अनुसार किसी प्रकार के व्यवहार के कारण को जानने के लिए हमें उसके पहले के वातावरण को भी देखना या उस पर विचार करना होगा। उदाहरणार्थ किशोर बालकों में अपराध प्रवृत्ति पर्यावरण की कुछ विशिष्टाओं के कारण उत्पन्न होती है। व्यवहार को परिवर्तित करने के लिए पर्यावरण से परिवर्तन आवश्यक है। स्किनर ने उत्सर्जित अनुक्रिया को प्रमुख माना है। उसने बाह्य निरीक्षण योग्य व्यवहार को ही मनोविज्ञान का मुख्य विषय माना है, क्योंकि उसे देखा, अनुमानित किया और मापा जा सकता है। अतएव इस व्यवहार की वैज्ञानिक ढंग से जाँच की जा सकती है। व्यक्ति का व्यवहार अधिगम के नियमों द्वारा नियंत्रित और रूपान्तरित किया जा सकता है। स्किनर ने दो प्रकार के व्यवहार बताए हैं–उद्दीपन प्रसूत व्यवहार तथा क्रिया प्रसूत व्यवहार। जो अनुक्रियाएँ ज्ञात उत्तेजकों के कारण होती हैं या उनसे उत्पन्न होती हैं वे उद्दीपन प्रसूत कहलाती हैं। क्रिया प्रसूत अनुक्रियाओं का किसी ज्ञात उत्तेजक से सम्बन्धित होना आवश्यक है (ये उत्सर्जित प्रतिक्रियाएँ होती हैं) उद्दीपन प्रसूत और क्रिया प्रसूत अनुक्रियाएँ दो प्रकार के अनुबन्धन (Conditioning) से सम्बन्धित होती हैं, जिन्हें हम S प्रकार तथा R प्रकार कहते हैं। S प्रकार के अनुबन्धन का सम्बन्ध उद्दीपन प्रसूत व्यवहार से इसलिए होता है क्योंकि सबलीकरण का सम्बन्ध उत्तेजक से होता है। यह पावलोव के सिद्धान्त से स्पष्ट किया जा चुका है। S प्रकार में अनुकूलित उत्तेजक (घण्टी की ध्वनि) अनानुकूलित उत्तेजक (भोजन) के साथ प्रस्तुत किया गया है जो अनानुकूलित उत्तेजक के गुण (लार स्राव) प्राप्त कर लेता है। R प्रकार का अनुकूलन वह है जिसे क्रिया प्रसूत अनुकूलन कहा जाता है। क्रिया प्रसूत अनुकूलन को ही सक्रिय अनुकूलन (Operant Conditioning) के नाम से भी जाना जाता है। यहाँ सक्रिय अनुकूलन नाम का ही प्रयोग किया गया है।

कुछ मनोवैज्ञानिक सक्रिय अनुकूलन (Operant Conditioning) को नैमित्तिक अधिगम (Instrumental Learning) अथवा नैमित्तिक अनुकूलन (Instrumental Conditioning) भी कहते हैं, क्योंकि इसमें ऐसी अनुक्रिया का अधिगम होता है जिसमें कुछ निष्पन्न प्राप्त होता है। यह भोजन की प्राप्ति में, दु:ख या दण्ड के निवारण में अथवा लक्ष्य की प्राप्ति में निमित्त या साधन रूप है। अत: कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसका हिन्दी रूपान्तरण 'साधन अनुकूलन' भी किया है। पावलोव के शास्त्रीय अनुकूलन से कुछ निष्पन्न नहीं होता, उसमें केवल एक अनुक्रिया का उद्दीपन से साहचर्य स्थापित होता है।

नैमित्तिक अनुकूलन

स्किनर बक्सा (Skinner's Box)– प्रयोग, जिसका उल्लेख आगे किया गया है, नैमित्तिक अधिगम और वास्तव में व्यक्ति के अधिकांश अधिगम के बुनियादी लक्षणों को स्पष्ट करता है। प्राणी सर्वप्रथम, किसी अभिप्रेरणा से प्रेरित होता है। अभिप्रेरणा सामान्य समन्वेषी क्रिया के मध्य एक ऐसी अनुक्रिया घटित होती है, जो उपयुक्त लक्ष्य की उपलब्धि में साधन या निमित्त रूप होती है। इस प्रकार किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त जो अधिगम होता है वह नैमित्तिक कहलाता है।

पावलोव के शास्त्रीय अनुकूलन (Classical Conditioning) के ही समान नैमित्तिक अधिगम के लिए भी सबलीकरण एक अनिवार्य तत्व है। सक्रिय अनुकूलन में शास्त्रीय अनुकूलन के सभी तत्व पाए जाते हैं। फिर भी दोनों में कुछ अन्तर है। पावलोव के शास्त्रीय अनुकूलन सिद्धान्त में कुत्ता मेज में बांधा गया था और कोई क्रिया नहीं करता था। स्किनर के प्रयोग में प्रयोज्य (चूहे) क्रियाशील रहते हैं। इसीलिए इस सिद्धान्त को सक्रिय (जो क्रिया मूलक या क्रिया से उत्पन्न हैं) सिद्धान्त कहा गया है। प्राणी सक्रिय रहते हुए निमित्ति की सम्प्राप्ति करता है और वह निमित्ति

नोट

कराने वाली क्रिया को बार-बार कर उसे सबलित करता है। यह नाम इस बात पर आधारित है कि प्राणी अपने पर्यावरण में किसी सबलीकरण या पुरस्कार को प्राप्त करने के लिए क्रिया करता है। सबलीकरण उस लक्ष्य की प्राप्ति है, जो अभिप्रेरणा को सन्तुष्टि दे सकता है, जैसे- 'स्किनर-बाक्स' में भूखे-चूहे का भोजन प्राप्त करना सबलीकरण था। स्किनर, जिसने क्रिया प्रसूत अथवा सक्रिय (Operant) शब्द का प्रयोग किया है, के अनुसार-व्यवहार पर्यावरण के प्रति किसी परिणाम की उत्पत्ति के लिए क्रिया करना है, जैसे- भोजन, पानी या किसी पुरस्कार की प्राप्ति। इससे स्पष्ट है नैमित्तिक अधिगम या अनुकूलन का नाम सक्रिय अनुकूलन सिद्धान्त (Operant Conditioning Theory) का व्यावहारिक पक्ष है।

स्किनर के सिद्धान्त में 'सक्रिय' (Operant) मुख्य विचार है, अतः इसे समझना आवश्यक है।

सक्रिय (Operant) **का अर्थ–**स्किनर के सिद्धान्त में 'सक्रिय' (Operant) का अर्थ है क्रिया प्रसूत अनुक्रिया या अनुक्रियाओं का समूह जिससे प्राणी किसी लक्ष्य की प्राप्ति करता है अथवा उसे कुछ सम्प्राप्ति होती है। यह ऐसा अधिगम व्यवहार है जो कुछ परिणाम या पुरस्कार प्राप्ति का साधन बनता है। प्रोफेसर के. पी. पाण्डेय ने 'सक्रिय' की परिभाषा निम्नलिखित रूप में दी है–

"एक 'सक्रिय' को तकनीकी रूप से अनुक्रियाओं के समूह अथवा क्रियाओं के एक सेट, जो समान परिणामों से नियंत्रित होते हैं, के रूप में परिभाषित किया जाता है।" (An operant is technically defined as a group of responsee or set of acts which are controlled by similar consequences.)

प्रोफेसर एस. एस. चौहान ने 'सक्रिय' को निम्नवत् परिभाषित किया है–

"शब्द, 'सक्रिय' इस तथ्य पर बल देता है कि व्यवहार अपने स्वयं का परिणाम उत्पन्न करने के लिए पर्यावरण पर क्रियाशील रहता है।" (The term operant, emphasizes the fact that behaviour operates upon the environment to generate its own consequences.)

उपर्युक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सक्रिय' एक प्रकार का व्यवहार ही होता है किन्तु यह व्यवहार अपने पूर्व के उद्दीपक से नियंत्रित नहीं होता। 'सक्रिय व्यवहार' (Operant behaviour) की विशेषता यह है कि यह पर्यावरण पर क्रियाशील रहता है और परिणाम उत्पन्न करता है। स्किनर के अनुसार सक्रिय व्यवहार प्राणी द्वारा उत्सर्जित होता है न कि उद्दीपक द्वारा प्रकाशित (उत्पन्न)। उसने प्रतिक्रिया शब्द का प्रयोग 'सक्रिय' के लिए ही किया है।

स्किनर ने S प्रकार के अनुकूलन के स्थान पर R प्रकार के अनुकूलन की अवधारणा को प्रस्तुत किया है जिसका अभिप्राय है अनुक्रिया का परिणाम सम्प्राप्ति के साथ सम्बद्धन या अनुकूलन। इसी से 'सक्रिय अनुकूलन'का सिद्धान्त बना। अतः अब 'सक्रिय अनुकूलन' की अवधारणा को भी समझ लेना चाहिए। सक्रिय अनुकूलन की अवधारणा निम्नलिखित है–

सक्रिय अनुकूलन

सक्रिय अनुकूलन को पावलोव के शास्त्रीय अनुकूलन के परिप्रेक्ष्य में सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। शास्त्रीय अनुकूलन में हमने देखा कि भोजन (एक उद्दीपक) के साथ घण्टी की ध्वनि (दूसरा उद्दीपक) अनुबन्धित अथवा अनुकूलित कर दी गयी। यह S प्रकार का अनुकूलन है जिसमें अनुक्रिया का सम्बन्ध S (Stimulus) से होता है। उ.- अनु. (S-R) सिद्धान्त जिसे पावलोव, थार्नडाईक और

नोट

वाटसन ने विकसित किया, के आगे बढ़कर स्किनर ने थॉर्नडाइक के उ.- अनु. अनुबन्ध (S-R Bond) में व्यक्त अनुक्रिया (Respones) का अनुकूलन संप्राप्ति या पुरस्कार से किया जिससे एक अधिगम अनुक्रिया का सबलीकरण होता है। इसीलिए स्किनर का सिद्धान्त उ.- अनु. अनुकूलन सबलीकरण के साथ (S-R Conditioning with Reinforcement) भी कहलाता है। इससे स्पष्ट होता है कि स्किनर के सिद्धान्त पर थॉर्नडाइक के 'प्रभाव के नियम' का प्रभाव पड़ा है क्योंकि उसका पुरस्कार थॉर्नडाइक के 'सुख या सन्तोष प्राप्त करने के अप्रत्यक्ष सबलीकरण' के समान है। प्राणी अनुक्रियाओं के द्वारा कुछ सुखद प्राप्त करना चाहता है, ये अनुक्रियाएँ 'सम्प्राप्ति' का साधन बन जाती हैं। साधन अनुक्रियाएँ प्राणी को परिणाम प्राप्त करने के लिए सक्रिय या गतिशील या क्रियाशील (Operant) बनाए रखती हैं। यही सक्रिय अनुकूलन (Operant Conditioning) है। चूँकि यह अनुकूलन अनुक्रिया (R) पर आधारित है। इसलिए यह R प्रकार अनुकूलन है। निम्नलिखित कथनों से सक्रिय अनुकूलन की अवधारणा और भी स्पष्ट हो जायेगी–

स्किनर–"व्यवहार प्राणी या उसके अंग की किसी सन्दर्भ में गति है, यह गति या तो प्राणी में स्वयं निहित होती है अथवा किसी बाहरी उद्देश्य या शक्ति के क्षेत्र में आती है।" (Behaviour is the movement of an organism or of it part in a frame of reference provided by the organism itself.)

"सक्रिय अनुकूलन एक अधिगम प्रक्रिया है, जिनके द्वारा अधिगम अनुक्रिया को अधिक सम्भाव्य एवं अधिक बारम्बारी बनाया जाता है।" (Operant conditioning is the learning process where by a response is made more probable or more frequent.)

पाण्डेय–"एक सक्रिय अनुकूलन एक प्रक्रिया है जिसमें एक प्राणी का व्यवहार एक उत्पन्न होने के बजाय उत्सर्जित होता है और अधिक सम्भावित होने या सम्भाव्य या बारम्बारी रूप में घटित होने के अर्थ में सबलीकरण के द्वारा सुदृढ़ होता है।" (An operant conditioning is process in which the behaviour of an organism is an emitted rather than elicited one (operant behaviouar) and is strengthend, in the sense of becoming more likely or probable or frequent to occur, through reinforce- ment.)

सक्रिय अनुकूलन की प्रक्रिया को प्रदर्शित करने के लिए स्किनर ने चूहों तथा कबूतरों पर अनेक प्रयोग किये। उनके एक प्रमुख प्रयोग के द्वारा सक्रिय अनुकूलन सिद्धान्त को समझा जा सकता है।

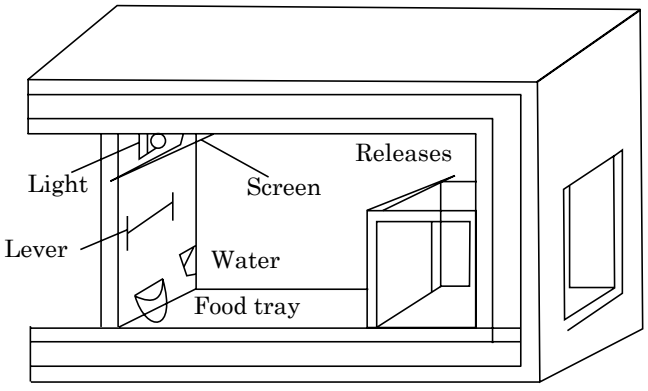

चित्र 3.2

नोट

स्किनर का प्रयोग

स्किनर द्वारा चूहों पर किया गया एक प्रयोग निम्नलिखित है–

स्किनर ने प्रयोग हेतु एक बक्सा तैयार किया जिसे Skinner's Box कहते हैं। इस बक्से में एक लीवर लगा था जिसे एक प्याली से सम्बन्धित किया गया था तथा लीवर के पास चूहे को अन्दर करने के लिए एक छेद बना था। लीवर के दबने से 'खट' की आवाज होती थी और प्याली में खाना आ जाता था। इस बक्से में एक सफेद भूखा चूहा लीवर के पास बने मार्ग से अन्दर किया जाता है। चूहा इधर-उधर घूमता, उछलता-कूदता है। स्वाभाविक रूप से चूहे से लीवर दब जाता है जिससे खट की आवाज के साथ प्याली में खाना आ जाता है और चूहा खाना खा लेता है। स्वाभाविक रूप से एक बार फिर लीवर दब जाता है और खट की आवाज के साथ खाना आ जाता है जिसे वह फिर खा लेता है। बाद में, कई बार लीवर दब कर खाना मिल जाने पर देखा गया कि चूहा लीवर के आसपास ही रहने लगा और लीवर दबाकर प्याली में आए खाने को खाकर आराम से बैठ जाता है। इस प्रयोग की पुनरावृत्ति के पश्चात् स्किनर ने देखा कि भूख लगने पर चूहा लीवर को बार-बार दबाने लगा। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला कि "यदि किसी क्रिया के पश्चात् ही कोई बल प्रदान करने वाला उद्दीपक प्राप्त हो जाता है तो उस क्रिया की शक्ति में वृद्धि हो जाती है।"

स्किनर अपने प्रयोग में यह नहीं देखता कि लीवर किस परिस्थिति में दब जाता है, बल्कि वह लीवर दबाने की अनुक्रिया की घटना को देखता है। इस अनुक्रिया को वह उत्सर्जित अनुक्रिया (Emitted Response) मानता है। **मनोवैज्ञानिक स्टीफेन्स** के अनुसार इस सिद्धान्त को इस प्रकार समझा जा सकता है- "जिस प्रकार के अधिगम में ऐसी उत्सर्जित अनुक्रियाएँ निहित हैं उसकी व्याख्या के लिए स्किनर का सुझाव है कि, जिस किसी अनुक्रिया से सबलीकरण होता है वही सबल होगी। यह उक्त अनुक्रिया की सामान्य प्रवृत्ति है जो सबल होती है अर्थात् यह अनुक्रिया ही अधिक सबल होती है न कि कोई विशेष ै.त प्रवृत्ति या बन्धन। चूहा लीवर दबाता है और खाना प्राप्त करता है। इस कारण चूहे की लीवर दबाने की सम्भावना बढ़ जाती है। इस अनुक्रिया का प्रबलन हो जाता है और चूहा कभी-कभी खाना समाप्त हो जाने पर भी लीवर दबाता रहता है।"

स्किनर के इस प्रयोग के वर्णन से स्पष्ट है कि चूहे को पुरस्कार (भोजन) या पुनर्बलन कुछ क्रियाएँ करने के लिए प्रेरित करती हैं। चूहे का बार-बार प्रयत्न करना पुनर्बलन के कारण होता है। इस प्रयोग से यह भी स्पष्ट है कि अधिगम एक क्रमिक प्रक्रिया है जो प्रयासों के साथ-साथ बढ़ती और अधिक शक्तिशाली होती जाती है।

दूसरा प्रयोग उन्होंने कबूतरों पर किया। कबूतरों पर प्रयोग करने के लिए स्किनर ने एक अन्य विशेष संयन्त्र का उपयोग किया जिसे कबूतर पेटिका (Pigeon Box) कहा जाता है। कबूतरों के साथ किए जाने वाले अपने इस प्रयोग में स्किनर ने यह लक्ष्य सामने रखा कि कबूतर दाहिनी ओर एक पूरा चक्कर लगाकर एक सुनिश्चित स्थान पर चोंच मारना सीख जाए। इस प्रयोग में कबूतर पेटिका में बन्द भूखे कबूतर ने जैसे ही दाहिनी ओर घूमकर सुनिश्चित स्थान पर चोंच मारी, उसे अनाज का एक दाना प्राप्त हुआ। इस दाने द्वारा कबूतर को अपने ही व्यवहार की पुनरावृत्ति के लिए पुनर्बलन प्राप्त हुआ और उसने फिर दाहिनी ओर घूमकर चोंच मारने की अनुक्रिया की। परिणामस्वरूप उसे फिर अनाज का एक दाना प्राप्त हुआ। इस प्रकार धीरे-धीरे कबूतर ने दाहिनी ओर सिर घुमाकर चोंच मारने की क्रिया द्वारा दाना (भोजन) प्राप्त करने का ढंग सीख लिया।

अपने इसी प्रकार के प्रयोगों द्वारा स्किनर ने अधिगम के क्षेत्र में एक नए सिद्धान्त अनुबन्धन को जन्म दिया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि हमारे सीखने सम्बन्धी व्यवहार को सक्रिय अनुबन्धन (Operant Conditioning) संचालित करता है। हमारा व्यवहार और अनुक्रिया बहुत कुछ सीमा तक सक्रिय व्यवहार का ही रूप होती है।

नोट

स्किनर अपने प्रयोग मे सबलीकरण को बहुत महत्त्व देता है जिस पर उसका अधिगम सिद्धांत आधारित है। अत: सबलीकरण की अवधारणा समझना आवश्यक है।

सबलीकरण की अवधारणा

अधिगम में अनुक्रियाओं पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी व्याख्या के लिए स्किनर सबलीकरण की अवधारणा का आश्रय लेता है। उसके अनुसार जो भी अनुक्रिया सबलीकरण तक पहुँचाएगी वही सुदृढ़ होगी। सबलीकरण उ. अनु. अनुबन्ध (S-R Bond) की सुदृढ़ता नहीं है, इसमें मुख्य भूमिका उत्सर्जित अनुक्रियाओं की और प्रत्येक सबलीकरण से अनुक्रियाओं के एक भण्डार (reserve) की संरचना होती है। सबलीकरण की प्रक्रिया सबलीकरण तत्वों के आधार पर घटित होती है, जैसे लीवर दबाने से खाना मिलना। खाना मिलना सबलीकारक है और लीवर दबाने की अनुक्रिया की शक्ति का बढ़ना सबलीकरण है। **हलसे, डीसे तथा एडिथ** (Hulse, Deese & Edeth) ने सबलीकरण की परिभाषा निम्नलिखित रूप से दी है–

"एक सबलीकारक एक उद्दीपक घटना है जो कि यदि यह एक अनुक्रिया के साथ उचित काल सम्बन्ध में घटित होता है तो, यह एक अनुक्रिया या एक उ.- अनु. सम्बन्ध की शक्ति बढ़ाने या अनुरक्षण करने की ओर प्रवृत्त होता है।" (A reinforcement is a stimulus event which if it the proper temporal relation with a response, tends to maintain or to increase the strength of a response or of a stimulus response connection.)

सबलीकरण के प्रकार

सबलीकरण के प्रकारों को दो वर्गों में रखा जा सकता है–

(अ) वर्ग में

(1) धनात्मक सबलीकरण (Positive Reinforcement)

(2) ऋणात्मक सबलीकरण (Negative Reinforcement)

(ब) वर्ग में

(1) प्राथमिक सबलीकरण (Primary Reinforcement)

(2) द्वैतीयक सबलीकरण (Secondary Reinforcement)

धनात्मक सबलीकरण–धनात्मक सबलीकरण में सबलीकारक वे उद्दीपक (Stimulus) होते है, जिनकी उपस्थिति से अनुक्रिया शक्ति बढ़ती है। जैसे- भूखे व्यक्ति के लिए भोजन धनात्मक सबलीकारक है। धनात्मक सबलीकारण में प्राणी कुछ पाने के लिए कुछ अनुक्रिया करता है। इसे S^+ से चिह्नित किया जाता है।

ऋणात्मक सबलीकरण–ऋणात्मक सबलीकरण में सबलीकारक वे उद्दीपक होते हैं, जिनकी अनुपस्थिति से अनुक्रिया शक्ति बढ़ती है। जैसे- यदि बालक कुत्ते के डर से भोजन नहीं करता और कुत्ते हो हटा लेने पर वह भोजन करने लगता है तो इस स्थिति में कुत्ते की अनुपस्थिति ऋणात्मक सबलीकरण है। इसे S^- से चिह्नित किया जाता है।

नोट

प्राय: दण्ड (Punishment) को ऋणात्मक सबलीकरण समझ लिया जाता है, किन्तु दोनों में अन्तर है। ऋणात्मक सबलीकारक अपनी अनुपस्थिति से किसी अनुक्रिया की शक्ति बढ़ाता है, जबकि दण्ड किसी अनुक्रिया की शक्ति को कमजोर करता है। दण्ड एक अनुक्रिया के घटित होने की सम्भावना को घटा देता है।

प्राथमिक सबलीकरण–प्राथमिक सबलीकरण में एक सबलीकारक वह उद्दीपक होता है जो उपस्थित किये जाने पर कोई अनुक्रिया शक्तिशाली बनाता है और इसका सम्बन्ध शारीरिक आवश्यक व्यवस्था जैसे–भूख, प्यास, काम और सुरक्षा के साथ स्थापित किया जाता है। उदाहणार्थ, चूहा लीवर दबाकर खाना प्राप्त कर लेता है।

द्वैतीयक सबलीकरण–द्वैतीयक सबलीकरण में सबलीकारक वे उद्दीपक होते हैं जो प्राथमिक सबलीकारक के साथ लगातार उपस्थित होने के कारण अनुक्रिया को सबल बनाने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् द्वितीयक सबलीकारक के उद्दीपक होते हैं जिनमें स्वयं में सबलीकरण करने की क्षमता नहीं होती किन्तु प्राथमिक सबलीकारक के साथ जुड़ कर सबलीकरण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उदाहरणार्थ प्राथमिक सबलीकारक भोजन के साथ एक ध्वनि की जाए जो बिना भोजन के ध्वनि भी अनुक्रिया का सबलीकरण करने लगे। इसे अनुकूलित सबलीकारक भी कहते हैं।

सबलीकरण एक निश्चित योजना बनाकर किया जाता है। अत: इसके लिए एक अनुसूची बनाई जाती है जिसे सबलीकरण की अनुसूची (Schedules of Reinforcement) कहते हैं। इसका संक्षिप्त रूप निम्नलिखित है–

सबलीकरण की अनुसूची

सबलीकरण प्रदान करने की प्रक्रिया अनुकूलन कहलाती है जिसे निरन्तर योजना बनाकर दिया जा सकता है। इस निरन्तर योजना को सबलीकरण की अनुसूचियाँ कहा जाता है। नियोजित सबलीकरण की अनुसूचियों द्वारा व्यवहार को अपेक्षित लक्ष्य के अनुसार ढाला जा सकता है। **फेर्स्टर तथा स्किनर** (Ferster and Skinner) ने सक्रिय अनुकूलन के प्रयोगों में प्रयुक्त सोलह विभिन्न सबलीकरण की अनुसूचियों का उल्लेख किया है। मोटे तौर से सबलीकरण की अनुसूचियाँ दो प्रकार से बनाई जाती हैं–

(क) निरन्तर अनुसूची (Continuous or Non-Intermittent Schedules)–जिसमें प्रत्येक उत्सर्जित अनुक्रिया सबलीकृत की जाती है और अनुक्रिया के सबलीकृत न होने पर विलोपन (Extinction) होता है।

(ख) आंशिक अनुसूची (Partial or Intermittent Schedules)–जिसमें सबलीकरण के द्वारा अनुक्रिया का केवल आंशिक अनुसरण किया जाता है।

उपर्युक्त अनुसूचियों के आधार पर निम्नलिखित चार प्रकार की अनुसूचियों का निर्माण किया जा सकता है–

(1) निश्चित अनुपात अनुसूची (Fixed-ratio schedule)–इसे संक्षेप में FR कहते हैं। इसमें व्यक्ति कई निश्चित अनुक्रिया के पश्चात् एक अनुक्रिया के लिए सबलीकृत किया जाता है। जैसे- प्रत्येक 5 अनुक्रिया के बाद 1 अनुक्रिया का सबलीकरण। यहाँ अनुपात 5 : 1 का है।

(2) परिवर्त्य अनुपात अनुसूची (Variable-Ratio Schedule)–इसे संक्षेप में VR कहते हैं। अनुसूची की इस व्यावस्था में सबलीकरण के लिए अपेक्षित अनुक्रिया की संख्या किसी

औसत अनुपात में परिवर्तित हो जाती है। जैसे- एक बार चौथी अनुक्रिया को सबलीकृत किया तो दूसरी बार छठी और तीसरी बार पहली अनुक्रिया को सबलीकृत किया जाए।

नोट

(3) निश्चित समयान्तर अनुसूची (Fixed-Interval schedule)–इसे संक्षेप में FI कहते हैं। इसमें अनुक्रिया का सबलीकरण एक निश्चित समयान्तराल पर किया जाता है। जैसे प्रत्येक पाँच मिनट के बाद सबलीकरण करना।

(4) परिवर्त्य-समयान्तर अनुसूची (Variable-Interval Schedule)–इसे संक्षेप में VI कहते हैं। इसमें अनुक्रिया का सबलीकरण परिवर्तनशील समयान्तराल पर किया जाता है। जैसे कभी 2 मिनट, कभी 5 मिनट तो कभी 8 मिनट के बाद किसी अनुक्रिया को सबलीकृत करना।

सबलीकारक के प्रभाव

सबलीकरण की प्रक्रिया में सबलीकारकों के निम्नलिखित प्रभाव पड़ते हैं–

1. व्यवहार को सशक्त बनाना,
2. किसी व्यवहार के घटित होने देने के लिए पक्षों की निश्चित सघनता,
3. व्यवहार में शीघ्र परिवर्तन होता है, परिवर्तित व्यवहार एक समय तक स्थिर रहता है तथा आगामी सबलीकरण के अभाव में परिवर्तित व्यवहार कमजोर पड़ जाता है और शनैः-शनैः समाप्त प्रायः हो जाता है।

सबलीकरण सिद्धान्त का शिक्षा में प्रयोग

शिक्षा में सबलीकरण सिद्धान्त के निम्नलिखित प्रयोग हैं–

1. इस सिद्धान्त का शिक्षण में बहुत उपयोग है क्योंकि यह बालकों की क्रियाशीलता पर बल देता है।
2. यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि प्राप्य वस्तु को सम्प्राप्ति या पुरस्कार से सम्बन्धित कर पढ़ाया जाना चाहिए।
3. इस सिद्धान्त को अपनाने से बालकों को सदा के लिए परिणाम की तृप्ति हेतु तत्पर किया जा सकता है।
4. बालकों को शिक्षा देने में पुरस्कार देने तथा प्रशंसा करने का स्थान बढ़ा है।
5. इस सिद्धान्त के प्रभाव से शिक्षण-विधियों को उनकी आवश्यकतानुसार परिवर्तित करके अध्ययन के प्रति उनकी रुचि जाग्रत की जा सकती है।

3.16 सक्रिय अनुकूलन का शैक्षिक महत्त्व

शिक्षा में सक्रिय अनुकूलन सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सिद्धान्त का प्रयोग कक्षा-शिक्षण में विभिन्न विषयों के अध्यापन में किया जाता है। स्किनर द्वारा प्रतिपादित शिक्षण मशीनों में पूर्व नियोजित निर्देशों का प्रयोग अधिगम के इसी सिद्धान्त पर आधारित है। शिक्षण मशीन में फ्रेम (Sets of Frams) में तैयार किये गये कथन क्रमानुसार प्रस्तुत किये जाते है। विद्यार्थी जब मशीन के यंत्र को दबाता है तो सही उत्तर उसके सामने आ जाता है। यह सबलीकरण धनात्मक या ऋणात्मक हो सकता है। सही उत्तर अधिगम को पुष्ट कर देता है और वह आगे अधि गम के लिए अनुप्रेरित हो

जाता है और इस प्रकार सही उत्तर का सबलीकरण हो जाता है। प्रोग्राम अधिगम (Programmed Learning) इसी सिद्धान्त पर आधारित है, जिसमें विद्यार्थी स्वयं अपना सबलीकरण सही उत्तर पाकर करता है। स्किनर के इस सिद्धान्त के शैक्षिक महत्त्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित बाते कही जा सकती हैं–

1. माता-पिता एवं शिक्षक इस सिद्धान्त की सहायता से बालकों में वांछित व्यवहार का विकास कर सकते है। वांछित व्यवहार के सबलीकरण से बालकों को प्रोत्साहन मिलता है। कक्षा में शिक्षक वांछित क्रिया का सबलीकरण मुस्कान, प्रशंसा या अधिक अंक देकर कर सकता है।
2. बालकों के अच्छे व्यवहार, गृह कार्य या अन्य सफलता प्राप्त करने का सबलीकरण तुरन्त पुरस्कार देकर करना चाहिए।
3. विद्यालय के विभिन्न क्रिया-कलापों में बालकों की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।
4. यह सिद्धान्त अभिप्रेरणा पर भी बल देता है, इसलिए कक्षा में पढ़ाई जाने वाली विषय वस्तु का उद्देश्य स्पष्ट करके, उन्हें अधिगम के लिए सदैव प्रेरित करना चाहिए।
5. बालकों के गलत व्यवहार में सुधार लाने हेतु इस सिद्धान्त का उपयोग किया जा सकता है।
6. बालकों के सामाजिक अधिगम, समायोजन तथा कौशल विकास में सबलीकरण का सिद्धान्त सहायक हो सकता है।

गेस्टाल्टवादियों के अनुसार अधिगम

गेस्टाल्टवाद, जो कि जर्मनी के मनोवैज्ञानकों (वर्दीमर, कोफ्का तथा कोहलर) द्वारा बौद्धिक आन्दोलन चलाने के फलस्वरूप विकसित हुआ। यह प्रमुख रूप से प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्धित था, किन्तु बाद में इसके विस्तार में अधिगम मनोविज्ञान भी आ गया। गेस्टाल्ट सिद्धान्त साहचर्य सिद्धांत की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुआ। इसके अनुसार व्यक्ति किसी वस्तु को आंशिक रूप से समग्र या पूर्ण रूप को सीखता है, अर्थात् सीखने के लिए हम जो कुछ देखते-सुनते, अनुभव करते हैं उसकी समग्र आकृति इतनी बड़ी है और उसके विभिन्न अंगों को मिला देने पर वस्तु का एक बड़ा आकार मालूम होता है। गेस्टाल्टवादयों के अनुसार–"एक गेस्टाल्ट या आकृति पूर्ण होती है, जिसकी विशिष्टताएँ पूर्णता की आन्तरिक प्रकृति द्वारा निर्धारित होती हैं, न कि उसके वैयक्तिक तत्वों की विशेषताओं द्वारा।" (A Gestalt of form is whole characteristics are determined not by characteristics of its individual elements, but by the internal nature of the whole.)

अधिगम में व्यक्ति सम्पूर्ण परिस्थिति को अपनी दृष्टि में रखता है तब समस्या का हल ढूंढ़ पाता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अधिगम की क्रिया में सफलता प्राप्त करने के लिए या समस्या के समाधान में सूझ (अन्तर्दृष्टि) विद्यमान रहती है।

गेस्टाल्टवादी स्मृति-चिह्नों की बात करते हैं, ये स्मृति चिह्न संगठित समग्र होते हैं। ये स्मृति चिह्न एक परिस्थिति से दूसरी में परिवर्तित होते रहते हैं, ये परिवर्तन विचार या समयान्तराल के द्वारा भी हो सकते हैं। जिस प्रकार से ये पुनर्संगठित होते हैं उनका सम्बन्ध गेस्टाल्ट अधिगम से है। प्रमुख गेस्टाल्टवादी कोहलर ने अधिगम के सूझ सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसके सम्बन्ध में प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं–

3.17 कोहलर का सूझ सिद्धान्त

नोट

जर्मनी निवासी **उल्फगंग कोहलर** (Wolfgang Kohler) को एक संस्था "Prussian Academy of Sciences ने 1913 में मानव शास्त्रीय अध्ययन के लिए कैनारी द्वीप में स्थित टेनेरिफ (Teneriffe) में भेजा, जहाँ उसने प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ होने की दशा में निर्जन हुए स्थान में वनमानुषों (Apes or Chipanzees) पर व्यापक रूप से अध्ययन किया। इस अध्ययन को उसने अपनी पुस्तक 'mentality of Apes' (1925) में प्रस्तुत किया है। इसी पुस्तक में उसने सूझ के सिद्धान्त का प्रतिपादन वनमानुषों पर अनेक प्रयोगों के परिणामों के आधार पर किया है। उसके सिद्धान्त का मुख्य तत्व सूझ है। अतः सूझ का अर्थ समझना आवश्यक है।

सूझ का अर्थ–जब किसी समस्या का निराकरण करते समय अचानक ही कोई हल दिमाग में आता है, तब प्रत्यक्षीकरण में तीव्र गति से होने वाला परिवर्तन सूझ कहलाता है। अधिगम के सन्दर्भ में सूझ सम्पूर्ण परिस्थिति की पकड़ है। सूझ वास्तव में परिस्थिति को एक संगठित समग्र के रूप में देखने में निहित होती है। अधिगम मनोविज्ञान में हम देखते हैं कि प्राणी प्रयास एवं त्रुटि के द्वारा अधिगम करता है या दूसरों के प्रयासों का अनुकरण करके अधिगम करता है। किन्तु कुछ ऐसे भी कार्य होते हैं जिन्हें प्राणी एकाएक बिना किसी के बताए अपनी तरकीब से सीख जाता है। यही एकाएक तरकीब सूझ है जिसके द्वारा प्राणी अधिगम करता है। **गुड** (Good) के अनुसार-"अन्तर्दृष्टि या सूझ वास्तविक स्थिति का आकस्मिक, निश्चित और तात्कालिक ज्ञान है।"

कोहलर के अनुसार, "एक से अधिक तकनीकी अर्थ में सूझ का अर्थ किसी समस्या के समाधान को एकाएक पकड़ लेना है जिससे एक ऐसी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है जो परिस्थिति के अनुसार चलती है और समस्या का समाधान प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र संख्या के सन्दर्भ में लाता है।" उसका कहना है कि परिस्थिति की वास्तविक संरचना निरीक्षण हेतु ऊपर और खुली हुई होनी चाहिए।"

सूझ द्वारा अधिगम (Learning by Insight)–कोहलर के अनुसार व्यक्ति प्रयास एवं त्रुटि के द्वारा नहीं सीखता, बल्कि पहले वह अपनी मानसिक शक्ति और बुद्धि के द्वारा समस्यापूर्ण परिस्थिति का प्रत्यक्ष निरीक्षण करता है, तब किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करता है। अधिगम की प्रक्रिया समग्र परिस्थिति के सविकल्प प्रत्यक्षीकरण के आधार पर घटित होती है। जब कोई प्राणी नई परिस्थिति में आता है, तब वह परिस्थिति के विभिन्न तत्वों या वस्तुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है और परिस्थिति को भली-भाँति समझ कर अनुकूल प्रतिक्रिया करता है। समग्र परिस्थिति का समझ में आना तथा फिर प्रतिक्रिया करना सूझ का परिचायक है। इसीलिए इसे सूझ, जिसे हम अन्तर्दृष्टि का भी नाम देते हैं, द्वारा अधिगम कहते हैं। इस विधि से सीखने में मानसिक प्रयास किए जाते हैं।

सूझ द्वारा अधिगम की विशेषताएँ–सूझ द्वारा अधिगम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) सूझ द्वारा अधिगम में व्यक्ति सर्वप्रथम समग्र परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करता है और समस्या एवं परिस्थिति में सम्बन्ध स्थापित करता है।

(2) समस्या और परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के पश्चात् कुछ प्रयास करने के पश्चात् एकाएक समाधान प्राप्त करता है, यद्यपि कि उसे प्रयास एवं त्रुटि के व्यवहार की अवधि के बाद ही सफलता मिलती है, किन्तु यह व्यवहार केवल निरर्थक प्रयास एवं त्रुटि के रूप में न होकर उद्देश्यपूर्ण, निश्चित एवं समस्या समाधान का प्रत्यक्ष प्रयास होता है।

नोट

(3) समस्या समाधान का प्रत्येक प्रयास एक दूसरे से सम्बन्धित होता है और पूर्ण व्यवहार को संगठित तथा परिवर्तित करने में सहायक होता है।

(4) कुछ प्रयासों के पश्चात् व्यक्ति में एकाएक समाधान की सूझ आ जाती है।

(5) सूझ के आने के पहले अधिगमी असहाय मालूम होता है किन्तु एक बार समस्या का समाधान सूझ द्वारा खोज लेने पर वह दक्ष हो जाता है। इस प्रकार सूझ द्वारा अधिगम असहायता से दक्षता की ओर होता है।

(6) सूझ द्वारा सीखी गयी दक्षता दोहराई जा सकती है तथा नई परिस्थिति में उस अधिगम का स्थानान्तरण भी होता है। व्यक्ति में समाधान की उच्च स्तर की धारणा और समझ के कारण अच्छे स्थानान्तरण की क्षमता आ जाती है।

(7) सूझ समझ पर आधारित होती है जिसका सम्बन्ध बौद्धिक स्तर से है। निम्न श्रेणी में प्राणियों की अपेक्षा उच्च श्रेणी के प्राणियों में अधिक सूझ दिखाई देती है।

(8) सूझ के द्वारा अधिगम पर आयु का भी प्रभाव पड़ता है।

(9) सूझ द्वारा अधिगम पर अनुभव का प्रभाव पड़ता है किन्तु अधिक अनुभव होने से सूझ का अधिक होना निश्चित नहीं है।

कोहलर के प्रयोग

कोहलर के प्रयोगों द्वारा उसके सूझ के सिद्धान्त को स्पष्टतया समझा जा सकता है। उसने टेनेरिफ द्वीप में वनमानुषों पर कई प्रयोग किए। छः भूखे वनमानुषों को एक लकड़ी के कटघरे में रखकर कोहलर ने प्रयोग प्रारम्भ किया। उन वनमानुषों में एक सबसे अधिक बुद्धिमान था जिसका नाम कोहलर ने 'सुल्तान' रखा और अधिकांश प्रयोग उसने 'सुल्तान' पर किए। अधिगम के लिए कोहलर ने 'सुल्तान' के सामने दो प्रकार की समस्याएँ प्रस्तुत कीं। छड़ी समस्या तथा बक्सा समस्या।

छड़ी समस्या सम्बन्धी प्रयोग–एक वनमानुष को एक कटघरे में बंद करके उसके पास एक नुकीली छड़ी रख दी तथा कटघरे के बाहर केले रखे गये जो कि हाथ फैलाकर नहीं पाया जा सकता था। केला पाने के लिए वनमानुष ने पहले हाथ पैर फैला कर केला पाने का प्रयास किया किन्तु वह केला न प्राप्त कर सका। थोड़ी देर बाद उसने कटघरे में पड़ी छड़ी को उठाया और उसके सहारे केले खींच लिए। केला प्राप्त कर वह सन्तुष्ट हो गया। छड़ियों को जोड़कर वनमानुष ने केला प्राप्त कर लिया, यह उसकी सूझ का ही परिणाम था।

इसके पश्चात् कोहलर ने कटघरे में दो छड़ियाँ रखीं जो एक दूसरे में फिट होकर लम्बी हो सकती थीं। कटघरे के बाहर अधिक दूरी पर केले रखे गये। भूखे वनमानुष ने पुनः हाथ निकालकर केला प्राप्त करना चाहा किन्तु असफल होने पर एक छड़ी के द्वारा केला प्राप्त करने का प्रयास किया- इससे भी वह सफल नहीं हो सका। तब वह दोनों छड़ियों से खेलने लगा तो एकाएक छड़ी का सिरा दूसरी छड़ी में फिट हो गया। एक छड़ी से दूसरी छड़ी जुड़कर लम्बी हो गई जिससे पहले की तरह वह केला खींचकर पाने में सफल हो गया। दूसरे दिन फिर वनमानुष को उसी स्थिति में रखा गया तो देखा गया कि बिना अधिक समय लगाए छड़ियों को जोड़कर शीघ्र केले को खींच लिया। वनमानुष को यह सूझ एकाएक मिली। सूझ मिलने के पहले वनमानुष ने कटघरे की स्थिति, केले की दूरी, छड़ी की लम्बाई आदि में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया और सूझ द्वारा समस्या का समाधान करके लक्ष्य की प्राप्ति की।

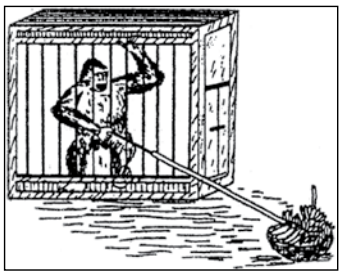

चित्र 3.3

बक्सा समस्या सम्बन्धी प्रयोग–बक्से सम्बन्धी प्रयोग में कोहलर ने 'सुल्तान' को एक कटघरे में रखा। कटघरे की छत से केले का गुच्छा लटकाया गया तथा कटघरे में एक लकड़ी का बक्सा रखा गया। केले उसकी पहुँच से ऊपर थे। पहले वनमानुष ने उछल-कूद कर केले प्राप्त करने का प्रयास किया किन्तु वह सफल नहीं हुआ। थोड़ी देर कटघरे में वह इधर-उधर घूमता रहा और बक्से को भी देखता रहा। एकाएक उसने बक्से को खींचकर लटके केले के नीचे रखा और बक्से पर चढ़कर केले प्राप्त करने में वह सफल हो गया।

चित्र 3.4. बाक्स सम्बन्धी प्रयोग

दूसरे दिन फिर भूखे वनमानुष को कटघरे में रखा गया किन्तु इस बार केले अधिक ऊँचाई पर थे और कटघरे में दो बक्से थे। थोड़ी देर इधर-उधर घूमने के पश्चात् फिर वह बक्से के पास आया और एक बक्सा को खींचकर केले के नीचे लाया और उस पर खड़ा होकर केले को पकड़ना चाहा किन्तु वह केले तक नहीं पहुँच सका तब उसने पहले बक्से के ऊपर दूसरे बक्से को भी रख दिया और उस पर चढ़ कर केला प्राप्त कर लिया। यहाँ वनमानुष ने एक बक्से तथा दूसरे बक्से में सम्बन्ध स्थापित किया। इसी प्रकार तीन बक्से एक दूसरे पर रखकर भी वनमानुष ने केला प्राप्त करना सीख लिया था।

प्रयोगों से निष्कर्ष–कोहलर के उपर्युक्त प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सूझ के सिद्धान्त के अनुसार किसी कार्य के अधिगम की क्रिया मस्तिष्क के दो स्तरों पर होती है–

(1) प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक स्तर पर अधिगम (Learning at Perceptual Level)

(2) प्रत्ययात्मक स्तर पर अधिगम (Learning at Conceptual level)

नोट

प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक स्तर पर प्राणी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से समग्र परिस्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर प्रतिक्रिया करता है, तब वह सीखता है। मनुष्य सूझ से युक्त विचारशील और विवेकशील होता है। अत: वह समस्यापूर्ण स्थिति का समग्र रूप से प्रत्यक्षीकरण करता है और सूझ से अपनी समस्या का समाधान शीघ्र निकाल लेता है। हम कह सकते हैं कि कोहलर ने बक्से सम्बन्धी प्रयोग में अधिगम की क्रिया प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक स्तर पर हुई।

प्रत्यात्मक स्तर पर अधिगम की क्रिया में मस्तिष्क तब सहायता करता है जब किसी के सामने जटिल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और उसे शारीरिक क्षमताओं के साथ बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है। कोहलर का छड़ी सम्बन्धी प्रयोग इसी ओर संकेत करता है।

सूझ उत्पन्न करने के सहायक कारक–उपर्युक्त प्रयोगों के निष्कर्षों से यह ज्ञात होता है कि सूझ उत्पन्न करने वाले सहायक कारक निम्नलिखित हैं–

1. **समग्र परिस्थिति तथा समस्या का प्रत्यक्षीकरण**–सम्पूर्ण बातों का अध्ययन करने के बाद पूर्ण परिस्थिति या अवयवी (Whole) का ज्ञान हो जाता है।
2. **बुद्धि**–तीव्र बुद्धि वालों में सूझ की क्षमता अधिक होती है और कम बुद्धि वालों में कम क्षमता पाई जाती है।
3. **प्रयास एवं त्रुटि**–प्रयास एवं त्रुटि करने की क्रिया में एकाएक सूझ उत्पन्न हो जाती है।
4. **अनुभव**–इस सिद्धान्त के अनुसार अधिगम में अनुभवों का स्थानान्तरण होता रहता है। यह अनुभव संगठित होकर गेस्टाल्ट या अवयवी का रूप धारण कर लेते हैं जैसा कि वनमानुष ने केले को प्राप्त करने के लिए एक बक्स पर चढ़कर उसे प्राप्त करने में जब कई असफल प्रयास किये और फिर सफल न हुआ तो उस बक्स पर दूसरा बक्स रखकर सफलता प्राप्त कर लिया है। इसी प्रकार व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण, प्रयास एवं त्रुटि तथा गत समग्र अनुभवों के आधार पर नियम बनाता है और अनुभवों के संगठित होने पर गेस्टाल्ट बन जाते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सूझ द्वारा अधिगम उच्च कोटि का होता है क्योंकि इसमें मानसिक प्रयास किया जाता है और बुद्धि तथा कल्पना का प्रयोग होता है। इसमें व्यक्ति उच्च बौद्धिक स्तर पर स्थिति का अवलोकन करके समस्या को समग्र रूप में समझकर प्रतिक्रिया कर अधिगम करता है। यहाँ पर यह कहना भी उचित है कि सूझ द्वारा अधिगम विधि में प्रयास एवं त्रुटि द्वारा अधिगम की विधि छिपी हुई है। समस्या को सुलझाने में केवल सूझ ही काम नहीं करती बल्कि सोचना-विचारना और प्रयास करना पड़ता है, उदाहरणार्थ गणित के प्रश्न हल करते समय प्रयास एवं सूझ दोनों कार्य करते हैं तब सही हल निकलता है।

'प्रयास एवं त्रुटि' 'सूझ' अधिगम विधि में अन्तर–संक्षेप में, इन दोनों अधिगम विधियों में निम्नलिखित अन्तर पाया जाता है–

1. प्रयास एंव त्रुटि विधि शारीरिक स्तर पर आधारित होने के कारण शारीरिक कुशलता (Motor Skill) पर अधिक बल देती है जबकि सूझ द्वारा अधिगम में मस्तिष्क के प्रयोग पर या बौद्धिक-कुशलता पर अधिक बल दिया जाता है।
2. प्रयास एवं त्रुटि विधि का सभी प्रयोग कर सकते हैं किन्तु सूझ विधि का प्रयोग करने के लिए सामान्य बौद्धिक स्तर की आवश्यकता होती है।

3. प्रयास एवं त्रुटि विधि अभ्यास, प्रेरणा तथा संवेदन पर विशेष रूप से निर्भर है, जबकि सूझ विधि प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर है।
4. प्रयास एवं त्रुटि विधि अभ्यास और परिश्रम पर निर्भर है, जबकि सूझ विधि में समस्या का हल एकाएक प्राप्त होता है।
5. प्रयास एंव त्रुटि विधि में प्रत्येक बार नई समस्या पर नये सिरे प्रयास करना पड़ता है, जबकि सूझ-विधि से अभ्यास के अभाव में भी समस्याएँ सुलझ जाती हैं।
6. प्रयास एवं त्रुटि विधि में व्यक्ति का ध्यान सदा लक्ष्य की ओर रहता है, जबकि सूझ-विधि में अचेतन मस्तिष्क अधिक सक्रिय रहता है- चेतन क्रियाएँ कम होती हैं।
7. प्रयास एवं त्रुटि विधि में दक्षता (Mastery) धीरे-धीरे आती है, जबकि सूझ विधि में दक्षता एकाएक मिल जाती है।
8. प्रयास एवं त्रुटि विधि का प्रयोग किसी दक्षता को क्रमबद्ध ढंग से सीखने में उपयोगी होता है, जबकि किसी समस्या के समाधान में सूझ विधि का प्रयोग अधिक उपयोगी होता है।

नोट

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार प्रयास एवं त्रुटि विधि सभी स्तर के अधि गम में सहायता नहीं कर सकती, उसी प्रकार सूझ विधि पूर्ण रूप से दोष रहित नहीं है। वास्तव में अधिगम में परिस्थितियों के अनुसार दोनों विधियों का उपयोग करना चाहिए।

3.18 कोहलर के सूझ सिद्धान्त का शैक्षिक महत्त्व

गेस्टाल्टवाद और सूझ के सिद्धान्त का शिक्षा में निम्नलिखित महत्त्व है–

1. यह विधि बालकों की कल्पना, तर्क, विचार-शक्ति के विकास के लिए उचित अवसर प्रदान करती है।
2. यह विधि रचानात्मक कार्यों में अधिक सहायता दे सकती है।
3. इस विधि द्वारा बालक स्वयं खोजकर ज्ञान अर्जित करने के लिए तत्पर रहता है। उसे किसी विशेष परिस्थितियों में जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे वह सामान्यीकरण (Generalization) द्वारा उचित ढंग से मष्तिष्क में व्यवस्थित कर लेता है और यही क्रिया उसे अधिगम में सहायता देती है। उदाहरणार्थ- हरे कच्चे आमों को खाने के बाद बालक आमों के बारे में यह सामान्यीकरण कर लेता है कि सभी हरे कच्चे आम खट्टे होते हैं।
4. यह विधि कठिन विषयों, जैसे- गणित, विज्ञान आदि के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। गणित का नया प्रश्न हल करने में वह अपनी सूझ द्वारा सूत्रों या तरीकों का प्रयोग करता है।
5. शिक्षा के उच्च स्तर सूझ विधि ही अनुसंधान कार्य में अधिक उपयोगी तथा आवश्यक है।
6. **क्रो** तथा **क्रो** के अनुसार,-"यह विधि कला, संगीत और साहित्य की शिक्षा में अधिक उपयोगी है।"
7. शिक्षक को विद्यार्थी के सामने समस्या को पूर्ण रूप से प्रस्तुत करना चाहिए। जैसे– बीजगणित में पूरी समस्या प्रस्तुत की जाए, उसके खण्ड या सूत्र (Formula) ही नहीं।
8. अध्यापक इस विधि के सफल प्रयोग के लिए तत्परता के नियम को ध्यान में रखते हुए विद्यार्थी को अधिगम की परिस्थितियों को ग्रहण करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

9. इस विधि द्वारा अधिगम के लिए अध्यापक को, विद्यार्थी को तब तक प्रोत्साहित करते रहना चाहिए, जब तक सूझ के द्वारा समस्या का हल न निकल आए। अध्यापक के प्रयत्न से ही विद्यार्थियों में जिज्ञासा एवं रुचि उत्पन्न होती है। अतः उसका कर्त्तव्य है कि इस प्रकार के अधिगम में विद्यार्थी में जिज्ञासा एंव रुचि जागृत करता रहे।
10. यह सिद्धान्त अनुभवों के संगठन एवं पूर्णता पर बल देता है, इसलिए शिक्षक को शिक्षार्थी के अनुभवों को पुनर्संगठित करने में सहायता देनी चाहिए।
11. किसी समस्या का प्रस्तुतीकरण आंशिक रूप से नहीं बल्कि समग्र रूप से करना चाहिए। विद्यार्थी अंशों को नहीं बल्कि समग्र परिस्थिति को पहले समझता है। गेस्टाल्टवादियों के अनुसार, "हम अवयवी (Whole) से अवयव (Part) की ओर जाते हैं, अवयव से अवयवी की ओर नहीं।"

3.19 अधिगम के स्थानान्तरण का अर्थ

शिक्षा में सीखने के स्थानान्तरण का अर्थ 'सीखी हुई क्रिया या विषय का अन्य परिस्थितियों में उपयोग करना।' दूसरे शब्दों में एक विषय या परिस्थिति में अर्जित ज्ञान का अन्य विषयों या परिस्थितियों के ज्ञानार्जन पर प्रभाव पड़ना ही अधिगम का स्थानान्तरण कहलाता है। इसे 'अधिगम संक्रमण' या 'अधिगमानान्तरण' भी कहते हैं। उदाहारणार्थ- गणित सीखने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र तथा सांख्यिकी विषय को सीखने में सहायता करता है। यह क्रिया ही अधिगम का स्थानान्तरण कहलाती है। इसी प्रकार बालक अपने दैनिक जीवन में गणित के साधारण ज्ञान का उपयोग बाजार में वस्तुओं को खरीदते समय करता है। स्पष्ट है कि शिक्षा का किसी-न-किसी रूप में सम्बन्धित क्षेत्र में संक्रमण होता रहता है। अधिगम स्थानान्तरण का अर्थ शिक्षा मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गई निम्न परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है-

1. **वेलोन एवं वीनस्टीन**-"अधिगम के स्थानान्तरण का अर्थ है एक कार्य की निष्पत्ति दूसरे कार्य की निष्पत्ति द्वारा प्रभावित होती है।" (Transfer of learning means that performance on one task is by affected performance on another task.)
2. **क्रो और क्रो**-"साधारणतः अधिगम के एक क्षेत्र में प्राप्त होने वाले विचार, अनुभव या कुशलता का ज्ञान या कार्य करने की आदतों का, सीखने के दूसरे क्षेत्र में प्रयोग करना ही प्रशिक्षण स्थानान्तरण कहलाता है।" (The carrry over of habits of thinking, feeling or working of knowledge, of skills, from one learning area to another is usually referred to as the transfer of training.)
3. **कॉलेसनिक**-"स्थानान्तरण पहली परिस्थिति में प्राप्त ज्ञान, कुशलता, आदतों, अभियोग्ताओं या अन्य क्रियाओं का दूसरी परिस्थिति में प्रयोग करना है।" (Transfer is the application of carry over of knowledge,skill,habits, attitudes or other responses from the situation in which they are initially acquired to some other situation.)
4. **प्रो. सोरेन्सन**-"स्थानान्तरण एक परिस्थिति में प्राप्त किया हुआ ज्ञान, प्रशिक्षण और आदतों को दूसरी परिस्थिति में स्थानान्तरित किये जाने की चर्चा करता है।"
5. **प्रेटरसन**-"स्थानान्तरण सामान्यीकरण है, क्योंकि वह एक नये क्षेत्र तक विचारों का विस्तार है।" (Transfer is generalization for it is extension of ideas ot a new field.)

इस परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले सीखे हुए अर्जित ज्ञान, कौशल, आदतों या अन्य अनुक्रियाओं का प्रयोग दूसरी परिस्थिति में करना ही स्थानान्तरण है।

3.20 अधिगम स्थानान्तरण सम्बन्धी सिद्धान्त

नोट

अधिगम के स्थानान्तरण का अर्थ समझ लेने के बाद यह जानना आवश्यक है कि स्थानान्तरण किस प्रकार होता है। इसके लिए स्थानान्तरण के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करना आवश्यक है। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

1. **मानसिक शक्ति का सिद्धान्त और औपचारिक अनुशासन की धारणा** (Factulty Theory of Mind are Concept of Formal Discipline)–यह सिद्धान्त शक्ति मनोविज्ञान पर आधारित है। इसके अनुसार व्यक्ति का मन विभिन्न शक्तियों जैसे निरीक्षण, स्मृति, कल्पना, तर्क, निर्णय आदि से मिलकर बना है और ये शक्तियाँ एक-दूसरे से भिन्न या स्वतंत्र हैं। अभ्यास द्वारा इन्हें प्रशिक्षित करके तीव्र बनाया जा सकता है और इनका उपयोग कुशलतापूर्वक किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है। उदहारणार्थ यदि स्मरण-शक्ति को प्रशिक्षित करता है तो उन शब्दों को भी याद कर लेना आवश्यक समझा जाता है, जिनकी उस समय व्यक्ति के लिए उपयोगिता नहीं है। इसी प्रकार इस सिद्धान्त के समर्थकों का विचार है कि गणित द्वारा तर्क-शक्ति को प्रशिक्षित किया जा सकता है और फिर इससे उन विषयों को सीखने में सहायता मिलती है जिसमें तर्क करने की आवश्यकता पड़ती है। इस सिद्धान्त के अनुसार पाठ्य विषयों का चुनाव इस प्रकार किया जाए जिनसे उपर्युक्त मानसिक शक्तियाँ पुष्ट हो सकें। आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक शक्तियों के विभजन को स्वीकार नहीं करता। अत: इस सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी जाती।
2. **समान तत्वों का सिद्धान्त** (Theory of Identical Elements)–इस सिद्धान्त के प्रवर्तक **थॉर्नडाइक** महोदय ने अपने प्रयोगों के आधार पर इस बात की पुष्टि कि जब दो अनुभवों की विषय-सामग्री में या विषयों में समानता होती है तभी स्थानान्तरण की अधिक सम्भावना होती है। यदि विषयों में परस्पर समानता होती है तब एक विषय का अर्जित ज्ञान दूसरे विषय के अध्ययन में सहायक सिद्ध होता है। जैसे गणित का ज्ञान भौतिकशास्त्र व सांख्यिकी में, इतिहास का ज्ञान राजनीति में, मनोविज्ञान का ज्ञान शिक्षा-मनोविज्ञान में और दर्शनशास्त्र का ज्ञान शिक्षादर्शन के अध्ययन में हमें सहायता देता है, और हमें कठिनाई नहीं होती। इसका कारण यह है कि इन विषयों में परस्पर समान अंश या तत्व पाये जाते हैं। इसके समर्थन में गेट्स महोदय का कथन है-"यह देखा गया है कि समान तत्वों से स्थानान्तरण का अनुपात अधिक होता है।" यही कारण है कि विद्यार्थी पाठ्य-विषयों का चुनाव करते समय उन विषयों को लेने का प्रयत्न करते हैं जिनमें परस्पर कुछ अंशों में समानता पाई जाती है जैसे–आधुनिक इतिहास के साथ राजनीति विषय लेना।
3. **समान्यीकरण का सिद्धान्त** (Theory of Generalisation)–इस सिद्धान्त के प्रतिपादक चार्ल्स जड महोदय हैं। इस मत के अनुसार जब व्यक्ति अपने अनुभव, अध्ययन या ज्ञान के माध्यम से एक सामान्य सिद्धान्त निकाल लेता है तब वह उसे दूसरी परिस्थितियों में स्थानान्तरित कर सकता है। जड महोदय ने इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए- "इस सिद्धान्त के अनुसार विशिष्ट कुशलता का विकसित होना, विशेष तथ्यों पर पूर्ण अधिकार,

नोट

विशेष आदतों और मनोवृत्तियों की प्राप्ति, दूसरी स्थिति में स्थानान्तरण की दृष्टि से बहुत कम महत्त्व रखती है- जब तक कि कुशलता, तथ्य और आदत उन दूसरी परिस्थितियों से क्रमबद्ध रूप से सम्बन्धित नहीं हो जाते, जिनमें कि उनका प्रयोग किया जा सके।" उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि बालक को केवल एक परिस्थिति में ही अनुशासित रहने की शिक्षा न दी जाए, बल्कि भिन्न-भिन्न समय में या परिस्थितियों में सुव्यवस्थित आचरण-व्यवहार करने के लिए प्रशिक्षण दिया जाए।

4. **सामान्य एवं विशिष्ट अंश का सिद्धान्त** (Theory of 'G' and 'S' Factor)—इस सिद्धान्त के प्रणेता मनोवैज्ञानिक **स्पीयरमैन** हैं। इनके मतानुसार प्रत्येक विषय को सीखने के लिए बालक को 'सामान्य' और विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता होती है सामान्य योग्यता या बुद्धि का प्रयोग सामान्यत: जीवन के प्रत्येक कार्य में होता है किन्तु विशिष्ट बुद्धि का प्रयोग विशेष परिस्थितियों में ही किया जाता है। सामान्य व्यक्ति को प्रत्येक परिस्थितियों में सहायता देती है। इसलिए सामान्य योग्यता या तत्व का ही स्थानान्तरण होता है, विशेष तत्व का नहीं। इतिहास,भूगोल, साहित्य आदि विषयों का सामान्य योग्यता से होता है, किन्तु चित्रकला, संगीत आदि विषयों का सम्बन्ध विशिष्ट योग्यता से है।

5. **गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों का सिद्धान्त** (Theory of Gestalt psychologists)—गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों में प्रमुखतया कोहलर आदि का नाम आता है। कोहलर आदि परिस्थितियों का पूर्णाकार रूप में प्रत्यक्षीकरण करने तथा सूझ-बूझ (Insight) का उपयोग करने पर बल देते हैं। ये मनोवैज्ञानिक अधिगम में सूझ-बूझ (Insight in Learning) को महत्त्व देते हैं। सूझ का विकास ही अधिगम है, जो एक परिस्थिति में प्रयुक्त होता है। इन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार एक परिस्थिति में प्रयुक्त अथवा विकसित सूझ का दूसरी परिस्थितियों मे प्रयोग में लाना ही अधिगम स्थानान्तरण है। व्यक्ति तो पहले और बाद की परिस्थितियों में समानता का प्रत्यक्षीकरण करता है और वह पहली परिस्थिति से प्राप्त सूझ का प्रयोग दूसरी परिस्थिति में अन्तरण कर देता है। यह स्थानान्तरण प्रत्यक्षात्मक समानता के कारण घटित होता है। समस्या समाधान में इस प्रकार का स्थानान्तरण देखा जा सकता है जिसमें व्यक्ति एक परिस्थिति में अर्जित समाधान का उपयोग दूसरी समान परिस्थिति में आयी समस्या समाधान में कर लेता है। अत: यह स्थानान्तरण उद्देश्यपूर्ण तथा सप्रयास होता है और इसके लिए अवसरों की समानता आवश्यक है। कोहलर ने चिंपांजी पर अनेक प्रयोग कर इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। बेयल्स (ठंलसमे) के मतानुसार अधिगम स्थानान्तरण के लिए तीन बातों का होना अपेक्षित है- (1) अवसरों का आना, (2) अवसर को देखना (प्रत्यक्षीकरण) तथा (3) व्यक्ति द्वारा अवसर से लाभ उठाने की प्रवृत्ति।

उपर्युक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट हो जाता है कि सीखने का स्थानान्तरण होता है। इनमें से किसी एक सिद्धान्त को प्रधानता नहीं दी जा सकती। इन सिद्धान्तों को समन्वयात्मक दृष्टिकोण से देखना अधिक उपयुक्त होगा।

3.21 अधिगम-स्थानान्तरण के प्रकार

अधिगम-स्थानान्तरण के प्रमुख छ: प्रकार हैं-

1. **सकारात्मक स्थानान्तरण** (Positive Transfer)—जब एक विषय का अधिगम दूसरे विषय के अधिगम में सहायक सिद्ध होता है तो इसे सकारात्मक स्थानान्तरण कहते हैं।

नोट

सकारात्मक स्थानान्तरण में हम यह पाते हैं कि पूर्व में प्राप्त ज्ञान,कौशल एवं अभिवृत्ति या अन्य अनुक्रियाओं का प्रभाव बाद में सीखे जाने वाले ज्ञान, कौशल एवं अभिवृत्ति या अन्य अनुक्रियाओं का प्रभाव बाद में सीखे जाने वाले ज्ञान, कौशल एवं अभिवृत्ति या अन्य अनुक्रियाओं पर सहायक रूप में पड़ता है। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति अंग्रेजी के टाइपराइटर पर टाइप करना सीख लेते हैं, वह हिन्दी के टाइप-राइटर पर टाईप करना सरलता से सीख लेते हैं। अर्थात् अंग्रेजी टाइपराइटिंग अधिगम हेतु सहायक सिद्ध होती है। सकारात्मक स्थानान्तरण के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के विचार निम्नलिखित हैं-

(i) मॉर्गन एवं किंग- "जब पहले सीखी गई कोई चीज़ एक नई परिस्थिति में कार्य या अधिगम को लाभान्वित करे तो सकारात्मक स्थानान्तरण घटित होता है।" (Positive transfer occurs when something previ- ously learned benefits Perfarmance or learning in a new situation.)

(ii) सोरेन्सन-"एक व्यक्ति स्थानान्तरण से उस सीमा तक सीखता है जिस सीमा तक एक परिस्थिति में प्राप्त योग्यताएँ दूसरी में सहायक होती हैं।" (A person learns through transfer to the extent that the abilities required in one situation help in another.) सकारात्मक स्थानान्तरण क्षैतिजीय एवं अनुलम्बीय प्रकार का होता है। इनका विवरण बिन्दु सं. 3 एवं 4 में प्रस्तुत किया गया है।

2. **नकारात्मक स्थानान्तरण** (Negative Transfer)–जब एक विषय या कौशल का अधिगम दूसरे विषय या कौशल के अधिगम में बाधक होता है या कठिनाई उत्पन्न करता है, तब उसे नकारात्मक स्थानान्तरण कहते हैं, जैसे विज्ञान के विद्यार्थी को कला विषयों (Arts) को समझने में कठिनाई का अनुभव करना। एक अन्य उदाहरण-जैसे हिन्दी का टाइपराइटर सीखने में पहले से सीखी गई अंग्रेजी टाइपराइटिंग की दक्षता या ज्ञान का अवरोध उत्पन्न करना। यह नकारात्मक स्थानान्तरण है जिसमें हम पाते हैं कि पूर्व कार्य का निष्पादन बाद के कार्य के निष्पादन में नकारात्मक स्थानान्तरण के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के विचार निम्नलिखित हैं-

(i) मॉर्गन एवं किंग- "नकारात्मक स्थानान्तरण तब घटित होता है जब पहले सीखी गई कोई चीज एक नयी परिस्थिति में कार्य या अधिगम में बाधा उत्पन्न करती है।" (Negative transfer occurs when something previously learned hinders performance or learning in a new situation.)

(ii) बोरिंग तथा अन्य-"जब एक सीखा गया कार्य दूसरे कार्य के अधिगम में कठिनाई उत्पन्न करने लगे तो हम उसे नकारात्मक स्थानान्तरण कहेंगे।" (When learning one task makes learning a second task harder we speak of negative transfer.)

नकारात्मक स्थानातरण भी क्षैतिजीय एवं अनुलम्बीय प्रकार का होता है। इनका विवरण भी बिन्दु सं. 3 एवं 4 में प्रस्तुत किया गया है। नकारात्मक स्थानांतरण की प्रकृति निम्नलिखित दो प्रकार की होती है–

1. **पूर्वलक्षी नकारात्मक स्थानान्तरण** (Retro-active Negative Transfer) जब पहले प्रकार की सीखी गई कोई चीज दूसरी प्रकार की सीखी जाने वाली चीज से दुष्प्रभावित होने या भूलने लगे तो इस स्थिति को पूर्वलक्षी नकारात्मक स्थानान्तरण कहते है। उदाहरणार्थ

नोट

दूसरी कविता को याद कर लेने के पश्चात् पहले याद की गई कविता भूल जाए या स्मृति कमजोर पड़ जाए।

2. **प्रतिलक्षी नकारात्मक स्थानान्तरण** (Pro-active Negative Transfer)–जब पहले प्रकार की सीखी गई कोई चीज दूसरी प्रकार की सीखी जाने वाली किसी चीज पर बुरा प्रभाव डालने लगे या बाधा उत्पन्न करने लगे तो इस स्थिति को प्रतिलक्षी नकारत्मक स्थानान्तरण कहते हैं। उदहारणार्थ पहली याद की गई कविता के पश्चात् यदि दूसरी कविता याद करने में बाधा उत्पन्न हो अथवा स्मृति में पहली कविता की पंक्तियाँ आ जाए।
3. **क्षैतिजीय स्थानान्तरण** (Horizontal Transfer)–क्षैतिजीय स्थानान्तरण सकारत्मक तथा नकारात्मक दोनों प्रकार का होता है। जब भिन्न प्रकार की योग्यता अथवा ज्ञान अन्य सीखी जाने वाली योग्यता अथवा ज्ञान में सहायक होता है तो उसे क्षैतिजीय स्थानान्तरण कहते हैं। यह स्थानान्तरण एक कक्षा में दो विषयों के मध्य घटित होता है। उदहारणार्थ, कक्षा 10 में एक विद्यार्थी का गणित सम्बन्धी ज्ञान का भौतिक विज्ञान के अध्ययन में सहायक होना। इस प्रकार के स्थानान्तरण को हम सकारात्मक क्षैतिजीय स्थानान्तरण कहते हैं। इसके विपरीत जब एक विषय अथवा कौशल अन्य विषय या कौशल सीखने की स्थिति में अवरोध उत्पन्न करता है तो इसे क्षैतिजीय स्थानान्तरण कहा जाएगा किन्तु यह नकारात्मक होगा। उदहारणार्थ कक्षा दस का एक विद्यार्थी जब गणित में ज्ञान अथवा कौशल अर्जित करे और यह ज्ञानार्जन हिन्दी साहित्य के ज्ञानार्जन में अवरोध उत्पन्न करे तो इस प्रकार के स्थानान्तरण को हम नकारात्मक क्षैतिजीय स्थानान्तरण कहेंगे।
4. **अनुलम्बीय स्थानान्तरण** (Vertical Transfer)-अनुलम्बीय स्थानान्तरण भी सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों प्रकार का होता है। जब एक स्थिति में अर्जित किया गया ज्ञान अथवा कौशल सम्बन्धित ज्ञान एवं कौशल अर्जित करने में आगे चलकर सहायक सिद्ध हो तो अनुलम्बीय सकारात्मक स्थनान्तरण कहेंगे। उदहारणार्थ, एक विद्यार्थी द्वारा कक्षा आठ में गणित में अर्जित किया हुआ ज्ञान कक्षा दस में गणित का ज्ञान आर्जित करने में सहायक सिद्ध हो। इसके विपरीत जब एक ही स्थिति से सम्बन्धित आर्जित ज्ञान एवं कौशल आगे चलकर उसी स्थिति से सम्बन्धित ज्ञान एवं कौशल अर्जित करने में बाधा उत्पन्न करे तो इस प्रकार के स्थनान्तरण को अनुलम्बीय नकारात्मक स्थानांतरण कहेंगे। उदहारणार्थ, कक्षा आठ के एक विद्यार्थी का साहित्यिक ज्ञान अगली कक्षा के साहित्यिक ज्ञान अर्जित करने में अवरोध उत्पन्न करे अर्थात अधिगम का पहला सोपान अधिगम के दूसरे सोपान में कठिनाई अथवा बाधा उत्पन्न करे।
5. **पार्श्विक स्थानान्तरण (Lataral Transfer)**–जब शरीर के एक अंग द्वारा अर्जित कार्यकुशलता उसी अंग की दूसरी सम्बन्धित कार्यकुशलता को प्रभावित करे तो इसे पार्श्विक स्थानान्तरण कहेंगे। उदहारणार्थ, दायें हाथ से हिन्दी लिखने की कुशलता का संस्कृत लिखने की कुशलता को प्रभवित करना।
6. **द्वि-पार्श्विक स्थानान्तरण** (Bi-lateral Transfer)–जब शरीर के द्वारा अर्जित कार्य-कुशलता दूसरे अंग की कार्य-कुशलता को प्रभावित करे तो इस प्रकार के स्थानान्तरण को द्वि-पार्श्विक स्थानान्तरण कहेंगे। उदाहरणार्थ– एक व्यक्ति दायें हाथ से लिखना सीखता है किन्तु यदि आवश्यकता पड़ जाये तो वह बायें हाथ से भी लिख सकता है, जबकि उसने हाथ से

लिखने का अभ्यास कभी न किया हो। इस स्थिति में हम देखते हैं कि दायें का कौशल बायें में स्थानान्तरित हो गया।

3.22 स्थानान्तरण की सहायक स्थितियाँ

नोट

अधोलिखित स्थितियाँ स्थानान्तरण में सहायक सिद्ध होती हैं-

1. **सामान्यीकारण** (Generalisation)–व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों के आधार पर जितना अधिक सामान्य नियम या सिद्धान्त निकालने में समर्थ होता है उतना ही अधिक उसके शिक्षण का स्थानान्तरण होता है।
2. **समझना** (Understanding)–किसी वस्तु को भली-भाँति समझने में समानता (Identity) का ज्ञान हो जाता है जिसके परिणमस्वरूप स्थानांतरण भी अधिक होता है अत: शिक्षण के स्थनान्तरण हेतु विषय को भली-भाँति आत्मसात् कर लेना श्रेयस्कर है।
3. **विषय-सामग्री पर अधिकार की मात्रा** (The degree of Mastery on Subject-Matter) –किसी विषय-वस्तु का जितना अधिक गहन अध्ययन करके निपुणता प्राप्त कर ली जाए उतना ही उस विषय का दूसरे विषय में स्थानान्तरण सम्भव होता है।
4. **सप्रयत्नशीलता** (Deleberation)–यदि व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों को रखते हुए प्रयासपूर्वक एवं पूर्ण शिक्षण-विधियों के द्वारा नवीन परिस्थितियों को समझने का प्रयत्न करता है तो शिक्षण का स्थानान्तरण होता है।
5. **स्थानान्तरित होने वाली विषय-वस्तु के प्रति मनोवृत्ति** (Attitude to towards the material of transfer)–स्थानान्तरित होने वाली विषय-वस्तु के प्रति व्यक्ति की अनुकूल मनोवृत्ति धनात्मक स्थानान्तरण में सहायक होती है।
6. **शिक्षण-पद्धति** (Method of teaching)–उपर्युक्त शिक्षण-विधि भी शिक्षण के स्थानान्तरण में सहायता प्रदान करती है।

3.23 अधिगम स्थानान्तरण का शिक्षा में महत्त्व

शैक्षिक निहितार्थ-शिक्षा में स्थानान्तरण सीखने की क्रिया पर प्रभाव डालता है। शिक्षा में अधिगम के स्थानान्तरण के लिए निम्नांकित बातों पर ध्यान देना चाहिए-

1. **स्थानान्तरण एवं पाठ्यक्रम**-स्थानान्तरण का सबसे अधिक महत्त्व पाठ्यक्रम निर्माण के लिए है। बालकों के लिए अनुशासन के लिए अनुकूल पाठ्यक्रम बनाया जाए अर्थात् उसमें इस प्रकार के विषयों का समावेश हो, जो उपयोगी हो तथा दैनिक जीवन की समस्याओं से सम्बन्धित हो। पाठ्यक्रम का स्वरूप व्यावहारिक होना चाहिए। थॉमसन का विचार है-"पाठ्यवस्तु में अधिक-से-अधिक विषयों का रहना लाभप्रद है। विषय जितने अधिक रहें, विद्यार्थी में उतनी ही अधिक जीवनोपयोगी योग्यता भी आयेगी।"
2. **स्थानान्तरण और शिक्षण-विधि**-शिक्षक को सकारात्मक स्थानान्तरण के लिए उपयुक्त विधि से शिक्षा देनी चाहिए। उसे इस प्रकार शिक्षा दी जाए, जिससे वह एक क्रिया या विषय में प्राप्त ज्ञान का दूसरे विषय के सीखने में प्रयोग कर सके। बालकों को आवश्यकतानुसार स्थानान्तरण के लिए निर्देश भी देना चाहिए। एक विषय के ज्ञान का दूसरे विषय के ज्ञान

नोट

में स्थानान्तरण के लिए बालकों को विषय से सम्बन्धित समान तत्वों को बता देना चाहिए। इसके लिए साहचर्य के नियमों पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। स्थानान्तरण की सफलता के लिए शिक्षक को अपने शिक्षण को अधिक रोचक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

3. **सामान्यीकरण**–शिक्षक को पढ़ाते समय ऐसी शिक्षण-विधि का पालन करना चाहिये, जिससे बालक स्वयं विषय से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्त निकाल सके। सामान्यीकरण के लिए बालक को स्वयं अवसर प्रदान करना चाहिए। उसमें बार-बार हस्तक्षेप न करना चाहिए। सामान्यीकरण करने की योग्यता का विकास होने पर बालक नवीन परिस्थिति में शीघ्र उसका उपयोग कर लेता है। इस सम्बन्ध में हांड्रिक्स (भ्ंदकतपग) महोदय का कहना है-"जो बालक यह जानता है कि 6 को 8 बार कहने से 48 हो जाता है, तो वह कमरे में 6 और 8 की कतारों में रखी कुर्सियों को शीघ्र ही 48 बता सकता है" अतः अध्यापक को चाहिए कि वह जो कुछ भी पढ़ाये वह सामान्यीकरण के आधार पर ही पढ़ाये। इससे स्थानान्तरण की सम्भावना अधिक होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अधिगम की क्रिया में स्थानान्तरण का बहुत महत्त्व है। इस कार्य में शिक्षक को उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य निम्नांकित बातों का ध्यान रखना चाहिए-

1. शिक्षक को विषय का स्पष्ट ज्ञान देना चाहिए।
2. बालक की मानसिक योग्यता और वैयक्तिक विविधता के अनुसार पाठ्य-विषयों का एवं शिक्षण-विधियों का चयन करना तथा स्थानान्तरण के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करनी चाहिए।
3. शिक्षक को पढ़ाते समय शिक्षा में सह-सम्बन्ध के सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए। नवीन ज्ञान को पूर्व ज्ञान से सम्बन्धित करके पढ़ाना चाहिए। शिक्षण के समय पाठ्य-विषय में आने वाले समान तथ्यों को दूसरे विषयों के तथ्यों में जो समानता हो, उसे अवश्य बताना चाहिए। इस विधि से प्रशिक्षण का स्थानान्तरण होता है।
4. स्थानान्तरण की सफलता के लिए चिन्तन-शक्ति का विकास तथा अध्ययन के प्रति रुचि जाग्रत करना चाहिए। बालक को सदा ज्ञानार्जन के लिए प्रेरणा प्रदान करनी चाहिए।
5. शिक्षक बालकों को सदा इस बात के लिए प्रोत्साहित करें कि उन्हें जो भी ज्ञान या शिक्षा दी गई है, उसका वे सामान्य जीवन में उपयोग करें। प्राप्त ज्ञान का विभिन्न क्षेत्रों में उपयोग करने से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने की योग्यता का विकास होता है। इस प्रकार वे भावी जीवन की परिस्थितियों के साथ अपने को समायोजित करने में सफल होते हैं।

3.24 अभिप्रेरणा का स्वरूप एवं परिभाषा

अंग्रेजी शब्द Motivation की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के Motum शब्द से हुई है Move, Motor तथा Motion अभिप्रेरणा के साधारण और शाब्दिक अर्थ के अनुसार हम किसी भी उत्तेजना को प्रेरणा कह सकते हैं, जिसके कारण व्यक्ति कोई प्रतिक्रिया या व्यवहार करता है। इस प्रकार की उत्तेजना आन्तरिक या बाह्य दोनों हो सकती है। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरणा एक आन्तरिक शक्ति है, जिसमें व्यक्ति अपने अन्दर से किसी कार्य को करने के लिए अभिप्रेरित (Motivated) होता है। इस प्रकार प्रेरणा को प्राणी के शरीर यंत्र की चालक शक्ति कहा जा सकता है, जो व्यक्ति

को व्यवहार करने के लिए प्रेरणा देती है। अभिप्रेरणा शब्द के मनोवैज्ञानिक अर्थ को स्पष्ट करने के लिए निम्नांकित परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं-

नोट

1. **वुडवर्थ (Woodworth) के अनुसार**- निष्पत्ति (Achievement) = योग्यता, (Ability) अभिप्रेरणा (Motivation)। अर्थात् योग्यता . अभिप्रेरणा से निष्पत्ति प्राप्त होती है। व्यक्ति की योग्यता, प्रेरणा पाकर ही विकसित होती है। इस प्रकार की योग्यता और प्रेरणा द्वारा ही निष्पत्ति (Achievement) सम्भव है।
2. **लॉवेल के अनुसार**- "अभिप्रेरणा एक ऐसी मनोवैज्ञानिक या आन्तरिक प्रक्रिया है जो किसी आवश्यकता की उपस्थिति में उत्पन्न होती है। यह ऐसी क्रिया की ओर गतिशील होती है जो उस आवश्यकता को सन्तुष्ट करेगी।" (Motivation may be defined more formally as a psychopysiological or internal procss, initiated by some need, which leads to an activity which will satisfy that need.)
3. **गुड के अनुसार**- "प्रेरणा कार्य को आरम्भ करने, जारी रखने और नियमित करने की प्रक्रिया है।" (Motivation is the process of arousing sustaining and regulation activity.)
4. **ब्लेयर, जॉन्स और सिम्पसन के अनुसार**- "प्रेरणा एक प्रक्रिया है, जिसमें सीखने वाले की आन्तरिक शक्तियाँ या आवश्यकताएँ उसके वातावरण में विभिन्न लक्ष्यों की ओर निर्देशित होती है।" (Motivation is a process in which the learner's internal enternal energies or needs are directed to-wards various goal objects in his environment.)
5. **पी. टी. यंग के अनुसार**- "प्रेरणा व्यवहार को जाग्रत करने, क्रिया के विकास को सम्प्रेषित करने और क्रिया के तरीकों को नियमित करने की प्रक्रिया है।" (Motivation is the process of arousing action, sustaining the activities in progress and regulating the pattern of activity.)

उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करने पर अभिप्रेरणा के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें स्पष्ट होती हैं-

1. अभिप्रेरणा एक मनो-शारीरिक या आन्तरिक प्रक्रिया या अवस्था है।
2. अभिप्रेरित क्रिया किसी आवश्यकता के कारण उत्पन्न होती है।
3. अभिप्रेरित प्रक्रिया किसी खास क्रिया (Activity) को करने या दिशा (Direction) की ओर ले जाती है।
4. यह क्रिया उद्देश्य की प्राप्ति तक जारी रहती है।

मनोवैज्ञानिक अर्थ में अभिप्रेरणा का अर्थ आन्तरिक उत्तेजकों से होता है, जिसके फलस्वरूप हम कोई कार्य या व्यवहार करते हैं। बाह्य उत्तेजना को मनोवैज्ञानिकों ने प्रेरणा के अन्तर्गत नहीं सम्मिलित किया है। उदाहरणार्थ भूख

एक ऐसी आन्तरिक उत्तेजना है, जिसके फलस्वरूप हम खाना खाने के लिए प्रेरित हो सकते हैं, अतः भूख को प्ररेणा कहा जा सकता है। एक व्यक्ति खाने की थाली देखकर खाने के लिए प्रेरित हो सकता है। यहाँ थाली एक बाह्य उत्तेजना है किन्तु खाने का कार्य प्रेरित नहीं हुआ। व्यक्ति खाना तब तक नहीं खायेगा जब तक उसे आन्तरिक उत्तेजना नहीं मिलती। अतः हम कह सकते हैं कि आन्तरिक उत्तेजना जो व्यक्ति को कोई कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करती है, प्रेरणा

कहलाती है। प्रेरणा में प्रेरक का महत्त्व अधिक है अत: प्रेरक के अर्थ एवं परिभाषा पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

प्रेरक– अर्थ एवं परिभाषा

नोट

प्रेरक का अर्थ- मानव के प्रत्येक कार्य और व्यवहार के जन्मजात, स्वाभाविक और अर्जित प्रवृत्तियाँ छिपी होती हैं। ये ही व्यवहार को प्रेरणा देती हैं इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने इसे प्रेरणा या प्रेरक (Motive) कहा है। अत: हम कह सकते हैं कि मानव-व्यवहार के मूल में प्रेरक वृत्ति विद्यमान रहती है जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति कार्य करता है।

मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गई परिभाषाओं से और प्रेरक (Mtoive) शब्दों को समझ लेना चाहिए। प्रेरणा एक मानसिक स्थिति (Mental Set) है और प्रेरक व्यक्ति को एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने के लिए प्रेरणा के कारक (Factors) होते हैं। अत: हम कह सकते हैं कि प्रेरणा स्थिति बताती है और प्रेरक उसके कारण स्वरूप होते हैं।

प्रेरक की परिभाषा- प्रेरक की अवधारणा समझाने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने प्रेरक की परिभाषाएँ निम्नलिखित रूप में दी हैं-

1. **शेफर तथा अन्य**-"प्रेरक क्रिया की एक ऐसी प्रवृत्ति है जो अन्तर्नोद (Drive) में उत्पन्न होती है तथा अनुकूलन द्वारा समाप्त होती है।" (A motive may now be defined as a tendency to activity initiated by a drive and concluded by an adjustment.)

   यह परिभाषा एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट हो जाती है-भूख की अवस्था में पेट की दीवारों में संकुचन (Contraction) होता है, व्यक्ति अपने अन्दर तनाव का अनुभव करता है, और इस तनावपूर्ण स्थिति से छुटकारा प्राप्त करने के लिए वह खाद्य-पदार्थों की खोज करता है। उसकी खोज तब जारी रहती है जब तक वह खाने की वस्तु को प्राप्त करके अपनी भूख मिटा नहीं लेता। इस उदाहरण में भूख की स्थिति अथवा अवस्था यहाँ पर प्रेरणा है और यह भूख की स्थिति जिस कारण से उत्पन्न होती है उसे भूख या प्रेरक (Hunger Motive) कहते हैं। इस प्रकार प्रेरक प्रवृत्ति के कार्य होते हैं-

   (1) क्रिया उत्पन्न करना, (2) उसे जारी रखना, (3) जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाए उसे बराबर एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर करते रहना।

   उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार भूख अन्तर्नोद (Hunger-Drive) से खाने की प्रेरणा मिलती है। खाना पेट में पहुँच जाने पर भूख आन्तर्नोद समाप्त हो जाता है और खाने की प्रेरक वृत्ति या प्रेरणा का अन्तर हो जाता है। 'प्रेरक' एक व्यापक शब्द है जिसके अन्तर्गत आवश्यकता, अन्तर्नोद और उद्दीपन सभी आ जाते हैं।

2. **गेट्स व अन्य**-"प्रेरकों के विभिन्न स्वरूप हैं और इनको विभिन्न नामों से पुकारा जाता है- जैसे आवश्यकताएँ, इच्छाएँ, तनाव, स्वाभाविक स्थितियाँ, निर्धारित प्रवृत्तियाँ, रुचियाँ, स्थायी उद्दीपक और इसी प्रकार के अन्य नाम।" (Motives takes a variety of forms and are designated by many different terms, such needs, desires, tensions, sets, determining tendencies, attitudes, interest, persisting stimuli and soon.)
3. **वुडवर्थ**- "प्रेरक व्यक्ति की वह अवस्था या तत्परता है जो कि उसे किसी व्यवहार को करने के लिए एवं किन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने के निर्देशित करता है।" (A motive is a state or set of the individual which desposes him for certain behaviour and

seeking certain goals.'')

4. **मैक्डूगल**-"प्रेरणाएँ प्राणी की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आन्तर्दशाएँ हैं जो उसे निश्चित तरीकों से क्रिया करने में प्रवृत्त करती हैं।" (Motives are conditions physiological and psychological within the organism that dispose it to act in certain ways.)
5. **गिलफोर्ड**- "प्रेरक कोई एक विशेष आन्तरिक कारक या दशा है, जो किसी क्रिया को आरम्भ करने और बनाये रखने को प्रवृत्त होता है।" (A motive is any particular internal factor or condition that tends to initiate and to sustain activity.)
6. **जे. ड्रेवर**- "प्रेरक एक ऐसा प्रभावशाली क्रियात्मक कारक है, जो व्यक्ति के चेतना या अचेतन रूप से निर्धारित लक्ष्य या उद्देश्यों की पूर्ती की ओर ले जाने और व्यवहारों की दशा निश्चित करने का कार्य करता है।" (Motive is an effective-conative factor which operates in determining the direction of an individual,s behaviour towards an end or goal, consciously apprehended or unconsicous.)
7. **थॉमसन**- "प्रेरक एक भावात्मक क्रियात्मक तत्व है जो चेतना रूप से सोचे या अचेतन अवस्था में व्यवहार की दिशा सुनिश्चित करने के लिए कार्य करता है।" (Motive is an effective-conative factor which operates in determining the direction of an individual's behaviour towarks an end or goal, consciously apprehended or unconscious.)

नोट

प्रेरणा के पक्ष

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रेरणा का आरम्भ किसी-न-किसी आवश्यकता (need) से होता है और प्रेरणा का अन्त लक्ष्य की प्राप्ति से होता है। प्रेरणा एक व्यापक शब्द होता है, जिसके अग्रलिखित तीन पक्ष होते हैं-

1. आवश्यकता (Need), 2. अन्तर्नोद (Drive), 3. उद्दीपन (Incentive)

1. **आवश्यकता** (Need)–प्रत्येक प्राणी के जीवन को बनाए रखने के लिए उसकी कुछ मौलिक आवश्यकताएँ होती हैं, जिसकी पूर्ति होना आवश्यक है। जैसे-जल, वायु, भोजन, निद्रा आदि आवश्यकताओं की पूर्ति होना आवश्यकता है। यदि ये शारीरिक आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होतीं तो प्राणी के शरीर में तनाव या असंतुलन पैदा हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह क्रियाशील हो उठता है। उदहारणार्थ, भूख लगने पर एक व्यक्ति में तनाव और क्रियाशीलता तब तक बनी रहती है,जब तक उसे भोजन नहीं मिलता। भोजन मिल जाने पर उसकी आवश्यकता पूरी हो जाती है और उसका तनाव और क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है। बोरिंग और लैंगफील्ड ने आवश्यकता की परिभाषा देते हुए कहा है- "आवश्यकताएँ प्राणियों के भीतर का तनाव हैं, जो कुछ उद्दीपनों (प्रोत्साहनों) या लक्ष्यों के सम्बन्ध में प्राणी के क्षेत्र को व्यवस्थित करने में प्रवृत्त करती हैं, जो उनकी प्राप्ति की ओर निर्देशित क्रिया को उत्तेजित करती हैं।" (A need is tension within an organism which tends to organise the field or organism with respect to certain incentives of goals and incite activity Dircted towards their attainment.)

   इसी प्रकार अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी आवश्यकता को एक ऐसी दशा कहा है, जो किसी चीज की कमी या अभाव में अनुभव की जाती है। इस कमी को पूरा करने के लिए ही मनुष्य क्रियाशील रहता है। जैसे भोज्य पदार्थ की कमी को पूरा करने के लिए वह

नोट

भोजन प्राप्त करने की चेष्टा करता है, पानी की पूर्ति करने के लिए वह पानी खोजता है। यहाँ पर भोज्य पदार्थ की कमी तथा पानी का अभाव क्रमशः भोजन तथा पानी की आवश्यकताएँ हैं।

2. **आन्तर्नोद** (drive)–प्राणी की आवश्यकता के कारण जो तनाव की अवस्था उत्पन्न होती है, उसे आन्तर्नोद या चालन कहते हैं। इस प्रकार आवश्यकता से अन्तर्नोद की उत्पत्ति होती है- जैसे जल की आवश्यकता से प्यास-चालक, भोजन की आवश्यकता से भूख-अन्तर्नोद (Hunger-drive) की उत्पत्ति होती है। भूख लगना,प्यास लगना एक आन्तरिक उत्तेजना है, जो व्यक्ति में तनाव पैदा करते हैं। भूख मिटाने और प्यास बुझाने के लिए व्यक्ति क्रिया करता है। इस प्रकार क्रिया करने के लिए प्रेरित करना अन्तर्नोद या चालन की मुख्य विशेषता है। अन्तर्नोद की परिभाषा मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रकार दी है-

   डेशियल-"आन्तर्नोद आदि शक्ति का मूल-स्रोत है जो मानव-वाणी को क्रियाशील बनाती है।" (Drive is original source of energy that activates the human organism.)

   शेफर तथा अन्य के अनुसार-''अन्तर्नोद एक सुदृढ़ तथा अचल उत्तेजक है, जो किसी समायोजन की अनुक्रिया की माँग करता है।" (A drive is a strong persistent,stimulus that demands an adjustive response.)

3. **उद्दीपन** (Incentive)–उद्दीपन बाह्य वातावरण की वस्तु है जो आवश्यकता (need) की पूर्ति करके, अन्तर्नोद या चालकों (Drives) की सन्तुष्टि करती है। उदहारणार्थ- भूख एक अन्तर्नोद है जिसे कि भोजन संतुष्ट करता है। इस प्रकार 'भूख चालन' (Hunger Drive) के लिए भोजन प्रोत्सहान या उद्दीपन (Incentive) है। हिलगार्ड के अनुसार- "उपयुक्त उद्दीपन की प्राप्ति से अन्तर्नोद की तीव्रता कम हो जाती है और व्यक्ति का मानसिक तनाव दूर हो जाता है।" (In general,an appropriate incentive is one that can reduce the intensity of a drive.)

आवश्यकता और अन्तर्नोद से व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था का बोध होता है, जबकि उद्दीपन बाह्य वातावरण में विद्यमान (उपस्थित) रहता है। **बोरिंग** और **लैंगफील्ड** के शब्दों में, "प्रोत्सहान या उद्दीपन की परिभाषा एक वस्तु, एक स्थिति, या एक क्रिया के रूप में की जा सकती है जो व्यवहार को उद्दीप्त करती है, कायम रखती है और निर्देशित करती है।" (An incentive may be defined as an objecet, a situation or an activity which excites, maintains and directs behaviour.)

आवश्यकता, अन्तर्नोद तथा उद्दीपन में सम्बन्ध

प्रेरणा के इन तीनों अंगों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। **हिलगार्ड** (Hillgard) ने प्रेरणा की आवश्यकता, अन्तर्नोद-उद्दीपन सूत्र (Need Drive Incentive Formula) द्वारा स्पष्ट किया है। यह सूत्र किस प्रकार कार्य करता रहता है, यह इन तीनों का अर्थ समझ लेने के बाद भली-भाँति स्पष्ट हो गया। हिलगार्ड ने इन तीनों के घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में लिखा है-"आवश्यकता, अन्तर्नोद को जन्म देती है। अन्तर्नोद बढ़े हुए तनाव की स्थिति है, जो कि क्रियाशीलता और प्रारिम्भक व्यवहार की ओर ले जाती है। उद्दीपन वातावरण की कोई वस्तु है, जो आवश्यकता को सन्तुष्ट करती है। इस प्रकार तृप्ति की क्रिया से अन्तर्नोद के तनाव को कम कर देती है।" (Need gives rise to Drive state is a Drive of heightened tension leading to activity and preparatory behaviour. The incentive is something in the external environment that satisfies the need and thus

reduces the drive throgh consummatory activity.)

3.25 अभिप्रेरणाओं की उत्पत्ति

नोट

मनुष्य का विकास परिपक्वन (Maturation), अभ्यास और सीखने की क्रिया पर निर्भर होता है। यही तत्व उसकी प्रेरणा की उत्पत्ति से सम्बन्धित है। कुछ कार्य प्राणी बिना सीखे परिपक्वन के कारण कर लेता है। इस प्रकार कुछ प्रेरणाओं की उत्पत्ति प्राकृतिक रूप से होती है। दूसरे प्रकार की प्रेरणाओं की उत्पत्ति अनुभवों और प्रयत्नों से होती है। ये सीखी हुई या आर्जित प्रेरणाएँ होती हैं। उदाहरणार्थ नवजात शिशु को भूख लगना एक ऐसी प्रेरणा है जो स्वाभाविक और बिना सीखी हुई है। भूख में आन्तरिक तनाव होता है। वास्तव में यह तनाव किसी कमी के कारण होता है। प्राण ी इस तनाव का अनुभव करके उसे दूर करने का प्रयत्न करता है, फलस्वरूप प्रेरणा की उत्पत्ति होती है। "प्रेरणा की उत्पत्ति आन्तरिक तनाव के कारण होती है।" वयस्क-व्यक्ति की प्रेरणा कुछ अंश में मूल प्रवृत्यात्मक (Instinctive) और कुछ अंश में आर्जित या सीखी हुई होती है।

मनुष्य जिस सामाजिक पर्यावरण में रहता है उसमें उसे समाज, उसकी संस्कृति, नियमों और परम्पराओं के अनुसार व्यवहार करना सीखता है।

इस प्रकार प्रेरणा की उत्पत्ति का सम्बन्ध-(1) परिपक्वन, (2) आवश्यकता तथा आन्तरिक तनाव, और (3) पर्यावरण से है।

3.26 अभिप्रेरणाओं का विकास

अभिप्रेरणा का विकास धीरे-धीरे, आयु, अनुभव और आवश्यकताओं की वृद्धि एवं विकास के अनुसार होता है। प्रारम्भ में यह विकास केवल शारीरिक (Physiological) होता है और क्रमशः वह मानसिक या मनोवज्ञानिक (Psychological) हो जाता है। जन्म के समय मनुष्य की कुछ प्राकृतिक आवश्यकताएँ होती हैं। प्रारम्भ में उसे भूख, प्यास, मल-मूत्र विसर्जन की आवश्यकता के कारण क्रिया तथा व्यवहार के कारण की प्रेरणा मिलती है और वह रोता या चिल्लाता है। धीरे-धीरे आयु और बढ़ने के साथ वह वातावरण पर नियंत्रण करना सीखता है, फलस्वरूप उसकी प्रेरणाओं के प्रति, उसके व्यवहार में अन्तर आता रहता है, बाल्यावस्था में मूल प्रवृत्ति और संवेगों के कारण बालक दूसरों से मिलने-जुलने और खेलने में आनन्द प्राप्त करता है। अतः इस आनन्द-प्राप्ति के लिए उसे विशेष प्रकार व्यवहार करने की प्रेरणा मिलती है। इसी प्रकार किशोरावस्था में भी अपनी आयु के विकास और विशेषताओं के फलस्वरूप शारीरिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यताओं को पूरा करने के लिए प्रेरक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं और प्रेरणाओं का विकास क्रमशः होता है।

3.27 अभिप्रेरणा के कारण

अभिप्रेरणा के निम्नलिखित दो कारण हैं-

(1) स्वाभाविक कारण।

(2) आर्जित कारण।

1. स्वाभाविक कारण निम्नलिखित हैं-

(क) जीवित रहने की इच्छा से सम्बन्धित क्रियाएँ-जैसे भूख,प्यास आदि।

नोट

(ख) आत्मरक्षा की भावना।

(ग) सुख और आनन्द प्राप्त करने की भावना।

(घ) कष्ट-निवारण की भावना।

(ङ) प्रेम भावना (काम)।

(च) संवेग, मूल प्रवृत्तियाँ, विचार आदि।

(छ) इच्छा शक्ति।

(ज) अचेतन मन।

2. आर्जित कारण निम्नलिखित हैं-

(क) सामाजिक आदर्श, स्थिति, सम्बन्ध और वातावरण।

(ख) आदत, संस्कार, रुचि।

(ग) स्थायीभाव, भावना-ग्रंथियाँ।

(घ) सांस्कृतिक एवं सामाजिक उपलब्धियाँ जैसे– विचार, भावना, शिक्षा।

3. "प्रेरक एक प्रभावशाली क्रियात्मक कारक है जो व्यक्ति के चेतना या अचेतन रूप से निर्धारित लक्ष्य या उद्देश्य की ओर ले जाने और व्यवहार की दशा निश्चित करने का कार्य है।" 'प्रेरक' की यह परिभाषा किसने दी है–

(क) ड्रेवर (Drever) (ख) थॉमसन (Thomson) (ग) गिलफोर्ड (Guilford)

अभिप्रेरणा के कार्य

गेट्स (Gates) के विचार के अनुसार प्राणी के प्रेरित व्यवहार के आधार पर आभिप्रेरणाओं के निम्नलिखत तीन प्रकार हैं-

1. **व्यवहार को शक्तिवान बनाना**-अभिप्रेरणाएँ किसी कार्य हेतु व्यक्ति को शक्ति प्रदान करती हैं जिससे उसके अन्दर क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ भूख या प्यास व्यक्ति के अन्दर मांसपेशीय तथा ग्रन्थीय प्रतिक्रिया को उत्पन्न करती हैं। मांसपेशियाँ और ग्रन्थियों के अन्त:स्राव व्यक्ति को ऐसी शारीरिक शक्ति प्रदान करती हैं कि वह क्रियाशील हो जाता है इसके अतिरिक्त अभिप्रेरणाएँ व्यक्ति के व्यवहार को दीर्घावधि के लिए स्थायित्व प्रदान करती हैं। **हेब** (Hebb) ने अपने अध्ययन से निष्कर्ष निकाला है कि अभिप्रेरित व्यवहार दक्षतापूर्ण तथा संगत होते हैं। पर्याप्त अभिप्रेरणा के अभाव में कार्य करने की शक्ति में कमी आ जाती है।

2. **व्यवहार का चयन करना**-अभिप्रेरणाएँ व्यक्ति को चयनित व्यवहार करने की क्षमता प्रदान करती हैं। प्रेरित व्यवहार एक विशिष्ट दिशा में संचालित होता है। अनेक सम्भावित व्यवहारों में से व्यक्ति उन उपयोगी व्यवहार का चयन करता है जिससे वह लक्ष्य की प्राप्ति कर सके अथवा आवश्यकता को सन्तुष्ट कर सके। अर्थात अभिप्रेरणाएँ व्यक्ति को किसी उत्तेजना विशेष के प्रति प्रतिक्रिया करने को तैयार करती हैं। अभिप्रेरणाएँ यह भी बताती हैं कि व्यक्ति किस अवस्था अथवा परिस्थिति में कैसा व्यवहार करे।

3. **व्यवहार को संचालित करना**-अभिप्रेरणाएँ व्यवहार को संचालित करने का कार्य करती हैं। वे व्यवहार का संचालन इस प्रकार करती हैं कि व्यवहार की दिशा संतुष्टि की ओर हो। यद्यपि लक्षित कार्य की तारतम्यता एवं परिस्थितियों की बाधापूर्ण संरचना के कारण प्रेरित व्यवहार का संचालन कठिन हो जाता है किन्तु अभिप्रेरणा की तीव्रता व्यक्ति के

व्यवहार की तारतम्यता को बनाए रखती है और लक्ष्य पूर्ति के लिए संघर्ष में सफलता प्राप्त करने की दिशा में मार्ग-दर्शन करती है। एसी दशा में इस बात की आपेक्षा रहती है कि व्यक्ति का व्यवहार निर्धारित उद्देश्य प्राप्ति के पक्ष में हो तथा वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग उसी के लिए करे।

नोट

3.28 गैने द्वारा दिये गये अधिगम के प्रकार

आधुनिक अनुदेशन सिद्धान्तों का जनक राबर्ट गेने को माना जाता हैं। जिन्होने सर्वप्रथम अपने विचार रखे बाद में ब्रूनर तथा कारौल ने गेने के विचारों से सहमत होकर अपने-अपने सिद्धान्त विकसित किये। राबर्ट एम. गेने अधिगम के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए अधिगम के विभिन्न सिद्धान्तों के विश्लेषण को पर्याप्त नहीं समझते हैं उनके अनुसार कोई भी सिद्धान्त अधिगम की प्रक्रिया का पूर्ण समाधान करने में असमर्थ है।

वस्तुतः अधिगम के स्वरूप को वास्तविक रूप से समझने के लिए हमें अधिगम परिस्थितियों का निरीक्षण, परीक्षण एवं उनकी व्याख्या करनी पड़ेगी। साथ ही इनका यह भी तात्पर्य हैं कि किसी एक प्रकार के व्यवहार के अधिगम के लिए पूर्व आवश्यकताओं की आवश्यकता होती हैं।

इस प्रकार गेने द्वारा वर्णित आठ अधिगम प्रकारों को एक-दूसरे की परम आवश्यकता हैं अर्थात यदि अधिगम के दूसरे प्रकार की जानकारी प्राप्त करनी है तो अधिगम के पहले प्रकार (परिस्थिति) का ज्ञान अपेक्षित हैं। दूसरे शब्दों में इसको यह भी कहा जा सकता है। प्रत्येक नवीन अधिगम के पूर्व उससे निम्न स्तर वाला अधिगम आवश्यक है और यही इस स्तर के अधिगम की पूर्वापेक्षित योग्यता होती है अधिगम के दौरान अधिगमकर्ता (विद्यार्थी) कोई नया अन्तिम व्यवहार उस समय तक अर्जित नहीं कर सकता हैं जब तक कि वह पूर्वापेक्षित योग्यताएँ विकसित नहीं कर लेता हैं जब तक कि वह पूर्वापेक्षित योग्यताएँ विकसित नहीं कर लेता। उदाहरण के लिए 'बोध उद्देश्य' के लिए ज्ञान उद्देश्य की पूर्ण आवश्यकता होती हैं। गेने ने अधिगम के निम्नाकिंत आठ प्रकारों परिस्थितियों की व्याख्या की हैं इनको मौलिक रूप से अधिगम सिद्धान्तों से लिया गया हैं।

1. **संकेत अधिगम** — यह अधिगम परिस्थितियों की श्रृंखला में अधिगम का प्रथम प्रकार हैं इस प्रक्रिया में केवल संकेत मात्र से ही अधिगम कराया जाता हैं संकेत अधिगम पावलव द्वारा प्रस्तुत शास्त्रीय अनुबंधन पर आधारित होता हैं जिसमें प्राणी एक संकेत के प्रति प्रतिक्रियाए करना सीखता हैं।
2. **उद्दीपक-अनुक्रिया अधिगम** — थार्नडाइक के सम्बन्धवाद तथा स्किनर के विभेदीकृत कार्यात्म पर आधारित अधिगम का रूप है। गेने ने थार्नडाइक के प्रयास एवं मूल अधिगम तथा स्किनर के कार्य अनुबन्धन अधिगम को इस वर्ग के अन्तर्गत रखा इस प्रकार के अधिगम में प्राणी को एक विशिष्ट अधिगम वातावरण में रखा जाता हैं प्राणी के लिए वह वातावरण उद्दीपक का कार्य करता हैं फलतः वह प्रतिक्रियाएं करता हैं सही प्रतिक्रियाओं की पुष्टि करके ही स्थिरीकरण किया जाता हैं इससे प्राणी के अधिगम को स्थायित्व मिलता हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता हैं कि किसी उद्दीपक की उपस्थिति से जब किसी अनुक्रिया का होना सम्भव हो जाए तो वहां हम उद्दीपक अनुक्रिया अधिगम की परिस्थिति कहेगें।

   इस अधिगम के द्वारा छोटे बच्चों को शब्दोच्चारण सिखाया जा सकता हैं इसके अतिरिक्त कई अन्य क्रियाओं जैसे उसके आचरण, भय आदि को सकारात्मक पुनर्बलन देकर हटाया जा सकता हैं।
3. **श्रृंखला अधिगम** — प्राणी जब संकेत अधिगम एवं उद्दीपक अनुक्रिया सम्बन्ध अधिगम से पूर्ण रूप से परिचित हो जाता हैं तभी श्रृंखला अधिगम की प्रक्रिया प्रारम्भ की जा सकती है स्किनर ने भी इस प्रकार के अधिगम की व्याख्या की है इसमें उद्दीपक अनुक्रिया को लगातार एक क्रम से उपस्थित किया जाता हैं जिससे ''श्रृंखला अधिगम की स्थिति उत्पन्न होती हैं''।

गेने ने दो प्रकार के शृंखला अधिगम की व्याख्या की हैं। पहली हैं शाब्दिक शृंखला अधिगम तथा दूसरा अशाब्दिक शृंखला अधिगम। शिक्षा के क्षेत्र में बहुत से शिक्षण प्रतिमानों में शाब्दिक अधिगम की ही परिस्थिति उत्पन्न की जाती हैं जैसे अभिक्रमित अनुदेशन में शाब्दिक शृंखला की परिस्थिति उत्पन्न कर सीमाओं को तार्किक क्रम में प्रस्तुत किया जाता हैं। अशाब्दिक शृंखला अधिगम हेतु चित्रों व अन्य दृश्य साधनों का प्रयोग किया जाता हैं।

4. **शाब्दिक साहचर्य अधिगम** — अधिगम परिस्थिति का यह प्रकार शृंखला अधिगम का ही एक प्रकार हैं जब यह शृंखला शारीरिक क्रियाओं यान्त्रिक क्रियाओं अथवा अशाब्दिक रूप में प्रस्तुत होती हैं तो उन्हें अशाब्दिक श्रृंखला अधिगम कहते हैं। यही शृंखला जब शाब्दिक अवयवों सम्बन्धी हो जाती है तो हमे उन्हें वाचिक शृंखला अधिगम परिस्थिति कहते हैं।

   गेने के अनुसार- ''लम्बी शृंखलाओं को छोटी-छोटी इकाइयों में तोड़कर अधिगम को अधिक सफल व प्रभावी बनाया जा सकता हैं। यहां यह ध्यान देने की बात हैं कि विषयवस्तु से परिचित होने पर तात्कालिक स्मृति का विस्तार बढ़ता हैं तथा पूर्व अधिगम से समायोजित एवं संगठित होती हैं'' अण्डरवुड (1964) ने इस अधिगम परिस्थिति को मानव अधिगम प्रक्रिया में अधिक महत्त्वपूर्ण माना हैं विशेष रूप से भाषा अधिगम के लिए यह परिस्थिति अत्यन्त ही अनुकूल हैं।

5. **विभेद अधिगम** — इस अधिगम प्रक्रिया के लिए वाचिक तथा अवाचिक शृंखला अधिगम पूर्व ज्ञान का काम करते हैं इस प्रकार के अधिगम में उच्च स्तरीय मानसिक प्रक्रिया सम्मिलित होती हैं। विभेद अधिगम के अन्तर्गत किसी विशेष परिस्थिति पर प्राप्त विभिन्न उत्तेजनाओं को पहचानकर उसमें विभेदकर किसी विशिष्ट उत्तेजना हेतु अनुक्रिया की जाती हैं। इसमें शिक्षक छात्रों में ऐसी क्षमता उत्पन्न करने का प्रयास करता हैं जिससे कि वह दो शृंखलाओं का भेद कर सके। इस विभेदीकरण की क्षमता का अर्जन बालक में प्रारम्भिक अवस्था से ही प्रारम्भ हो जाता हैं। इसका महत्त्व बालक के दैनिक जीवन में अधिक हैं। बालक अपने दैनिक जीवन में विभिन्न अंगो में भेद करता हैं यथा - रंगो में, आकार में, बनावट में दूरी में आदि। इस विभेद करने में बालक को मानसिक प्रक्रिया के एक प्रारूप से गुजरना पड़ता हैं यह सरल प्रक्रिया नहीं हैं।

6. **सम्प्रत्यय अधिगम** — इस अधिगम परिस्थिति के लिए भेदीय अधिगम का ज्ञान पूर्ण आवश्यक है। केन्डलर (1964) ने सर्वप्रथम सम्प्रत्यय अधिगम का उल्लेख किया। रॉबर्ट गेने ने इसे आगे बढ़ाया। जब छात्र किसी वस्तु, घटना या व्यक्ति के वर्ग या समूह को एक नामकरण के रूप में अधिगम करता हैं तो वह प्रत्यय अधिगम हैं गेने ने सम्प्रत्यय अधिगम को इस प्रकार से परिभाषित किया हैं—''जो अधिगम व्यक्ति में किसी वस्तु या घटना को एक वर्ग के रूप में अनुक्रिया करना सम्भव बनाते हैं उन्हें हम सम्प्रत्यय अधिगम कहते हैं।

7. **सिद्धान्त अधिगमराबर्ट एम. गेने** के अनुसार सिद्धान्त अधिगम अधिगम की सातवी परिस्थिति हैं जिसकी पूर्व आवश्यकता सम्प्रत्यय अधिगम हैं बिना सम्प्रत्यय अधिगम के सिद्धान्त के अधिगम कराना असम्भव प्रतीत होता हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहां जा सकता हैं कि संप्रत्यय अधिगम सिद्धान्त अधिगम हेतु पूर्ण ज्ञान का भी कार्य करता हैं। यदि छात्रों को सम्प्रत्ययों का पूर्ण ज्ञान हैं तब शिक्षक छात्र के सम्मुख दो या दो से अधिक सम्प्रत्ययों के सहयोग से निर्मित सिद्धान्त अधिगम की परिस्थिति उत्पन्न करता हैं। इसमें छात्रों के व्यवहार को इस प्रकार नियन्त्रित किया जाता हैं कि वह सिद्धान्त को वाचिक रूप से (verbal)कह सके तथा उसे व्यवहार में उतार सके।

8. **समस्या-समाधान अधिगम** — यह गेने द्वारा वार्णित अधिगम की आठवी परिस्थिति हैं। समस्या समाधान द्वारा सीखना, सीखने की श्रेणी में सर्वोच्च स्तर पर समस्या समाधान आता हैं। समस्या समाधान किसी समस्या को हल करने, नई प्रक्रिया को सुलझाने व ज्ञान परिस्थितियों के आधार

नोट

पर परिणामों का पूर्वानुमान लगाकर कार्य करने से सम्बन्धित हैं। गेने का मानना हैं कि सम्प्रत्यय एवं सिद्धान्त अधिगम की क्षमता की उपलब्धि के बिना समस्या का अधिगम सम्भव नही हैं । गेने के अनुसार- ''समस्या समाधान घटनाओं का ऐसा समूह हैं जिसमें मानव किसी विशिष्ट उद्देश्य की उपलब्धि के लिए अधिनियमों अथवा सिद्धान्तों का उपयोग करता हैं।

राबर्ट गेने द्वारा प्रतिपादित अधिगम में आठ प्रकार (उपर्युक्त परिस्थितियाँ) वस्तुतः अधिगम में विभिन्न सिद्धान्तों की प्रक्रियाओं पर आधारित हैं जिसमें पावलव, स्किनर, थार्नडाइक, गुथरी, कोहलर, कोफ्का व वर्दीमर आदि मनोवैज्ञानिकों के अलग-अलग सिद्धान्तों से उपलब्ध प्रक्रियाओं का सारांश संकलित हैं। इस दृष्टिकोण का विश्लेषण एक सिद्धान्त में सम्भव नहीं हैं वस्तुतः अधिगम की प्रक्रिया विभिन्न जटिल परिस्थितियों का साक्षात्कार (सामना) करती हैं अतः अधिगम की व्याख्या उपर्युक्त वर्णित आठ परिस्थितियों के माध्यम से ही स्पष्ट किया जा सकता हैं जो परस्पर शृंखलाबद्ध व एक-दूसरे की पूर्व आवश्यकता हैं। किसी विशिष्ट प्रक्रिया के अधिगम हेतु अधिगमकर्ता को संकेत अधिगम से समस्या समाधान अधिगम तक की प्रक्रिया से गुजरना होता हैं।

3.29 सारांश

अधिगम जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य जीवन भर कुछ-न-कुछ सीखता ही रहता है। शिक्षा-मनोविज्ञान में अधिगम प्रमुख अध्ययन-विषय है। अधिगम एक व्यापक शब्द है। अधिगम जन्मजात प्रतिक्रियाओं पर आधारित होता है। व्यक्ति जन्मजात प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर जो भी क्रियाएँ करता है, वह अपनी परिस्थितियों से समायोजन स्थापित करने के लिए होती हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अधिगम एक मानसिक प्रक्रिया है। मानसिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति व्यवहारों के द्वारा होती है। मानव-व्यवहार अनुभवों के आधार पर परिवर्तित और परिमार्जित होता रहता है। अधिगम की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम की परिभाषाएँ दी हैं। जैसे **क्रो** और **क्रो** के अनुसार–"अधिगम आदतों, ज्ञान और अभिवृत्तियों का अर्जन है।"

अधिगम की प्रक्रिया में प्रेरणा का होना आवश्यक है। अधिगम व्यक्ति में सामाजिक या असामाजिक दोनों प्रकार के व्यवहार पैदा कर सकता है। अधिगम की क्रिया पर परिपक्वता का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। परिवक्ता का सम्बन्ध शारीरिक क्षमता के विकास से है। शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक योग्यता का विकास भी होता जाता है, इस विकास के फलस्वरूप व्यक्ति के व्यवहार में भी परिवर्तन होता रहता है। व्यवहार में परिवर्तन परिपक्वता के कारण और अधिगम के कारण होता है। अधिगम की क्रिया जीवन भर चलती है और इस प्रकार व्यक्ति का विकास होता रहता है। परिपक्वता भी विकास की सतत् प्रक्रिया है।

सीखने के शारीरिक उपकरणों जैसे केन्द्रीय स्नायुमण्डल, ज्ञानेन्द्रियों आदि की सहायता से ही हम सीखते हैं। जैसे-जैसे बालक का शरीर परिपक्वता की ओर बढ़ता जाता है वह अन्तर्निहित शक्तियों का प्रयोग करने लगता है और उसके व्यवहार में परिवर्तन होता रहता है, इस परिवर्तन के लिये शारीरिक, माँसपेशीयों, गामक तथा मानसिक परिपक्वता की आवश्यकता होती है। अपरिपक्वता में अधिगम से बालक पर मानसिक बोझ पड़ता है और उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उसके स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती है। अत: अधिगम की क्रियाओं में परिपक्वता के स्तर पर ध्यान रखना आवश्यक है। परिपक्वता और अधिगम दोनों क्रियाएँ एक दूसरे पर आश्रित हैं।

अधिगम के कुछ प्रमुख सिद्धांतों के अंतर्गत पावलोव, थॉर्नडाइक, कोहलर एवं स्किनर के सिद्धांत उल्लेखनीय हैं। किसी मनोवैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के द्वारा अधिगम की

अवधारणा का स्पष्टीकरण ही अधिगम सिद्धान्त है। इसके अंतर्गत अधिगम सम्बन्धी समस्याओं का व्यापक समाधान प्रस्तुत किया गया है। अधिगम सिद्धान्तों में एकरूपता आवश्यक नहीं है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, कुछ सिद्धान्तों में समान विचार निहित हैं तो कुछ में भिन्नता दिखाई देती है। समानताओं एवं भिन्नताओं के आधार पर अधिगम के सिद्धान्तों का वर्गीकरण किया जा सकता है।

पावलोव द्वारा किये गये कुत्ते पर प्रयोग के उदाहरण पर आधारित सिद्धान्त को 'शास्त्रीय अनुकूलन सिद्धान्त' का नाम दिया गया है। इस सिद्धान्त के स्वरूप के आधार पर इसे 'अनुक्रियात्मक अनुबन्धन सिद्धान्त' का भी नाम दिया गया है। यहाँ मुख्य बात है पावलोव द्वारा कुत्ते पर प्रयोग करके उसके निष्कर्षों को अधिगम के क्षेत्र में मानव व्यवहार पर लागू करने का विचार व्यक्त करना।

सक्रिय व्यवहार उत्तेजना के प्रत्यक्ष नियंत्रण में नही होता है। इसमें प्रयोज्य की स्वेच्छा निहित होती है। जब तक व्यक्ति स्वेच्छा पूर्वक इस प्रकार के व्यवहार को करने के लिए तत्पर नहीं होगा, आपरेन्ट व्यवहार घटित नहीं होगा। उदाहरण के लिए स्किनर के प्रयोग में चुहे का व्यवहार आपरेन्ट है। इसी प्रकार घण्टी बजने पर दरवाजा खोलना या न खोलना किसी व्यक्ति की स्वेछा पर निर्भर करता है। अत: घण्टी बजने पर दरवाजा खोलने से सम्बन्धित व्यवहार आपरेन्ट व्यवहार है। 'सक्रिय अनुकूलन' अधिगम की एक पद्धति है, जिसका विकास अमेरिकी मनोवैज्ञानिक बी. एफ. स्किनर (B. F. Skinner) ने किया। स्किनर ने दो प्रकार के व्यवहारों का वर्णन किया है यथा–प्रतिक्रियात्मक व्यवहार, सक्रिय व्यवहार। व्यक्ति के व्यवहार का मूल आधार उत्तेजक-अनुक्रिया सम्बन्धों का निरीक्षित सह-सम्बन्ध है। मानव-व्यवहार की व्याख्या करने में पूर्व मनोवैज्ञानिकों ने जिस सबलीकरण के संप्रत्यय (Concept) का प्रतिपादन किया था स्किनर ने उस 'सबलीकरण अनुसूची' को और आगे बढ़ाया। उसने अपने एक आदर्शात्मक उपन्यास 'Walden Two' में एक ऐसे समाज के प्रारूप की कल्पना की है, जिसमें व्यक्ति के व्यवहार का रूप निर्धारण एवं नियंत्रण एक व्यवस्थित ढंग से पुरस्कार द्वारा किया जा सकता है।

कोहलर का सूझ सिद्धान्त गेस्टाल्टवादी विचारों पर आधारित है। कोहलर स्वयं गेस्टाल्टवाद को विकसित करने वालों में एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक था। गेस्टाल्टवाद का प्रमुख प्रणेता मैक्सवर्दीमर (Max Wertheimer) है। कोहलर के सूझ सिद्धान्त को समझने के लिए गेस्टाल्टवाद के विचार को समझना आवश्यक है। गेस्टाल्ट (Gestalt) का अर्थ है पूर्णाकार। गेस्टाल्टवाद से तात्पर्य है आकृति को पूर्ण रूप या समग्र रूप में प्रत्यक्षीकरण करने का विचार। कोहलर का सूझ सिद्धान्त गेस्टाल्टवादी विचारों पर आधारित है। गेस्टाल्टवाद से तात्पर्य है आकृति को पूर्ण रूप या समग्र रूप में प्रत्यक्षीकरण करने का विचार।

अधिगम स्थानान्तरण का तात्पर्य है विद्यार्थी द्वारा स्वयं अर्जित ज्ञान को दूसरी परिस्थिति में प्रयोग करना। अधिगम स्थानांतरण के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हैं– मानसिक शक्ति का सिद्धांत और औपचारिक अनुशासन की धारणा, समान तत्वों का सिद्धांत, समान्यीकरण का सिद्धांत, सामान्य एवं विशिष्ट अंश का सिद्धांत, गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक का सिद्धांत।

मानव-व्यवहार के मूल में प्रेरक वृत्ति विद्यमान रहती है जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति कार्य करता है। उदाहरण द्वारा इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-भूख की अवस्था में पेट की दीवारों में संकुचन (Contraction) होता है, व्यक्ति अपने अन्दर तनाव का अनुभव करता है, और इस तनावपूर्ण स्थिति से छुटकारा प्राप्त करने के लिए वह खाद्य-पदार्थों की खोज करता है। उसकी खोज तब तक जारी रहती है जब तक वह खाने की वस्तु को प्राप्त करके अपनी भूख मिटा नहीं

लेता। इस उदाहरण में भूख की स्थिति अथवा अवस्था यहाँ पर प्रेरणा है और यह भूख की स्थिति जिस कारण से उत्पन्न होती है उसे भूख या प्रेरक कहते हैं।

3.30 अभ्यास-प्रश्न

नोट

1. उपयुक्त परिभाषाओं के साथ अधिगम का अर्थ एवं उसका स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. अधिगम की प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं? अधिगम प्रक्रिया की विशेषताएँ समझाइए।
3. अधिगम के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
4. शिक्षण से आप क्या समझते हैं? अच्छे शिक्षण की विशेषताएँ बताइए।
5. अधिगम की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।
6. 'प्रेरणा' तथा 'रुचि' अधिगम की प्रक्रिया में किस प्रकार सहायक हैं?
7. अध्यापक के लिए अधिगम का महत्त्व समझाइए।
8. पावलोव के 'अनुकूलित प्रत्यावर्तन' के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
9. शिक्षा में अनुकूलित प्रत्यावर्तन सिद्धांत की उपयोगिता एवं महत्त्व समझाइए।
10. कोहलर के अधिगम संबंधी 'सूझ के सिद्धांत' का विवेचन कीजिए।
11. कोहलर के 'सूझ के सिद्धांत' की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
12. अधिगम के स्थानांतरण से आप क्या समझते हैं?
13. अधिगम के स्थानांतरण के सिद्धांतों पर प्रकाश डालिए।
14. अधिगम के स्थानांतरण के प्रकारों को विस्तार से समझाइए।
15. अधिगम स्थानांतरण का शिक्षा में महत्त्व प्रतिपादित कीजिए।
16. अभिप्रेरणा से आप क्या समझते हैं?
17. प्रेरणा के पक्षों पर प्रकाश डालिए।
18. अभिप्रेरणाओं की उत्पत्ति एवं विकास को सविस्तार समझाइए।
19. अभिप्रेरणा के क्या कारण हैं? अभिप्रेरणा के कार्य समझाइए?

3.31 संदर्भ पुस्तकें

- शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली–एल. कौल, विकास पब्लिशिंग।
- शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ–शरीन एवं शशिकला, विनोद पुस्तक मंदिर।
- शैक्षिक तकनीकी एवं मूल्यांकन–डॉ. रामपाल सिंह, भट्ट ब्रदर्स।
- शिक्षा तकनीकी–आर.ए. शर्मा, भट्ट ब्रदर्स।

नोट

अध्याय-4

समूह गतिशास्त्र

(Structure)

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 रक्षा युक्ति युक्त
4.4 समायोजन प्रतिमान
4.5 सुसमायोजित व्यक्तियों की विशेषतायें
4.6 समाजमिति से तात्पर्य
4.7 समाजमिति में वरीयता चुनने के आधार
4.8 सामाजिक संबंध की सूची और सारणीयन
4.9 सारणी के परिणामों की व्याख्या
4.10 समूह की संरचना की व्याख्या में प्रयोग किए जाने वाले कुछ शब्द
4.11 सामाजिक संबंधों का चित्रण तथा व्याख्या
4.12 समाजमिति के परिणाम और शिक्षक की भूमिका
4.13 सामाजिक सूचिकाएँ
4.14 समूह गतिशास्त्र किसे कहते हैं?
4.15 सारांश
4.16 अभ्यास प्रश्न
4.17 संदर्भ पुस्तकें

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- छात्र समाजमिति की तकनीक को समझकर, चार्ट के आधार पर बालकों के सम्बन्धों की व्याख्या कर सकेंगे;
- छात्र समूह संरचना के संदर्भ में आने वाले नये शब्दों के अर्थ को जान सकेंगें;
- छात्र सामाजिक सम्बन्ध की व्याख्या में आने वाली कतिपय सीमाओं से परिचत हो सकेंगे;
- छात्र विद्यालयों में समाजमिति तकनीक का उपयोग कर सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

नोट

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज के सदस्य के रूप में ही कार्योन्मुख रहता है। समाज में रहकर विभिन्न रूपों में अपने दायित्व का निर्वाह करता है। एक बालक एक ही साथ अपने परिवार का सदस्य, विद्यालय में विद्यार्थी, कक्षा-कक्ष समवयस्क छात्र-समूह का सदस्य, मौहले एवं पास-पड़ोस के साथियों के समूह का सदस्य तथा ग्राम अथवा नगर में ग्रामवासी अथवा नगरवासी है। प्रौढ़ व्यक्ति पति अथवा पत्नी, अभिभावक, कर्मचारी, मित्र, पड़ौसी एवं संबंधी के विभिन्न रूप में कार्यरत रहता है। समाज में रहकर व्यक्ति, विभिन्न रूप में दायित्व की पालना करता है तथा अपने दायित्व के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ एवं व्यवहार करता हैं।

सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति का सम्पर्क एवं संबंध अन्य प्राणियों से भी निरंतर होता रहता है। उसके द्वारा विभिन्न प्रकार की अनेकानेक अन्तःक्रियाएँ भी सम्पादित होती है। सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति की सफलता-विफलता, उसके क्रियाकलापों, आचरण तथा व्यवहारजन्य प्रभावों के मापन-मूल्यांकन की भी आवश्यकता होती है। यह मूल्यांकन उसके स्वयं के लिए एवं सामाजिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उसके व्यक्तिगत जीवन एवं उसके जीवन के सामाजिक पक्ष को दिशा-निर्देशन करने की दृष्टि से भी यह मूल्यांकन उपयोगी है। अपने व्यवहार में वांछित परिवहन करके जीवन लक्ष्यों का पुन: निर्धारण करने एवं सामाजिक दायित्व की पूर्ति हेतु भी यह विधि उपयोगी है।

4.3 रक्षा युक्ति युक्त

रक्षा यूक्तियों को मानसिक यूक्तियाँ भी कहा जा सकता है। दबाव उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के प्रति नकारात्मक प्रतिक्रिया ही रक्षा की यूक्तियाँ हैं। समय-समय पर व्यक्ति जीवन में तनाव, दबाव, द्वन्द्व, भग्नाशा तथा दुश्चिन्ता से घिर जाता है। चेतना स्तर पर वह इन सबसे ऊपर निकलने का पूरा प्रयास करता है किन्तु हमेशा वह इसमें सफल नहीं होता है। तब उसका अचेतन अनेक प्रकार की रक्षा यूक्तियाँ विकसित कर अपने विशिष्ट तरीकों से दबाव का सामना करता है। व्यक्ति के "स्व" की रक्षा कर व्यक्ति को सांवेगिक असन्तुलन से बचाता है। इसलिये अचेतन स्तर की इन क्रियाओं को रक्षा यूक्तियाँ कहा जाता है। बालक के मानसिक विकास में रक्षा यूक्तियों की महत्ती भूमिका है।

रक्षायूक्तियों के प्रकार

कुछ प्रमुख प्रकार की रक्षा यूक्तियों का परिचय यहाँ पर दिया जा रहा है।

प्रतिक्रिया विधान

किसी ऐसे व्यवहार के नियमित ताने बाने का दृढ़ बन जाना जो किसी प्रबल अचेतन प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष विरोधी हो। जैसे डर को दबाने या उससे इंकार करने के लिये व्यवहार का आक्रामक बन जाना। समायोजन की यह महत्वपूर्ण रक्षा युक्ति दुखद अनुभव को कम कर व्यक्ति के 'स्व' की रक्षा करती है। अचेतन की अवांछनीय इच्छाओं को दमित कर श्रेष्ठ विचारों को प्रतिक्रिया विधान को अपनाना एक अच्छी रक्षा युक्ति हैं। उदाहरणार्थ यदि घृणा के स्थान पर प्रेम का उदय हो। किन्तु यदि अत्यधिक आक्रामकता अधिक श्रेष्ठ होने की भावना, अत्यधिक आदर्श मूलक अभिवृति, अत्यधिक नैतिकता अथवा अत्यधिक धार्मिकता विकृत विकास हो तो यह मानसिक विघटन तथा मानसिक रूग्णता के लक्षण होते हैं।

प्रक्षेपण

व्यक्ति अपनी विशेषताओं, अभिवृत्तियों अस्वीकृत इच्छाओं, कमियों आदि को दूसरे पर आरोपित कर देता है। किसी वस्तुनिष्ठ उद्दीपन को अपनी इच्छाओं, अभिवृत्तियों आदि के अनुसार ही देखना तथा उसकी वैसी ही व्याख्या

करना प्रक्षेपण के अन्तर्गत आता है। इस रक्षा युक्ति का आवश्यकता से अधिक प्रयोग व्यक्ति को कुसमायोजित व्यक्ति के रूप में परिवर्तित कर देता है।

नोट

दमन

इस रक्षा युक्ति में व्यक्ति का अहं (Ego) उसके चेतन मन को अवांछनीय लगने वाले तथा उसके आदर्शों का विरोध करने वाले विचारों व इच्छाओं आदि को अचेतन मन में ढकेल देता है। जहाँ वे क्रियाशील रहते हुए उसके व्यक्तित्व को अस्वीकार ही नहीं करता अपितु उनकी सत्ता से ही इनकार कर उन्हें चेतना स्तर पर नहीं आने देता। दुखद एवं अवांछनीय इच्छाओं और अनुभव को भूलना अच्छा है। ऐसी स्थिति में दमन की रक्षा युक्ति उपयुक्त है।

स्थिरता

स्थिरता से तात्पर्य है—किसी वस्तु या व्यक्ति विशेष के प्रति अतिशय लगाव तथा उसे लम्बे समय तक बने रहना। उदाहरणार्थ—एक बालक बाल्यकाल में अच्छी पोशाक के अभाव के फलस्वरूप उसके प्रति विशेष लगाव रखते हुए अच्छी पोशाक के प्रति स्थिरण का विकास कर लेता है अपने वयस्क जीवन में आवश्यकता से अधिक शौक अच्छी पोशाक के लिये पैदा कर लेता है। इस रूप में यह रक्षा युक्ति का प्रयोग दमित इच्छाओं के चेतन स्तर पर आकर व्यक्ति को उपहास पात्र बनाने से उसकी रक्षा करती है।

यथार्थ का अस्वीकार

व्यक्ति यथार्थ स्थिति को स्वीकार नहीं करता है। यथा किसी व्यक्ति का अत्यन्त दुखद घटना को सुनकर अचानक अचेत हो जाना अर्थात् उसका दुखद परिस्थिति का यथार्थता को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। इस रक्षा युक्ति के निम्न प्रकार होते है—

1. **दिवास्वप्न** – दमित या भग्न अभिलाषाओं की अनुचित संतुष्टि के प्रयास में व्यक्ति जागृत अवस्था में विविध अनियन्त्रित कल्पनाओं अथवा नियोजन चिन्तन में ही डुबे रहना दिवास्वप्न है। इस प्रकार व्यक्ति यथार्थ की संघर्षपूर्ण स्थिति से बचा रहता है। ये दो प्रकार के होते हैं - एक तो विजेता के रूप में, दूसरे कष्ट सहने वाले के रूप में। अपनी क्षमता के अनुसार भविष्य के लिये चिन्तनशील दिवास्वप्न व्यक्ति में साहस व आशा का संचार करता है। इसके अतिरिक्त अव्यावहारिक दिवास्वप्न व्यक्ति को निराशा व असफलता की और ले जाते हैं। जिसमें समायोजन के अवसर न्यूनतम होते हैं। व्यक्ति अपने आप में उलझकर, सिमटकर, जीवन की वास्तविकताओं से परे हो जाता है। यह स्थिति व्यक्ति को मनस्ताप तथा तंत्रिंका ताप की ओर ले जाती है।
2. **प्रतिगमन** – इससे तात्पर्य है आन्तरिक या बाह्य संघर्षों से किसी प्रवृत्ति, आवश्यकता या लक्ष्य में बाधा पड़ने के कारण मानसिक शक्ति के स्वाभाविक प्रवाह का उलट जाना। जिससे उसकी अभिव्यक्ति पूर्व के स्तर के व्यवहार के अनुरूप हो जाती है। यथार्थ से पलायन के लिये जब व्यक्ति अपनी आयु के अनुकूल व्यवहार न करके उसके पूर्व की आयु के अनुसार व्यवहार करता है तथा अपनी आयु के अनुसार अपने उतरदायित्व से अपने आपको दूर कर लेता है। यथा जीवन की यथार्थताओं का सामना करने में सक्षम वयस्क व्यक्ति बालकों अथवा किशोर के समान व्यवहार करने लगे।
3. **निषेध प्रवृत्ति** – यह रक्षा युक्ति यथार्थता से पलायन की एक अन्य युक्ति है जिसके अन्तर्गत दूसरे के सुझाव का बिना किसी प्रत्यक्ष अथवा वस्तुनिष्ठ कारण के ही सदैव प्रतिरोध करने की प्रवृत्ति को रखा जा सकता है। कठोर और अमनोवैज्ञानिक व्यवहार बालक में इस प्रकार की रक्षा युक्ति का विकास करने में सहायक होते हैं।

नोट

क्षतिपूर्ति

इसमें व्यक्ति अपनी कमियों को दूर करने का प्रयास करता है। एक व्यक्ति किसी एक क्षेत्र में असफल रहने का दूसरे क्षेत्र में सफलता के लिए प्रयत्न करता है। यह रक्षायुक्ति व्यक्ति को हीन भावना से होने वाली क्षति से बचाती है। अपनी कमियों को सृजनात्मक कार्यों द्वारा दूर करने की दृष्टि से स्वस्थ रक्षायुक्ति हैं। किन्तु यह रक्षा युक्ति यदि मात्र मानसिक रूप में होती है तो हानिप्रद है क्योंकि अपनी कमियों को दूर करने के लिए व्यक्ति केवल वैचारिक स्तर पर ही सीमित हो जाता है उसे व्यवहार में परिणित नहीं करता।

उदात्तीकरण

आदिम प्रवृत्तियों की शक्तियों को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी लक्ष्यों की ओर दिशातरित कर उन्हें परिष्कृत रूप देने की अचेतन प्रक्रिया ही उदातीकरण है। इसमें इच्छायें वांछनीय रास्तों की ओर प्रवृत्त हो जाती हैं जिसमें व्यक्ति की विभिन्न ग्रन्थियों व निराशाओं का शोधन हो जाता है। व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण के लिए यह महत्वपूर्ण रक्षायुक्ति है।

युक्तिकरण

इस युक्ति में व्यक्ति अपनी असफलताओं व निराशाओं को तार्किक आधार पर अभिव्यक्ति देकर अपने अहं (इगो) की तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा करता है। जीवन में समायोजन व संतुष्ट रहने के लिए यह रक्षायुक्ति उपयोगी है किन्तु इसके अधिकतम उपयोग से व्यक्ति आत्मवचंना का शिकार होता है अर्थात् ढोंगी हो जाता है। उसकी कथनी ओर करनी में अंतर होता है और विश्वसनीय नहीं होता।

तादामीकरण

इनमें व्यक्ति अपने को किसी अन्य व्यक्ति या समूह से इतना अधिक संबद्ध कर लेता है। कि वह उसके मूल्यों, आदर्शों, मान्यताओं और व्यवहार के तौर तरीकों को अपना ही समझने लगता है। इस प्रकार जो कार्य वह स्वयं नहीं कर पाता उसे उस व्यक्ति विशेष द्वारा पूरा होते देखकर माता के साथ स्वयं को संबंधित कर लेती है। वस्तुत: यह अनुसरण नहीं है। क्योंकि अनुसरण चेतन स्तर पर होता है यह जटिल मानसिक की स्वयं की व दूसरों की दृष्टि में अपने आत्म समान की रक्षा करना व आत्म समान को बढ़ाना है। यह तादात्मीकरण व्यक्तियों, विचारों तथा संस्थाओं के साथ हो सकता है।

विस्थापन

इसमें व्यक्ति किसी अभिप्रेरक के संतुष्ट न होने अथवा किसी प्रयत्न के विफल हो जाने से उत्पन्न आक्रामक तथा शत्रुतापूर्ण भावनाओं को उस दुश्चिन्ताजनक मूल स्थिति या व्यक्ति से हटाकर अनजाने ही उससे एकदम असंबद्ध किसी अन्य व्यक्ति या स्थिति पर क्रेन्द्रित कर देता है। उदाहरणार्थ बालक अपने से बड़ी से मार खाकर छोटों को मारता है अथवा खिलौने तोड़ देता है। इससे मानसिक तनाव से मुक्ति थोड़े ही समय के लिए होती है। अत: इस युक्ति का सीमित उपयोग ही उपयुक्त है।

विपर्याय

इस रक्षायुक्ति का अर्थ है कि दमन की गई मनोग्रंथि की किसी प्रभावक द्वारा अर्थात् शारीरिक लक्षणों द्वारा अभिव्यक्ति। शारीरिक लक्षण दमन की गई मनोग्रंथि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होते हैं जिससे दमित इच्छा की परोक्षत: तृप्ति होती है। इसमें व्यक्ति पक्षाघात, जी घबराना, सिर दर्द, हिस्टीरिया आदि शारीरिक लक्षणों के माध्यम से जीवन की कठोर वास्तविकताओं से स्वयं की रक्षा के प्रयास में मानसिक अस्वस्थता के स्थान पर

शारीरिक अस्वस्थता को स्वीकार कर लेता है। जिससे अपने मित्रों व निकटस्थ संबंधियों से सहानभुति प्राप्त कर अपने आप को सुरक्षित व महत्वपूर्ण समझकर संतुष्ट हो जाता है। विपर्याय का एक सीमा से अधिक उपयोग मानसिक असंतलुन का कारण हो सकता है।

नोट

बौद्धिकीकरण

इस रक्षायुक्ति में व्यक्ति वैयक्तिक घटना का सामान्यीकरण कर समायोजन करता है। उदाहरणार्थ किसी दुखद घटना घटने पर उसे ईश्वरेच्छा कहकर अपने दुख को कम करना चाहता है। किंतु इस युक्ति की अधिकता से आत्मवचंना भी संभव है जो मानसिक अवस्था व कुसमायोजन की द्योतक है। किंतु यदि आत्मवचंना न हो तो यह युक्ति अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसी के माध्यम से श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को कर्तव्यबोध कराने का प्रमाण उपलब्ध है ।

4.4 समायोजन प्रतिमान

समायोजन हेतु मनौवैज्ञानिक ने अपने-अपने सिद्धांतों के आधार पर समायोजन प्रतिमान प्रस्तुत किए हैं। प्रतिमान वस्तुत: मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रयोग के आधार पर प्राप्त सिद्धांतों में परस्पर संबंध स्थापित करना है। प्रतिमानों में पूर्णता तथा विस्तार की दृष्टि से भिन्नता हो सकती है। समायोजन की दृष्टि से इस अध्याय में तीन प्रतिमान प्रस्तुत किए जा रहे है। प्रत्येक प्रतिमान का यहाँ वर्णन प्रतिमान के मूलभूत सिद्धांत तथा मनोवैज्ञानिक विचारों 'पर प्रभाव के संदर्भ में किया जा रहा है।

मनोविश्लेषणात्मक प्रतिमान

यह प्रतिमान सिगमंड फ्रायड के कठिन परिश्रम का परिणाम है। यह प्रतिमान अत्यंत जटिल है। किंतु जटिल होने के साथ ही सुव्यवस्थित भी है।

मनोविश्लेषणामक प्रतिमान के मुख्य सिद्धांत

इस प्रतिमान के मुख्य सिद्धांत निम्न हैं—

(क) इड, अहम (Ego) तथा पराअहम् (Super Ego)

व्यक्तित्व में अंतर्निहित इन तीन उपविधानों की परस्पर अंतक्रिया पर ही व्यक्ति का व्यवहार आधारित होता है।

(ख) **दुश्चिंता, रक्षायूक्तियाँ तथा अचेतन** – दुश्चिंता मनोविश्लेषणात्मक प्रतिमान में सबसे महत्वपूर्ण है। फ्रायड के अनुसार तीन प्रकार की दुश्चिंता होती है। यथार्थ दुश्चिंता स्नायुविक दुश्चिंता तथा नैतिक दुश्चिंता। दुश्चिंता व्यक्तित्व के आंतरिक विघटन के लिए भयावह चेतावनी होती है। प्राय: अहं तर्कसम्मत उपाय की सहायता से दुश्चिंता को दूर करने के लिए समायोजन करता है। तर्कसम्मत उपाय के असफल होने पर रक्षा यूक्तियों की सहायता से दुश्चिंता से समायोजन करता है। दूसरा महत्वपूर्ण तत्व इस प्रतिमान में अचेतन का है। फ्रायड के अनुसार अचेतन की अपेक्षा अचेतन, मस्तिष्क का एक छोटा सा भाग है। फ्रायड ने पानी में डूबे हम खंड से चेतन व अचेतन की तुलना की है व्यक्ति अचेतन से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। किंतु फिर भी अचेतन सदैव अभिव्यक्ति के अवसर खोजता रहता है तथा कल्पना एवं स्वयं की सहायता से अभिव्यक्ति देता है।

(ग) मनोयौनामक विकास – फ्रायड के अनुसार व्यक्ति का विकास विभिन्न चरण में होता है। प्रत्येक अवस्था यौन आनदं की विशिष्टता लिए हुए होती है। फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व के विकास की निम्न अवस्थायें होती है।

गदु अवस्था (Anal) मौखिक (Oral) लिंग अवस्था (Phallic) काम प्रसुप्ति काल, जननांगिक (Genital)। प्रत्येक अवस्था की व्यक्तित्व से एक विशेष मांग होती है। मांग की पूर्ति द्वंद के समाधान के लिए आवश्यक होती है।

नोट

(घ) **मनोनैदानिक स्थिति के प्रति विचार** – मनोविश्लेषणवादी प्रतिमान के अनुसार व्यक्ति मूल प्रवृत्यात्मक जैविक चालकों, अचेतन इच्छाओं और प्रेरकों से अपने व्यवहार हेतु प्रभावित होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में सृजनात्मक केन्द्रीय रागात्मक शक्ति (Libido) भी होती है। इस केन्द्रीय रागात्मक शक्ति का विघटनात्मक पक्ष भी होता है जो मनुष्य का सर्वनाश व मृत्यु की ओर ले जाता है। अहं के आधार पर व्यवहार तर्क सम्मत होता है, जबकि अंतर्मानसिक द्वंद, रक्षायुक्तियां तथा अचेतन व्यक्ति के अतार्किक तथा अपयनुकूल (Maladaptive) व्यवहार के प्रेरक होते है। व्यक्ति के व्यवहार का आधार इन सबके अतिरिक्त उसका अधिगम भी होता है। मनोविश्लेषणामक प्रतिमान मानव व्यवहार के नकारात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। यह नकारात्मक दृष्टिकोण मानव व्यवहार के तार्किक तथा आत्मनिर्णय की स्वतंत्रता के महत्व को कम करता है। यद्यपि यह प्रतिमान काफी आलोचना का विषय रहा है किन्तु फिर भी मनुष्य के सामान्य व असामान्य व्यवहार के संबंध में फ्रायड का महत्वपूर्ण योगदान है अत: फ्रायड द्वारा प्रस्तुत मनोविश्लेषणामक प्रतिमान के विभिन्न संप्रत्यय मानव व्यवहार के संबंध में चिंतन के लिए मूलभतू व महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करते है।

व्यवहारवादी प्रतिमान

व्यवहारवादियों ने इस प्रतिमान के लिए अधिगम को आधार बनाया है व्यवहारवादी प्रतिमान के केन्द्र "मानव व्यवहार में अधिगम की भूमिका" है।

व्यवहारवादी प्रतिमान के मूल सिद्धांत – इस प्रतिमान में अधिगम ही केन्द्रीय सिद्धांत है। अधिकांशत: मानव व्यवहार अधिगम के माध्यम से होता है। अत: व्यवहारवादियों में अधिगम कैसे होता है, इसी को महत्व दिया तथा निम्न तथ्य को विशेष रूप से ध्यान में रखा—

- शास्त्रीय तथा क्रियाप्रसूत अनुकूलन में व्यवहार उद्दीपक पर निर्भर करता है।
- शास्त्रीय व क्रियाप्रसूत अनुकूलन में पुनर्बलन न प्रधान तत्व है। पुनर्बलन अर्थात उद्दीपन की निरंतर पुराावृति से नई अनुक्रिया का दृढ़ीकरण होता है।
- सामान्यीकरण व विभेदीकरण के संदर्भ में उद्दीपक की समानता के आधार पर समान उद्दापक से भी समान अनुक्रिया प्राप्त होती है।

व्यवहारवादियों द्वारा प्रस्तुत उक्त प्रतिमान की, प्रतिरूपण व प्राथमिक तथा माध्यमिक चालक के आधार पर अधिक स्पष्ट व्याख्या की जा सकती है। प्रतिरूपण का अर्थ है, वांछित अनुक्रिया प्रतिमान का अधिगम कर्ता द्वारा प्रदर्शन किया जाना शेपिंग (Shaping) की प्रक्रिया के माध्यम से उस अनुक्रिया की उत्पत्ति होती है, जो इस प्रजाति के प्राणी में जैविकता की दृष्टि से नहीं होती, यथा कबतूरों का पिंग पोंग खेलना। इस प्रक्रिया की सहायता से जटिल अधिगम हेतु जटिल अनुक्रिया करवायी जा सकती है।

व्यवहारवादियों के अनुसार मानव के व्यवहार की उत्प्रेरणा हेतु प्रथमत:: जैविक चालक कार्य करते हैं। किन्तु इसके साथ ही अनेक प्रकार के अन्य चालक भी मानव को व्यवहार के लिए प्रेरणा प्रदान करते हैं। वस्तुत: वे सभी प्रेरक इन प्राथमिक जैविक चालक का अधिगमित विस्तार है।

मनोनैदानिक विचारों पर प्रभाव

मनोनैदानिक विचारों पर व्यवहारवाद के प्रतिमान के प्रभाव को यदि देखा जाए तो यह स्पष्ट है कि व्यवहारवाद द्वारा व्यवहार के अर्जन परकरण तथा विभेदीकरण की व्याख्या का प्रयत्न भी किया गया है। यह प्रतिमान विशिष्ट

नोट

व्यवहार की परिवर्तनशीलता तथा व्यवहार की वस्तुनिष्ठता आदि का सूक्ष्म विश्लेषण करने में भी सक्षम है। किन्तु इसके साथ ही कुछ बिन्दु व्यवहारवादियों के इस प्रतिमान को आलोचना का विषय बनाने में सहायक है यथा—

यह प्रतिमान मानव व्यवहार के जटिल पक्ष को सुलझाने में असफल रहा है। विषयगत अर्थात् अधिगमकता के अनुभव संबंधी विश्लेषण जीवन मूल्यों का पक्ष तथा मानव जीवन में इन मूल्यों की अवस्थिति के महत्व तथा व्यवहार के लिए आत्मनिर्देशन संबंधी समस्याओं का भी कोई हल व्यवहारवादियों के इस प्रतिमान द्वारा प्रस्तुत नहीं किया गया।

किन्तु निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि व्यवहारवाद के प्रतिमान में जो कमियां हैं उनके बावजूद भी यह मानव प्रकृति व मानव व्यवहार संबंधी विचारों को काफी सीमा तक प्रभावित करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। मनोनैदानिक विचारों पर भी इनका प्रभाव विशिष्ट रूपेण परिलक्षित होता है।

मानवतावादी प्रतिमान

इस प्रतिमान को मनोविश्लेषणवादी व व्यवहारवादी प्रतिमान दोनों ने ही प्रभावित किया है। किंतु फिर भी मानवतावादी प्रतिमान दोनों ने ही प्रभावित किये हैं किन्तु फिर भी मानवतावादी प्रतिमान इन दोनों से ही कुछ सीमा तक असहमत भी रखता है। मानवतावादी प्रतिमान व्यक्ति की मूल प्रकृति के "अच्छा होने" में विश्वास रखता है मनुष्य में उतरदायित्व पूर्ण ढंग से आत्मनिर्देशन की प्राकृतिक क्षमता होती है। इसी तथ्य को इस प्रतिमान में अत्यधिक महत्व दिया गया है।

मानवतावादी प्रतिमान के मुख्य सिद्धांत

मनुष्य की अंतर्निहित क्षमताओं में इस प्रतिमान का अखंड विश्वास (क) एकीकरण का कारक (ख). मनुष्य का "स्व" मनोविश्लेषणवादियों के अहं से ही सादृश्यता नहीं रखता है अपितु इस "स्व" के अंतर्गत व्यक्ति की आत्मानुभूति की क्षमता, संसार के साथ व्यक्ति का संबंध, आत्म मूल्यांकन व निरंतर आत्मपूर्णता की प्रवृत्ति भी सम्मिलत की गयी है मानवतावादी मनोवैज्ञानिक में कार्ल रोजर्स ने "स्व" की अवधारणा को व्यवस्थित रूप से विकसित किया है। सारांश रूप से "स्व" की धारणा निम्न प्रकार है—

(1) मैं और मेरा अपना को केन्द्रीभूत करके प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक निजी वैयक्तिक संसार होता है।

(2) "स्व" के अनुरक्षण, वृद्धि तथा पूर्णता के प्रति प्रत्येक व्यक्ति प्रयासरत रहता है।

(3) किसी भी प्रेरक के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया का आधार उसकी "स्वधारणा" तथा संसार के प्रति उसका दृष्टिकोण होता है।

(4) "स्व" की क्षति की सम्भावना का प्रत्यक्षीकरण ही "स्व" की रक्षायूक्तियों का आधार होता है।

(5) सामान्य की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ स्वयं की पूर्णता तथा स्वास्थ्य की ओर उन्मुख होती है।

(6) सामान्य परिस्थितियों में व्यक्ति तर्कसम्मत व सृजनात्मक व्यवहार ही करता है।

(ख) वैयक्तिक विकास एवं जीवन मूल्य: मानवतावादी प्रतिमान में सार्थक जीवन जीने के लिए तथा व्यक्ति के व्यवहार को निर्देशन देने के लिए जीवन मूल्यों तथा मूल्यों के विकल्प चयन की प्रक्रिया का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह विचार व्यक्ति के साथ समाज के लिए भी कार्यान्वित किया जा सकता है।

(ग) मानव सामर्थ्य तथा मानव प्रकृति के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण : मानवतावादी मनोवैज्ञानिक का विश्वास है कि सृजनात्मक, सहाकारितापूर्ण तथा सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर मानव की क्षमतायें सकारात्मक रूप से क्रियाशील होती है, क्योंकि मनुष्य निष्क्रिय स्वचालत प्राणी नहीं है अपितु एक क्रियाशील व्यक्तित्व है। वैयक्तिक रूप से अपने तथा अपने समाज के भाग्य

निर्माता के रूप में व्यक्ति को जीवन का आकार प्रदान करने की स्वतंत्रता भी है। वह अपने जीवन की दिशा निर्धारण तथा समाज के प्रति अपने सक्रिय योगदान देने के लिए स्वतंत्र है।

नोट

मानवतावादी प्रतिमान का मनोनैदानिक विचारों पर प्रभाव

मानववतावादी प्रतिमान के अनुसार मनोनिदान वैयक्तिक वृद्धि व विकास में बाधक व अवरोधक होता है। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए निम्नलिखित आधार मानवतावादी मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं—

- अहं द्वारा रक्षायूक्तियों का अधिकता से प्रयोग।
- दोषपूर्ण अधिगम तथा प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियाँ
- अत्यंत दबाव व तनाव की स्थितियाँ।

मानवतावादियों के प्रतिमान की आलोचना

इसकी आलोचना मानवतावाद के सिद्धांतों का बिखराव, सिद्धांतों के प्रतिपादन में वैज्ञानिक नियमबद्धता, परिश्रम व संयम का अभाव तथा मनोवज्ञान से अधिकाधिक अपेक्षाओं के कारण की जाती है।

4.5 सुसमायोजित व्यक्तियों की विशेषतायें

मनोवैज्ञानिक सुसमायोजन के तत्वों के संबंध में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक सामाजिक मान्यताओं के अनुसार जीवन व्यती करने की व्यक्ति की क्षमता के आधार पर समायोजन का मूल्यांकन करते हैं। इस धारणा के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति विद्वेषपूर्ण व स्वार्थी इच्छायें रखता है तथा सभी व्यक्ति असम्भव उद्देश्य व इच्छाओं के स्वप्न देखते हैं, कल्पना करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति अपने इन इंद्रिय वेग को नियंत्रित करना सीख हैं तथा समाज के आदर्शों की सीमा के अंदर ही अपने उद्देश्य को सीमित कर लेते हैं वही सुसमायोजित माने जाते हैं। अन्य मनोवैज्ञानिक का विचार है कि जो व्यक्ति नमनीयता, सृजनामकता तथा सहजता के आधार पर जीवन की कठिनाइयों तथा अस्पष्टता का सामना करने की योग्यता रखता है वही सुसमायोजित है। कुछ विचार है कि तनाव की अनपुस्थिति ही प्रभावशाली समायोजन का प्रतीक है। एक और वर्ग है मनोवैज्ञानिकों का, जिनकी मान्यता है कि सुसमायोजित व्यक्ति परम्परा तथा नवाचार एवं आत्म नियंत्रण तथा स्वैच्छिकता में संतुलन रख सकता हैं सुसमायोजित व स्पष्ट की है। इनका विचार है कि सुसमायोजित व्यक्ति स्वयं को पूर्ण (Self-actualize) बनाने का प्रयास करते है अर्थात वे अपने व्यक्तिगत विकास व पूर्णता हेतु जो श्रेष्ठ समझते है उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं। दूसरे क्या सोचते हैं उसकी परवाह नहीं करते। हास्य की प्रवृत्ति, सृजनात्मकता, तथा सांस्कृतिक स्वायतता आदि।

इन विशिष्टताओं के साथ ही मैसलो का यह विचार है कि ये सुसमायोजित व्यक्ति पूर्ण ही हो यह आवश्यक नहीं है।

समायोजन व शिक्षक

यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि समायोजन एक अधिगम प्रक्रिया है। अत: यह भी निश्चित है कि यह अधिगम प्रक्रिया छात्र के व्यक्ति का विकास भी कर सकती है तथा विकास में बाधक भी हो सकती है। अत: योग्य शिक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह छात्र के व्यक्तित्व का विकास भी कर सकती है तथा विकास में बाधक भी हो सकती है। अत: योग्य शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वह छात्र के व्यक्तित्व के विकास में सहायक निम्न प्रक्रियाओं से अपने को परिचित रखे—

यथार्थ स्थिति का स्वयं सामना करने के लिए :छात्र अपने संवेगों को समझने तथा अपनी क्षमताओं के मूल्यांकन में प्राय: समर्थ नहीं होते है। अत: यथार्थताओं का सामना करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। विद्यार्थी

के समक्ष प्राथमिक उद्देश्य वास्तविकताओं को समझकर उनसे समायोजन करना है और शिक्षक का दायित्व इस वैयक्तिक समायोजन में विद्यार्थी की सहायता करना है कि विद्यार्थी अपनी वैयक्तिक समस्याओं का समाधान यथार्थता के धरातल पर कर सकें।

नोट

यथार्थता से पलायन से रक्षा के लिए पलायन की यूक्तियों को समझकर शिक्षक उपयुक्त समायोजन के लिए विद्यार्थियों का निर्देशित कर सकता है। यथा पलायनवादी छात्रों में उन छात्रों के संबंध में विचार सर्वप्रथम आवश्यक है जो चुपचाप रहने वाले और एकांकी है। सामान्यत: शिक्षक का ध्यान कार्य में बाधक बनने वाले विद्यार्थियों की ओर ही जाता है। किन्तु आज आवश्यकता है उन बालकों पर ध्यान देने की जो कभी किसी कार्य में भाग नहीं लेते तथा किसी भी कार्य में बाधा उत्पन्न नहीं करते हैं। वकमैन द्वारा अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि इस प्रकार के पलायनवादी बालक स्वस्थ वैयक्तिक विकास के अभाव में अधिक ध्यान दिए जाने योग्य है क्योंकि जब बालक कक्षा में पढ़ने के अपने दायित्व का नहीं वहन करता है तब वह अपने सामाजिक संवेगात्मक समायोजन में भी अभावग्रस्त रहता है। चुप रहने वाले बालक विषय वस्तु के अधिगम तथा अपने व्यक्ति के समायोजन के संबंध में भी कम समझ पाते हैं। अत: शिक्षक का दायित्व है कि ऐसे बालकों को, एकाकीपन के घेरे में से निकाल कर उनके सुसमायोजन में सहायता करें। कुछ यूक्तियों जो इस प्रकार के बालकों द्वारा युक्त की जाती है वे हैं दिवास्वप्न, प्रत्यावर्तन निषेध प्रवृत्ति आदि। निराशा तथा असफलता की स्थिति ही दिवास्वप्न युक्ति से पलायन के लिए बालक को प्रेरित करती है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों की निराशा के कारण जानकर तथा दिवा स्वप्न की विषय वस्तु के अवबोध के माध्यम से उनकी रुचियों तथा विद्यार्थी की क्षमता में तालमेल बैठाकर सृजनात्मक कार्यों में लगाना उपयुक्त होगा। प्रत्यावर्तन में बालक अपनी आयु के स्तर के व्यवहार से प्रतिगमन का पूर्व वर्षों के अनुसार व्यवहार करने लगता है। ऐसी स्थिति में शिक्षक का दायित्व होता है कि वह मूल्यांकन करे कि इस प्रकार के विद्यार्थियों के लिए प्रस्तुत पाठ्यक्रम कितना उपयुक्त है? क्या विद्यार्थी की रुचि व कठिनाई के संबंध के आधार पर पाठ्यक्रम चुनौतीपूर्ण है? क्या शिक्षा विधियां उपयुक्त है? अथवा क्या विद्यालय की गतिविधियों में पर्याप्त विविधता है? आदि मिथ्या समायोजन के प्रतिस्थापन से रक्षा मिथ्या समायोजन प्रतिस्थापन में दो मुख्य रक्षायूक्तियों "स्व" की रक्षा के लिए युक्त होती है। (i) क्षतिपूर्ति (Compensation) एवं (ii) उदात्तीकरण (Sublimation) सर्वप्रथम एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य के प्रतिस्थापन से उन्नत आवश्यक व अस्थायी मिथ्या समायोजन बालक के स्वस्थ समायोजन तथा विकास में सहायक है?

क्षतिपूर्ति की युक्ति बालक के दुर्व्यवहार से परेशान शिक्षक के लिए सहायक है। शिक्षक थोड़ा सा समय देकर बालक के उक्त व्यवहार में छिपी हुई भग्नाशा (Frustration) को ज्ञात कर सकता है। क्योंकि बालक को स्वयं पता नहीं होता है कि ऐसा व्यवहार किस क्षति की पूर्ति के लिए वह कर रहा है? ऐसी स्थिति में शिक्षक आंतरिक व बाह्य रूप में क्षति के लिए कारणों का पता लगाकर बालक के लिए स्वस्थ समायोजन में सहायक हो सकता है।

उदात्तीकरण की रक्षापूर्ति के दुर्व्यवहारिक समायोजन के लिए लाभप्रद मानी गई है। इसको अनजाने में प्रयुक्त आत्मवचंनायुक्त व्यक्ति की अपेक्षा लाभदायक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में शिक्षक द्वारा विकसित किया जाना चाहिए। जब शिक्षक व विद्यार्थी दोनों पारस्परिक अवबोध के आधार पर प्रतिस्थापन संबंधी यूक्तियों द्वारा नये उद्देश्य का एक सीमा तक महत्व समझ जाते हैं तब समायोजन द्वारा व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास होता है।

4.6 समाजमिति से तात्पर्य

किसी व्यक्ति को ठीक प्रकार से समझने के लिए उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं, रुचियों एवं अभिरुचियों, विशेषताओं एवं निष्ठाओं आदि की जानकारी आवश्यक है। साथ ही साथ समूह का ज्ञान, जिसका वह सदस्य है तथा समूह-सदस्य के रूप में उसके क्रियाकलापों तथा संबंधों की जानकारी भी अत्यन्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है। किसी समूह की संरचना एवं परिस्थितियों का मूल्यांकन करने के लिए भी यह जानकारी महत्वपूर्ण है कि उस

समूह के सदस्य एक-दूसरे के साथ किस प्रकार व्यवहार करते हैं। शिक्षक के लिए अपनी कक्षा के छात्र-समूह के पारस्परिक संबंधों एवं संबद्धताओं का ज्ञान उसकी अपनी कार्यक्षता का सदपुयोग तथा सफलता के प्रति आश्वस्त रहने के लिए अनिवार्य है।

नोट

समाजमिति किसी समूह के सदस्यों के पारस्परिक संबंधों का ही अध्ययन हैं। यह समूह की सामाजिक संरचना से संबंधित है। उसके माध्यम से किसी समूह के प्रत्येक सदस्य के रूप में समूह में व्यक्ति का स्थान, प्रतिष्ठा, धारणा एवं कार्यशैली आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। कक्षा-समूह में किसी छात्र की अपने सहपाठय में स्थिति तथा छात्रों के पारस्परिक संबंधों एवं प्रतिबद्धता का ज्ञान भी इस विशेष द्वारा प्राप्त होता हैं।

समाजमिति का विकास **जैकब मोरेन्नो** (1934) द्वारा समव्यस्कों के समूह में पारस्परिक संबंधों एवं अन्तःक्रियाओं पर शोधकार्य हेतु किया गया। इसमें शिक्षक अथवा अभिभावक की अभिव्यक्ति के स्थान पर सहकार्य करने वाले की अभिव्यक्ति को महत्व दिया गया है। इस दृष्टि से यह अन्य पर्यवेक्षण पद्धतियों से भिन्न है। इसमें प्रत्येक समवयस्क अपने समूह के अन्य साथियों का पूर्व निश्चित कार्य के संबंध के स्थान का निर्धारण करता है। इसके द्वारा किसी बाह्य व्यक्ति के द्वारा स्थान का निर्धारण से किसी समूह पर पड़ने वाले प्रभाव की सम्भावना समात हो जाती है। बाहर व्यक्ति का एक समूह के सदस्यों के पूर्ण रूप से परिचित होना भी संभव नहीं है। बाहर व्यक्ति द्वारा स्थान निर्दिष्ट करने के आधार के संदर्भ में अपने पूर्वाग्रह भी हो सकते है।

एक शिक्षक की अपेक्षा कक्षा के छात्र/छात्राओं को पारस्परिक अन्तःक्रियाएँ करने एवं पहचानने का अधिक अवसर है। वे शिक्षक की अपेक्षा अपने पारस्परिक संबंधों एवं एक-दूसरे के प्रति दृष्टिकोण की अधिक जानकारी रखते है। एक-दूसरे के गुण-दोषों, रुचियों एवं अभिवृत्तियों तथा आदतों की भी अधिक जानकारी रखते है। अतः उनकी किसी निश्चित आधार पर एक-दूसरे के बारे में अभिव्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है, तथा यह अभिव्यक्ति अधिक तथ्यपरक एवं विश्वसनीय भी होगी।

समाजमिति किसी समूह के सदस्यों की आन्तरिक संबंधों अर्थात उसकी सामाजिक संरचना का अध्ययन है। समूह के साथ-साथ रहते, कार्य करते हुए सदस्यों के मध्य अनेकानेक अन्तःक्रियायें होती है। जिसके कारण समूह के सदस्यों के मध्य एक अनौपचारिक संरचना विकसित होती है। इस संरचना का आधार विभिन्न स्तर की सकारात्मक एवं नकारात्मक अन्तः वैयक्तिक अनुभव होते है। और ये निकटता एवं दूरियाँ समूह की नैतिकता एवं कार्यकुशलता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होती है।

4.7 समाजमिति में वरीयता चुनने के आधार

समाजमिति में समूह के प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह किसी विशेष कार्य के सम्पादन के संदर्भ में समूह के ही अपने साथियों में से एक या दो का वरीयता क्रम में उल्लेख करें। पूर्व चयनित कार्य- समूह के सदस्यों के द्वारा अपने साथियों के स्थान-निर्दिष्ट हेतु एक आधार होता है। यदि चयनित कार्य के सम्पादन हेतु विभिन्न समूह के निर्माण की आवश्यकता हो, तो शिक्षक प्रत्येक सदस्य से ऐसे एक या दो साथियों के नाम का उल्लेख करने को कहेगा, जिनके साथ वे काम करना चाहेंगे। इसकी विलोम स्थिति का भी उपयोग किया जा सकता है। तब शिक्षक एक या दो ऐसे सहयोगियों का उल्लेख करने का निर्देश देगा जिनके साथ वे काम करना नहीं चाहेंगे।

उल्लेख किए जाने वाले सहयोगियों की संख्या का निर्धारण निम्न बात पर निर्भर करता हैं—

(अ) समूह के सदस्यों की निर्णय संबंधी परिपक्वता – सामान्य रूप से छोटी कक्षाओं मे चयनित कार्य के संदर्भ में एक या दो सहयोगियों का ही उल्लेख करने आग्रह करना उचित है। अधिक आयु के बालकों अथवा प्रौढों द्वारा वरीयता में अधिकतम पाँच सहयोगियों का चयन करने के लिए भी आग्रह किया जा सकता है।

(ब) समूह के सदस्यों की संख्या – इस अथवा बारह सदस्यों के समूह में एक ही सदस्य का चयन पर्याप्त है। तीस अथवा चालीस सदस्यों वाले समूह में तीन या चार सदस्यों का वरीयता क्रम में चयन करना भी ठीक रहेगा।

नोट

(स) स्थान निर्दिष्टता में अन्तर्निहित उद्देश्य – समाजमिति हेतु स्थान निर्दिष्टता में उद्देश्य भी महत्वपूर्ण है। यदि उद्देश्य सभी सदस्यों के मध्य अन्तःक्रियाओं का मापन है. तो असीमित स्थान के लिए निर्दिष्ट करने का आग्रह किया जाना चाहिए। इससे किसी सदस्य को अदृश्य रखने की स्थिति नहीं बनेगी। यदि किसी कार्य के सम्पादन हेतु योग्य व्यक्तियों का चयन एवं खेल समूह का निर्माण करना है तो स्थान निर्दिष्ट हेतु संख्या सीमित करना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजमिति विधि में समूह रहे सभी सदस्यों को चयन हेतु अभिव्यक्ति के समान अवसर है। चयन हेतु अभिव्यक्ति का आधार एक पूर्व निर्धारित विशेष मापदंड होता है। जो समूह की व्यावहारिक क्रिया से संबंधित होता है। प्रत्येक अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न स्तर का चयन निश्चित रहता है।

छात्र समूह के पारस्परिक संबंधों एवं अन्तःक्रियाओं से अवगत होने के लिए अपने छात्रों को अभिप्रेरित कर वरीयता चुनने के लिए निम्न प्रयास कर सकता है।

- साथ-साथ अध्ययन हेतु किन्हीं तीन साथियों का चयन।
- छात्रावास के एक ही कक्ष में साथ-साथ रहने हेतु तीन सहपाठियों का चयन।
- मित्रता हेतु उपयुक्त किन्हीं दो साथियों का चयन।
- साक्षरता प्रसार कार्य हेतु चार साथी जिनके साथ आप संलग्न होना चाहेंगे।
- समूह के रूप में सेवा कार्य सम्पादन हेतु आपकी टीम के अन्य दो साथियों का चयन।

4.8 सामाजिक संबंध की सूची और सारणीयन

उदाहरण - मित्रता की जानकारी के लिए एक कक्षा के 17 छात्र-छात्राओं से वरीयता क्रम में दो साथियों का चयन करने का आग्रह किया गया। प्राप्त जानकारी को निम्न सूची के रूप में प्रस्तुत किया गया है—

चयनकर्ता	प्रथम चयन	द्वितीय चयन
अजीत	अर्जुन	लक्ष्मी
बसंत	कृष्ण	परमेश
द्रोपदी	लक्ष्मी	रजनी
अशोक	सुरेश	कृष्ण
रमेश	अजीत	अभिमन्यु
लक्ष्मी	सुकन्या	दीपा
गीता	रजनी	कृष्ण
सीता	दीपा	सुकन्या
राधा	द्रोपदी	लक्ष्मी
अभिमन्यु	लक्ष्मी	अजीत
सुरेश	गीता	कृष्ण
परमेश	लक्ष्मी	अजीत
अर्जुन	अभिमन्यु	अजीत
दीपा	लक्ष्मी	सुकन्या
कृष्ण	अशोक	गीता

नोट

अब चयन संबंधी प्राप्त इस जानकारी को सारणी के रूप में उल्लेख करते हैं। यहां पर प्रत्येक छात्र/छात्रा की चयन की प्रथम वरीयता को 1 तथा द्वितीय वरीयता को 2 से अंकित किया गया है। सारणी के नीचे की ओर प्रत्येक छात्र की प्रथम वरीयता एवं द्वितीय वरीयता का उल्लेख किया गया है जिन्हें चयनित नहीं किया गया है उनके नीचे के स्थान को छोड़ दिया जाता है। पारस्परिक चयन को तारांकित किया गया है।

	अजीत	बसन्त	द्रोपदी	अशोक	रमेश	लक्ष्मी	गीता	सीता	राधा	अभिमन्यु	सुरेश	परमेश	अर्जुन	दीपक	रजनी	सुकन्या	कृष्ण
अजीत						2							1				
बसन्त												2					1
द्रोपदी						1									2		
अशोक											1						2
रमेश	1									2							
लक्ष्मी														2		1	
गीता															1		2
सीता														1		2	
राधा			1			2											
अभिमन्यु	2					1											
सुरेश							1										2
परमेश	2					1											
अर्जुन	2									1							
दीपक						1										2	
रजनी							2										
सुकन्या						2		1									
कृष्ण				1			2										
प्रथम चयन	1		2	1		4	1	1		1	1			1	1	1	1
द्वितीय चयन	3					3	2			1		1		1	1	2	3
प्रथम चयन अंक	2		4	2		8	2	2		2	2		2	2	2	2	2
द्वितीय चयन अंक	3					3	2			1	1		1	1	1	2	3
योग	5		4	2		11	4	2		3	2	1	2	3	3	4	5

4.9 सारणी के परिणामों की व्याख्या

इस सारणी में चयन वरीयता को अंको में परिवर्तन करने हेतु प्रथम चयन वरीयता को दो अंक एवं द्वितीय चयन वरीयता को एक अंक प्रदान कर प्रत्येक अंक की गणना की जाती है। उपर्युक्त सारणी के नीचे की ओर क्षैतिज पंक्तियों में यही गणना की गई है।

इसमें सर्वाधिक अंक 11 लक्ष्मी द्वारा प्राप्त किए गए है। अत: वह इस समूह की सर्वाधिक प्रिय सदस्य है। दूसरे स्थान पर अजीत एवं कृष्ण है, जिनमें प्रत्येक ने 5 अंक प्राप्त किए हैं। तृतीय स्थान पर द्रोपदी, गीता एवं सुकन्या हैं। इन तीन में प्रत्येक ने 4 अंक प्राप्त नहीं किया है। अत: समूह के सदस्यों में यह अस्वीकार्य है।

नोट

4.10 समूह की संरचना की व्याख्या में प्रयोग किए जाने वाले कुछ शब्द

सारणी के अध्ययन से समूह की संरचना के संदर्भ में कुछ नए शब्द सामने आए हैं। समाजमितीय अध्ययन के लिए उनका ज्ञान भी आवश्यक है जिससे उनका उपयोग ठीक संदर्भ में ही किया जा सके।

समव्यस्क समूह (Peer Group) – यह वह समूह है जिसके सभी सदस्य लगभग समान आयु के हैं तथा जिनके बीच नियमित क्रिया-प्रतिक्रिया के अवसर उपलब्ध रहते हैं। इसके सदस्य पास-पड़ौस में, विद्यालय में कक्षा-स्तर एवं खेल के मैदान पर सहज ही उपलब्ध रहते है। इनमें आयु मानसिक विकास, शैक्षणिक स्तर आदि में काफी समानता रहती है।

सर्वप्रिय/अथवा स्टार (Star) – यह समूह के वे सदस्य है जो समूह में अत्यधिक लोकप्रिय हैं। समूह के लगभग सभी सदस्य उसके साथ रहना चाहते हैं और उनसे नेतृत्व प्राप्त करते हैं। उनका चयन समूह के लगभग सभी सदस्य करते हैं।

अलग-अलग या अलगाव में रहने वाले (Isolated) – समूह के वे सदस्य जो समूह में समायोजित नहीं है। समूह के अन्य सदस्य उनका चयन नहीं करते हैं। अत: वे समूह क्रियाओं में सक्रिय नहीं रहते है।

अस्वीकृत (Rejected) – समूह के वे सदस्य हैं जिनके साथ अन्य सदस्य संवाद स्थापित नहीं करना चाहते हैं और दूरी बनाए रखते हैं। समूह कार्यों में सभागिता हेतु उन्हें उपयुक्त नहीं पाया जाता है।

हटने या दूर जाने वाले (Cleavages) – समूह के वे सदस्य है जो समूह में रहते हुए भी समूह की मान्यताओं, परम्पराओं एवं आदर्शों से विमुख बने रहते हैं। इनकी मानसिकता पूरी तरह समूह के अनुकूल नहीं होती है।

श्रृंखलाएं (Chains) – समूह के वे सदस्य है जो क्रमश: एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा एवं इसी प्रकार अन्य से श्रृंखलावत जुड़े रहते हैं। ये पारस्परिक संबंधों में निकटता बनाते है एवं एक-दूसरे के साथ जुड़कर रेखीय सामाजिक श्रृंखला बनाते हैं। सदस्यों द्वारा निर्मित इस प्रकार के संबंध श्रेणियां या श्रृंखलाएं कहलाती है।

सामाजिक गुट अथवा मण्डलियां (Cloigues) – समूह के अन्तर्गत ही ऐसे छोटे-छोटे समूह को, जिनके सदस्य किसी निर्धारित आधार पर यथा सिद्धान्त या विचार या कार्य प्रणाली आदि के कारण निकट आ जाते है, वे उपसमूह अथवा गुट का निर्माण करते हैं।

4.11 सामाजिक संबंधों का चित्रण तथा व्याख्या

सामाजिक संबंधों को व्यक्त करने एवं अध्ययन हेतु पिछले पृष्ठ में एक सूची एवं सारणी का उल्लेख किया गया है। इस हेतु सामाजिक संबंध चित्रण का भी प्रयोग किया जा सकता है। हम सामाजिक संबंधों की सूची को सारणी के रूप में परिवर्तन करने का अध्ययन कर चुके हैं। नीचे सामाजिक संबंध सूची को सामाजिक संबंध चित्रण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अवलोकन से ही समूह के सदस्यों के पारस्परिक संबंधों तथा सर्वप्रिय, अलग-अलग, अस्वीकृत समूह से हटकर व्यवहार युक्त, श्रृंखला एवं युक्त आदि का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है।

नोट

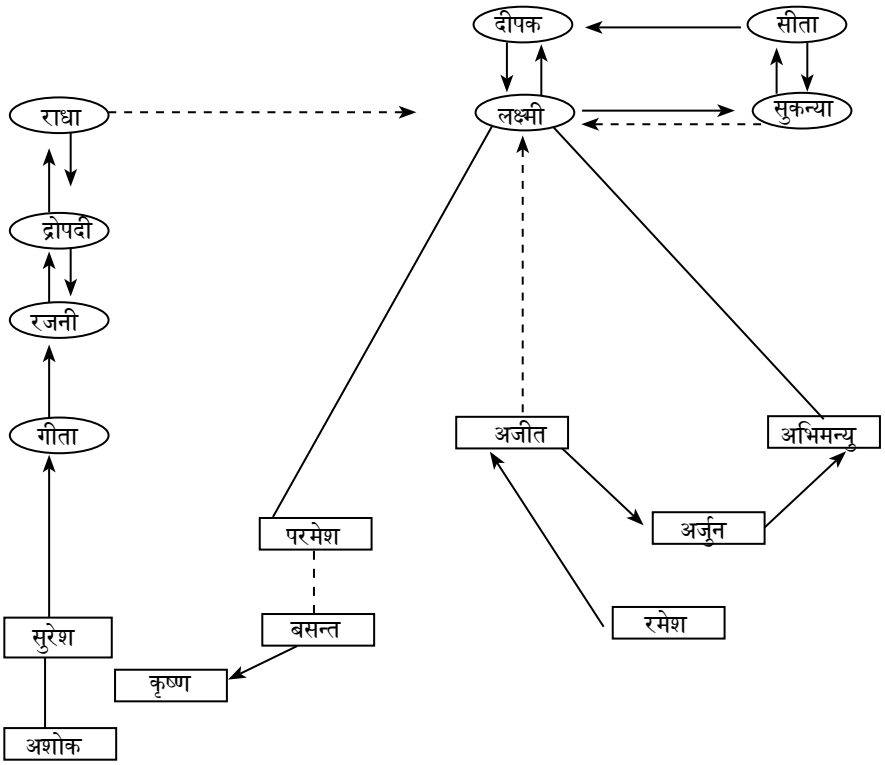

उपर्युक्त चित्र के अध्ययन हेतु निम्न संकेत को ध्यान में रखें-

लड़का लड़की

प्रथम वरीयता चयन

द्वितीय वरीयता चयन

पारस्परिक प्रथम वरीयता चयन

पारस्परिक द्वितीय वरीयता चयन

उपर्युक्त सामाजिक संबंध चित्रण से स्पष्ट है कि लक्ष्मी इस समूह में सबसे मुख्य है। उसका चयन समूह के अधिकांश सदस्यों द्वारा किया गया है। यही स्थिति कृष्ण एवं अजीत की है। श्रृंखला के रूप में बसंत, कृष्ण, अशोक, सुरेश, गीता, रजनी, द्रोपदी, लक्ष्मी द्वारा प्रस्तुत रेखीय संबंध का उदाहरण है। ये सीमान्त पर है तथा वास्तव में समूह के सदस्य नहीं है। अलग-अलग के उदाहरण के रूप में बसंत, राधा एवं रमेश हैं इनका अन्य द्वारा चयन नहीं किया गया है। सामाजिक गुट के रूप में दीपा, सीता, लक्ष्मी एवं सुकन्या है। यह इस समूह में एक उप-समूह है। इसी प्रकार एक दूसरा गुट जिसके अजीत, अभिमन्यु अर्जुन एवं रमेश सदस्य है, समूह के अन्तर्गत ही एक उप-समूह के रूप में है। इस प्रकार के गुट शिक्षक के लिए समस्या हो सकते है तथा पूरे समूह के संबंधों के लिए कुप्रभावकारी भी हो सकते है—

सामाजिक संबंध चित्रण से निम्न अन्य तथ्य भी स्पष्ट है –

- छात्र एवं छात्राओं में भी समलिंग के सदस्यों के चयन की प्रवृत्ति व्याप्त है। किसी भी छात्रा के द्वारा छात्रा को प्रथम वरीयता चयन के रूप में चयनित नहीं किया गया है। जबकि छात्रों तथा दो छात्राओं का प्रथम वरीयता देकर चयनित किया है।
- सामाजिक संबंध चित्रण से यह स्पष्ट हो रहा है कि सम्पूर्ण समूह दो भागों में विभक्त हो गया है। दाई ओर एवं बाई से समूह के बीच लक्ष्मी एक संघटक का कार्य कर रही हैं जो कक्षा समूह के अधिकाशं

नोट

सदस्यों में अत्यधिक लोकप्रिय है। समूह में दूसरा सम्पर्क सूत्र अजीत है जो स्वयं भी लक्ष्मी के बाद सम्पूर्ण समूह में लोकप्रिय है।

- अजीत एवं कृष्ण की लोकप्रियता छात्रों तक ही सीमित है क्योंकि इन्हें किसी भी छात्रा द्वारा चयन वरीयता नहीं दी गई है। सामाजिक संबंध चित्रण किसी समूह की सामाजिक संरचना को जानने का सबसे अधिक उपयुक्त माध्यम है क्योंकि-
- इससे समूह के सदस्यों के पारस्परिक एवं आन्तरिक संबंधों का पता चलता है तथा प्रत्येक सदस्य की सम्पूर्ण समूह के साथ संबंधों तथा स्थान का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

एक शिक्षक को अपने छात्र समूह के सदस्यों के बारे में, जिनके साथ उसे कार्य करना है, वे सभी तथ्य प्राप्त हो जाते हैं जिसके आधार पर उसे अपने कार्य सम्पादन में सुविधा प्राप्त होती है तथा अपने कार्य को प्रभावी बनाना भी संभव हो जाता है।

4.12 समाजमिति के परिणाम और शिक्षक की भूमिका

शिक्षक से अपेक्षा है कि इस विधि से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उसे यथाशीघ्र कार्य करना प्रारम्भ कर देना चाहिए क्योंकि समूह के सदस्यों पर इसका धनामक प्रभाव पड़ता है। सामाजिक संबंध चित्रण के अन्य निम्न महत्वपूर्ण उपयोग है—

- इसके माध्यम से समूह में पारस्परिक संबंध चयन वरीयता, लोकप्रियता, नेतृत्व, अलगाव, अस्वीकृत, गुट संबंधता आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।
- समूह संरचना से संबंधित जाति-प्रजाति, राष्ट्रीयता आदि का ज्ञान भी प्राप्त होता है।
- समूह संरचना के संबंध में आयु एवं परिपक्वता का अध्ययन संभव हो जाता है।
- सम्पूर्ण समूह संरचना में विद्यालय के बाह्य समूह जैसे स्काउटन शैक्षणिक कार्य संबंध समूह आदि के निर्माण में इस विधि का काफी उपयोग हो सकता है।
- किन्हीं अनुभवजन्य प्रभावों का सामाजिक संरचना संबंधी अध्ययन भी अनुभव से पूर्व एवं पश्चात् निर्मित सामाजिक संबंध चित्रण की तुलना द्वारा किया जा सकता है।

सामाजिक संबंध चित्रण के उपयोग संबंधी सीमाएँ

सामाजिक संबंध चित्रण के उपयोग की अपनी कतिपय निम्न सीमाएँ है। इनका ध्यान रखकर ही इसका प्रयोग करना अपेक्षित है।

(क) शिक्षक एवं छात्रों के बीच सम्पर्क की वैधता की सीमा ही सामाजिक संबंध चित्रण हेतु प्राप्त आंकडों/सूचनाओं की वैधता निर्धारित करती है। इन आंकडों/सूचनाओं पर आधारित निष्कर्ष उतने ही वैध एवं विश्वसनीय होंगे जितने वैध एवं विश्वसनीय संबंध शिक्षक एवं छात्रों के मध्य है। क्योंकि इसी आधार पर तो छात्रों से संकलित सूचनाएँ वैध एवं विश्वसनीय होगी।

(ख) समूह की सामाजिक संरचना परिवर्तनशील है। विशेष रूप से नवयवुक/नवयवुतियों में यह संरचना बहुत अधिक परिवर्तनशील है। अत: मात्र एक ही सामाजिक संबंध चित्रण से प्राप्त निष्कर्ष पर निर्भरता बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं है। इस हेतु एक से अधिक विधियों से आँकड़े/सूचनायें एकत्रित करना एवं उनसे सामाजिक संबंध चित्रण बनाकर उनका तुलनात्मक अध्ययन कर निष्कर्ष पर पहुँचना उपयुक्त है।

(ग) आकंडे/सूचनाएँ प्राप्त करने की विधि भी समूह के सदस्यों से प्राप्त उत्तरों को प्रभावित करते है, जिसके कारण सही निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव हो जाता है। इस प्रकार से प्राप्त आंकड़े/सूचनाएँ भ्रमित करते

है। उदाहरण के तौर पर सामाजिक संबंध चित्रण से सशक्त, अशक्त या विरोधाभास का पता नहीं चलता है। यह संभावना तब कई बार हो सकती है, जब वरीयता क्रम में अधिक चयन किए जाने हों, तो हो सकता है कि समूह-सदस्य किसी ऐसे सदस्य का चयन करें जिसके बारे में पूर्व में उनके मन में कभी कोई विचार ही पैदा नहीं हुआ है या संभवतः उसके प्रति विपरीत भाव ही रहा हो।

नोट

(घ) सामाजिक संबंध चित्रण केवल स्थिति से परिचित कराता है। वह मात्र संबंधों को बतलाता है। वह स्थिति में अन्तर्निहित कारक के बारे में मूक है। संबंधों में अन्तर्निहित कारणों पर प्रकाश नहीं डालता है।

सही आंकडों/सूचनाओं के अभाव में सामाजिक संबंध चित्रण से प्राप्त निष्कर्ष के संदर्भ में किए गए उपाय समस्या-समाधान की अपेक्षा समस्या-जनक सिद्ध हो सकते है। यथा यह पता चलने पर कि अमकू छात्र अन्य विद्यार्थियों को स्वीकार्य नहीं है। अत: वह अलग-अलग रहता है। अध्यापक अपने अधिकार का उपयोग कर यदि कक्षा को उसे स्वीकार करने का निर्देश दे, तो यह आदर्शों सम्पूर्ण कक्षा को सहज स्वीकार नहीं होगा। समस्या-समाधान के स्थान पर एक नई तथा अधिक गम्भीर समस्या को पैदा करेगा। अत: यह आवश्यक है कि सामाजिक संबंध चित्रण के निष्कर्ष को आँकडे /सूचनाएँ एक करने वाले अन्य साधन यथा घटनावतृ, साक्षात्कार आदि का भी उपयोग कर पुष्टि की जाये। शिक्षक एवं अभिभावक के विचार भी जानने का प्रयास किया जाए तभी उन निष्कर्ष से लाभ भी उठाना होगा।

4.13 सामाजिक सूचिकाएँ

समाजमिति में सामाजिक सूचिकाओं/संबंधों की व्याख्या हेतु कुछ सूत्रों का प्रयोग किया जाता है। संक्षेप में इनका वर्णन निम्नवत् है—

सामाजिक सूचिकाएँ

(अ) आन्तरिक समूह सूचिकाएँ

(1) समूह अन्त: क्रिया सूचिका (Group Interaction Index)

$$Igi = \frac{Ca \times 100}{Ca}$$

यहा ँ Ca समूह के अंदर व्यक्त पसंद की संख्या

Ca समूह के अंदर सैद्धान्तिक रूप में सम्भव पसन्द की संख्या का उपयोग प्रत्येक समूह में प्राप्त होने वाली अन्त: क्रिया के परिणाम की तुलना करने हेतु किया जाता हैं।

(2) सामाजिक चयन-स्तर सूचिका (Social metric 'choice' Status Index)

$$Ig\ St = \frac{Co}{N - 1}$$

जहां Ci = किसी एक व्यक्ति द्वारा प्राप्त पसन्द की संख्या

N = समूह में चयन करने वाले की संख्या

इसका उपयोग समूह के विभिन्न सदस्यों की चयन वरीयता की तुलना करने हेतु किया जाता है।

(3) समूह विभाजन सूचिका (Group Disintegration Index)

$$Igdi = \frac{Ra \times 100}{Ra}$$

नोट

यहाँ Ra = समूह के अंदर की गई अस्वीकृतियों की संख्या

Ra = सैद्धान्तिक रूप से समूह के अंदर संभव होने वाले चयन की संख्या इसका उपयोग समूह विभाजन का ज्ञान प्राप्त करने हेतु किया जाता है।

(4) समूह में मेल-मिलाप सूचिका (Group Cohesion Index)

$$Igc = \frac{Npm \times 100}{N(N-1)/2}$$

यहाँ Nmp = समूह के अंदर पारस्परिक चयन करने वाले जोड़ों की संख्या

N = समूह में चयन करने वाले की संख्या

इसका उपयोग समूह में पारस्परिक मेल-मिलाप की तुलना करने में लिया जाता है।

(5) समूह एकता सूचिका (Group Integration Index) -

$$Ig \text{ int} = \frac{1 \times 100}{Niso/Na}$$

यहां $Niso$ = समूह से पथृक रहने वाले की संख्या इसका उपयोग समूहों की एकता की तुलना करने में किया जाता है।

(ब) अन्तर समूह सूचिका

समूह में मिलाप सूचिका (Inter Group Index) -

$$\text{Ig co} = \frac{c(ca + ci)}{I \times Co}$$

यहाँ Ca = समूह के अंदर के सदस्यों के लिए दी गई चयन संख्या

Ci = बाह्य समूह से समूह के अंदर आने वाले चयन संख्या

Co = समूह से बाहर जाने वाली चयन संख्या

0 = बाह्य समूह की आन्तरिक समूह से मिलने वाले चयन संख्या

I = समूह की सदस्य संख्या

4.14 समूह गतिशास्त्र किसे कहते हैं?

समूह गतिकि सम्प्रत्यय का प्रतिपादन कुर्ट लेविन ने 1945 में किया। लेविन के अनुसार समूह गतिकि से तात्पर्य समूह के विशेषकर छोटे समूह के उन बलों एवं प्रभावों से होता हैं जिनसे सदस्यों का व्यवहार एक निश्चित दिशा में परिवर्तित होता हैं। समूह गतिकि का तात्पर्य समूह के भीतर के उन बलों एवं दबावों से होता हैं जो सदस्यों के व्यवहारों को इस सीमा तक प्रभावित करते हैं कि उनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं। समूह में प्रत्येक सदस्य का एक अपना विशिष्ट स्थान होता हैं। प्रत्येक सदस्य अपने इस विशिष्ट पद या स्थान के अनुसार व्यवहार करता हैं।

प्रत्येक सदस्य का व्यवहार अन्य सदस्यों द्वारा किये गये व्यवहारों द्वारा प्रभावित होता हैं। समूह में समरसता तथा विद्यटनकारी दोनो तरह के बल कार्य करते हैं। इन दोनो तरह के बलों से सदस्यों का व्यवहार प्रभावित होता हैं तथा समूह में परिवर्तन आता हैं। जब सदस्यों में समरसता रहती हैं। ऐसी स्थिति में सदस्यों की अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति होती हैं। जब सदस्यों के लक्ष्य तथा समूह के लक्ष्य में संघर्ष होता हैं या सदस्यों के बीच उचित संचार में बाधा होने से उनके बीच दीवार खड़ी हो जाती हैं तो समूह में विद्यटनकारी बल अधिक सक्रिय

माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में समूह का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता हैं।

अंग्रेजी का शब्द Dynamics'जिसका अर्थ हैं गति, यह ग्रीक भाषा के शब्द से निकला हैं जिसका अर्थ हैं। शक्ति। समूह गतिशीलता उन शक्तियों का ज्ञान देता हैं जो एक समूह में सक्रिय होती हैं उन शक्तियों का अध्ययन समूह गतिशीलता का अन्वेषण का विषय होता हैं। यह अन्वेषण दिशा में होते हैं जिससे यह पता चल जाए कि शक्तियां किस प्रकार उभरती है? किन परिस्थितियों में ये शक्तियां सक्रिय होती हैं? क्या इनके परिणाम होते हैं? और किस प्रकार से उनका रूपान्तर किया जा सकता हैं? समूह विज्ञान की जानकारी किस उद्देश्य के लिए उपयोग करना?

नोट

मनोवैज्ञानिक क्रेच एवं क्रेचफील्ड के अनुसार ''समूह गतिशीलता का अर्थ हैं समूहो के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन'' प्रो0 ट्रो. ने समूह गतिशीलता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''समूह गतिशीलता एक वैज्ञानिक अध्ययन हैं जो विभिन्न समूह सम्बन्धों में व्यक्ति के व्यवहार और विभिन्न आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों के अन्तर्गत समूह प्रक्रियाओं का कभी-कभी उनकी प्रभावकारिता को बढ़ाने के विचार से अध्ययन करता हैं।,

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समूह गति-विज्ञान समूह व्यवहार को परिचालित करने वाली शक्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन हैं।

समूह गतिशीलता की विशेषताएं

1. समूह गतिशीलता के कारण समूह का प्रभाव क्षेत्र बनता हैं और इसे बढ़ाया जा सकता हैं।
2. सामाजिक अन्तः प्रक्रिया के सकारात्मक आधार हैं - सहयोग, प्रतिस्पर्धा, व्यवस्था एवं परिपाक इसमे समूह का विकास होता हैं। इनके परिवर्तन संघर्ष सामाजिक अन्तः प्रक्रिया का नकारात्मक आधार जिसके कारण समूह का विघटन हो सकता हैं।
3. व्यक्ति की तरह समूह का भी एक व्यवहार हैं जो परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील होता हैं।
4. समूह गतिशीलता वैज्ञानिक ढंग से यह जानने का प्रयास करता है कि समूह की विभिन्न आन्तरिक एवं बाह्य दशाओं में व्यक्ति का व्यवहार और सामूहिक प्रक्रियाएं किस प्रकार होती हैं।

समूह व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्व

प्रत्येक समूह का एक समूह व्यवहार होता हैं और यह समूह व्यवहार आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितियों के कारण परिवर्तित होता रहता हैं। यह परिवर्तन समूह को विकास की दिशा में भी ले जा सकता हैं और विनाश की ओर भी प्रवृत्त कर सकता हैं। समूह की दिशा प्रगति की ओर होने पर इसमें दृढ़ता आती हैं और समूह के प्रत्येक घटक की आवश्यकताओं की पूर्ति होती हैं। व्यक्ति के साथ-साथ समूह भी विकसित होता हैं। इसके विपरीत यदि समूह की दिशा गति की ओर होती हैं तो समूह की दृढ़ता में कमी आती हैं व्यक्ति समूह को अपने अनुसार मोड़ने का प्रयास करते हैं और अन्त में समूह बिखर जाता हैं अतः ऐसे तत्वों का अध्ययन करना आवश्यक हैं जिनके कारण समूह एवं उनके सदस्य प्रगति की ओर बढ़ते हैं ये तत्व हैं:-

1. **प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया** – यदि समूह के लक्ष्यों के निर्धारण में समूह के क्रिया-कलापों के समायोजन में ओर आपसी अन्तः सम्बन्धों को बढ़ाने में प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया अपनायी जाती हैं तो सदस्यों की भागीदारी बढ़ती हैं उन्हें सन्तुष्टि मिलती हैं और उसे समूह की दृढ़ता उत्तरोत्तर बढ़ती हैं।
2. **व्यक्तिगत एंव समूह लक्ष्य** – प्रत्येक समूह के अपने लक्ष्य होते हैं। व्यक्ति किसी समूह से तभी जुड़ता हैं जब उसके व्यक्तिगत लक्ष्यों की पूर्ति उस समूह में रहते हुए हो सकती हैं जब भी व्यक्ति को लगता हैं कि उसके व्यक्तिगत लक्ष्यों की पूति समूह में रहने में नहीं हो पा रही हैं तो वह समूह को त्याग देता हैं। यदि समूह के लक्ष्यों को सदस्यों की इच्छाओं के अनुरूप समय-समय पर संशोधित

नोट

किया जाता रहता हैं तो सदस्यगणों को आकर्षण समूह के प्रति बना रहता हैं और समूह दृढ़तर होता जाता हैं।

3. **प्रतिस्पर्धा** – समूह के व्यक्तियों के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धाओं के आयोजन से उनका समूह के प्रति आर्कषण बढ़ता हैं। जब ये प्रतिस्पर्धाएं खेल भावना को बढ़ाने में प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया अपनायी जाती हैं तो सदस्यों की भागीदारी बढ़ती हैं, उन्हें सन्तुष्टि मिलती है और उससे समूह की दृढ़ता उत्तरोतर बढ़ती हैं।

कक्षा एक समूह के रूप में

कक्षा एक समूह के रूप मे कार्य करता हैं। कक्षा एक अनुदेशनात्मक समूह के रूप में अपनी सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायता करता हैं। कक्षा की संरचना विभिन्न विषयों के मध्य स्थायी सम्बन्धों के प्रतिमान को इंगित करती हैं प्रत्येक कक्षा की अपनी अलग संरचना होती हैं। कक्षा की संरचना विभिन्न शक्तियों से मिलकर बनता है। संस्था की वैधानिक आवश्यकता भी एक शक्ति हैं। संस्था के द्वारा नियम पालन व अध्यापकों और विद्यार्थियों को नियमों की अनुपालना की बाध्यता कक्षा के संगठन को निर्धारित करती हैं। पब्लिक स्कूलों की वित्तीय व्यवस्था उसके कक्षा समूहों की संरचना का निर्धारण करती हैं।

विद्यालय द्वारा प्रतिबन्धित विद्यालयी सभा व निर्वाचित कमेटीया भी कक्षा समूह के संगठन को प्रभावित करेगी। समुदाय के रीति-रिवाज व सांस्कृतिक कारक भी कक्षा संरचना को प्रभावित करते हैं। समुदाय मे अधिनायकवादी संरचना से प्रेरणा पाकर कक्षाओं में भी अधिनायकवादी संगठन देखने को मिलता हैं। विद्यालयी समुदाय के विद्यार्थी, अध्यापक, प्रधानाध्यापक व अन्य कर्मचारी विद्यालयी समुदाय की आवश्यकताएं भी महत्त्वपूर्ण हैं। कक्षा समूह में विद्यार्थियों की आवश्यकताएं निश्चित रूप से उसके संगठन को प्रभावित करेगी। विद्यार्थियों की आवश्यकताएं मुख्य रूप से वृद्धि एवं विकास, सामाजिक विकास, मित्रता व अधिगम से सम्बन्धित हैं। अन्य व्यक्तियों (कर्मचारी, अध्यापक, प्रधानाध्यापक) की आवश्यकताएं भी कक्षा संगठन को प्रभावित करती हैं। कक्षा की संरचना को उसके विभिन्न आयामों को जानकर समझा जा सकता हैं। संगठनात्मक आयाम को विभिन्न दृष्टिकोणों से जाना जा सकता हैं। फलैन्डरस ने तीन आयाम - सत्ता, लक्ष्योन्मुखता व सामाजिक पहुँच उपलब्धता का सुझाव दिया हैं।

किसी भी समूह के द्वारा निर्धारित किया कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक हैं। कार्य संरचना को फलैन्डर्स ने लक्ष्योन्मुखता कहा है को सम्मिलित किया जा सकता है। यदि कक्षा के विद्यार्थी प्रदत्त कार्य को महत्वपूर्ण मानते हैं तो वे अपनी सारी उर्जा उसे पूर्ण करने में लगा देते हैं। इससे कक्षा का संगठन निर्धारित होता हैं। द्वितीय आयाम सत्ता संरचना हैं। कक्षाओं में सत्ता प्रतिमान अलग-अलग पाये जाते हैं कक्षा में प्रायः सत्ता का केन्द्रीयकरण अध्यापक में होता हैं। परन्तु कई बार विद्यार्थियों में सत्ता का विभाजन विभिन्न प्रकार से किया जाता हैं यह विद्यार्थियो को दिये गये दायित्वों पर निर्भर करता हैं। तृतीय आयाम सम्प्रेक्षण संरचना हैं जो सत्ता की तरह ही महत्त्वपूर्ण हैं सम्प्रेक्षण की प्रक्रिया एक तरफा हो सकती हैं, जब अध्यापक विद्यार्थियों से अधिकांश समय तक बातचीत करता हैं व विद्यार्थी निष्क्रिय बने रहते हो ऐसा सम्प्रेषण एक तरफा होता हैं जब विद्यार्थियो की सम्प्रेक्षण प्रक्रिया में सहभागिता होती हैं तो इसे प्रवाह चक्र सम्प्रेषण कहा जाता हैं। सम्प्रेषण संरचना सामाजिक पहुंच को प्रभावित करती हैं।

जे.एन. मोरेनो ने कक्षा में सम्बन्धों का अध्ययन करने के पश्चात् सदस्यों के मध्य निम्न प्रतिमान पाए-

1. **अत्यन्त लोकप्रिय** – ये बालक कक्षा में अधिकांश बालकों के द्वारा पसन्द किये जाते हैं।
2. **एकान्त में रहने वाले** – इन बालकों को कक्षा में कोई भी पसन्द नहीं करता।
3. **जोड़े** – ऐसे बालक एक-दूसरे को पसंद करते हैं।

4. **शृंखला** – कक्षा में ऐसी शृंखलाएं पायी जाती हैं। जिससे एक बालक दूसरे बालक को व दूसरा बालक तीसरे बालक को व इस प्रकार शृंखला चलती है।

अध्यापक बालकों की विभिन्न गतिविधियों में मित्रता के प्रतिमानों को समझे। अध्यापक कक्षा में एकाकी बालको को पहचान कर समूह में उनके समायोजन में सहायता करे। अध्यापक को यह भी देखना होगा कि कक्षा में समूह जाति व धर्म के आधार पर न बने।

नोट

कक्षा समूह में सम्बन्ध

कक्षा की संरचना समूह में सदस्यों के मध्य सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं। इन सम्बन्धों की व्याख्या समूह के कार्यो के सन्दर्भ में की जानी चाहिए। किसी भी समूह का महत्त्वपूर्ण कार्य निर्णय लेना हैं। निर्णय कौन लेता है व कैसे लेता हैं। अन्तसम्बन्धों को निर्धारित करता हैं यदि अध्यापक सभी निर्णय स्वंय लेता हैं व विद्यार्थी उन निर्णयों के अनुरूप कार्य करते हैं तो अध्यापक विद्यार्थी सम्बन्ध औपचारिक व अधिनायकवादी होगें। यदि निर्णयन प्रक्रिया में विद्यार्थियों की राय सम्मिलित है तो अन्तसम्बन्धों का स्वरूप अलग होगा। इसी प्रकार से कार्य को करने एवं समस्या समाधान भी अर्न्तसम्बन्धों के निर्धारण के महत्त्वपूर्ण कारक हैं।

अन्य समूहों से सम्बन्ध - कक्षा समूह अन्य समूहों से भी सम्बन्ध स्थापित करता हैं। एक कक्षा समूह को दूसरे कक्षा समूहों के साथ तालमेल करना पड़ता हैं। विद्यार्थियों को विभिन्न प्रकार के व्यवहारों केा उन्नत करने के लिए यह आवश्यक हैं। विभिन्न कक्षा समूह समान विद्यालयी कार्यक्रमों यथा वाद-विवाद, प्रार्थना सभा, खेल, विद्यालयी सभा, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, सामुदायिक कार्य व उत्सवों में आपस में मिलते हैं। कक्षा कार्यक्रमों की सफलता उनके भव्य सम्बन्धों के प्रतिमान पर निर्भर करती हैं।

कक्षा समूह का अधिगम पर प्रभाव

कक्षा समूह की अधिगम को प्रभावित करने में अहम भूमिका हैं इस निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता हैं।

1. **समसमूह टयूटरिंग** – वर्तमान में शैक्षिक उपलब्धि चयन का आधार हैं। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी अपनी एकमात्र क्षमता का अधिकतम उपयोग करने हेतु बहुत बार अपने समवयस्क समूह द्वारा अधिगम में सहायता में समान प्रस्थिति व बौद्धिक क्षमता वाले विद्यार्थी अपने साथियों को सक्रिय सहायता प्रदान कर ज्ञान एवं कौशलों का अर्जन करते हैं। अपने ज्ञान व कौशलों का अर्जन कर सकते हैं। समूह के सदस्य एक-दूसरे की अभिवृत्तियों , पसन्दगियों व मनोवृत्तियों को सकारात्मक रूप में प्रभावित करते हैं।
2. **सदयोगात्मक अधिगम** – इस प्रकार का अधिगम भी समूह में सम्भव हैं। जब दो से अधिक विद्यार्थी एक साथ मिलकर किसी विषय या प्रोजेक्ट पर मिलकर कार्य करते हैं तो समूह में कार्य करते समय एक-दूसरे के अधिगम अनुभवों व विचारों का लाभ उठाते हुये अधिगम के उच्चतम मानदण्डों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता हैं । एलबर्ट बान्डुरा एवं लेव वयोगटस्की जो कि सामाजिक अधिगम सिद्धांत के पक्षधर हैं ने भी सहयोगात्मक अधिगम का समर्थन किया हैं।
3. **अभिप्रेरणा** – कक्षा समूह में विभिन्न समूह प्रक्रियाएं विद्यार्थियों को अभिप्रेरणा प्रदान करती हैं। अभिप्रेरणा अधिगम को अग्रसर करती हैं समूह प्रक्रियाएं इन विद्यार्थियों को अभिप्रेरित कर अधिगम सम्भाव्य को पूर्ण रूप से विकसित करने में सहायता प्रदान करती हैं।
4. **लक्ष्य निर्धारण** – कक्षा समूह की प्रभावशीलता में योगदान देने वालो में प्रमुख तत्व लक्ष्यों का निर्धारण हैं। कक्षा समूह की रचना ही अधिगम के लिये की जाती हैं। विद्यार्थी व अध्यापक मिलकर लक्ष्यों व कार्यो का निर्धारण करते हैं। समूह के लक्ष्य व्यक्ति को अपने लक्ष्यो के निर्धारण एवं प्राप्ति

नोट

के लिये दिशा-निर्देश देते हैं। समूह विद्यार्थियों के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहभागी बनकर सहयोग प्रदान करता हैं।

5. **सम्प्रेषण** – किसी भी अनुदेशनात्मक समूह की मूलभूत आवश्यकता संदेश ग्रहण की हैं। कक्षा समूह की केन्द्रिय समस्या सम्प्रेषण की हैं। सम्प्रेषण के द्वारा विद्यार्थियों तक ज्ञान कौशलों, मूल्यों व अभिवृत्तियों को विकसित किया जाता हैं। अध्यापक विद्यार्थियों से पृष्ठ पोषण प्राप्त कर सम्प्रेषण की प्रभावशीलता को जानकर अपने सम्प्रेषण को प्रभावी बनाने के लिए योजना बनाता हैं जो अन्ततः अधिगम के सुगमीकरण को प्रभावित करता हैं। कक्षा समूह में समरसता, सह-अस्तित्व, चिन्तन व जीवन कौशलों का अधिगम बिना औपचारिकता के सहज, सरल व प्रभावी ढंग से होता है। अतः यह कहा जा सकता हैं कि समूह प्रक्रियाएं अधिगम में सहायता प्रदान करती हैं।

4.15 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि समायोजित व्यक्ति वह है जो नमनीयता, सृजनात्मकता तथा सहजता आदि गुणों के आधार पर जीवन की कठिनाइयों तथा अस्पष्टता का सामना करने की योग्यता रखता है। आज का बालक कल का जिम्मेदार नागरिक होगा। अत: शिक्षक का दायित्व है कि वह ऐसा वातावरण तैयार करे, जिससे बालक में कुसमायोजन की समस्या न उत्पन्न हो। दिवास्वप्न को युक्ति संगत योजना, प्रत्यावर्तन में व्यक्ति की क्षमताओं के अनुरूप उद्देश्य का ताप, निषेध प्रवृत्ति में दृढ़ रूप से नहीं कहकर दमन युक्ति में वाणी व विचारों पर नियंत्रण कर, तादात्मीकरण में केवल सांवेगिक रूप में जुड़कर स्वयं के विकास के दायित्व में अपनी कमजोरी को दूर करना आदि सकारात्मक युक्ति द्वारा शिक्षक बालक के समायोजन में महत्ती भूमिका निभा सकता है। इनके अलावा छदवेशीय समायोजन की यूक्तियों वस्तुत: बुद्धिमतापूर्ण समायोजन के लिए संकेत है। इनके नकारात्मक व सकारात्मक दोनों पक्ष हैं। शिक्षक की सकारात्मक पक्ष का सकारात्मक ढंग से विद्यार्थियों के स्वस्थ समायोजन के लिए प्रयोग करना आदि।

बालकों को दी जाने वाली शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य यह होता है कि वह बालक को इस प्रकार शिक्षित करें, जिससे उसे अपने भावी जीवन में सफलतापूर्वक समायोजन करने में कोई बाधा न आए। विद्यालय समाज का लघु रूप होता है, अत: शिक्षक को इस तथ्य का ज्ञान आवश्यक है कि छात्र आपस में किस प्रकार समायोजित हो रहे है। शिक्षक का यह दायित्व है कि वह अपने बालकों की सामाजिक अनुक्रियाओं का अध्ययन कर उनकी विशेषताओं तथा कमियों को परिलक्षित कर तदनुसार उनके विकास की योजना बनाए ताकि छात्र स्वयं के साथ-साथ समाज के विकास में भी अपना अधिकतम योगदान दे सकें।

4.16 अभ्यास प्रश्न

1. प्रत्यक्ष संयोजन तथा रक्षात्मक संयोजन में अंतर बताइए।
2. प्रतिक्रिया विधान से आप क्या समझते हैं?
3. युक्तिकरण विधा को समझाइए।
4. विपर्याय के लक्षणों का वर्णन कीजिए।
5. व्यवहारवादी प्रतिमान के मूल सिद्धान्त को समझाइए।
6. 'मिथ्या समायोजन' बालक पर भविष्य में किस तरह का प्रभाव पड़ता है?
7. अध्यापक यथात की स्थिति का स्वयं सामना करने के लिए बालक को किस प्रकार तैयार कर सकता है?

8. समायोजन प्रतिमानों के सिद्धान्त परस्पर किस प्रकार भिन्न है? इन प्रतिमानों में कौन सा समायोजि प्रतिमान आपके विचार से उपयुक्त है और य?
9. यथार्थ का सामना करने से बचने के लिए बालक कौन-कौन सी रक्षा यूक्तियों को अपनाता है? आप एक शिक्षक के रूप में इन रक्षा यूक्तियों को बालकों के स्वस्थ समायोजन में किस प्रकार युक्त करेंगे।
10. तनाव के संप्रत्यय को स्पष्ट कीजिए। तनाव कितने प्रकार का होता है? प्रत्येक की व्याख्या कीजिए और बताइए कि बालक को वह क्या क्षति पहुंचाता है?
11. सुसमायोजित व्यक्तित्व की क्या विशेषतायें हैं? इन विशेषताओं के आधार पर बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए क्या प्रयास किया जा सकता है?
12. समाजमिति से आप क्या समझते है?
13. समाजमिति तकनीक की विशेषताओं और सीमाओं पर प्रकाश डालिए।
14. एक शिक्षक समाजमिति के परिणामों से अपने शिक्षण को सुधार सकता है या नहीं अपने के पक्ष में तर्क दें।
15. समाजमिति तकनीक से प्राप्त परिणाम लम्बे समय तक विश्वसनीय नहीं रहते है। "क्यों?
16. निम्न तालिका का उपयोग करते हुए सामाजिक संबंध चित्रण कीजिए तथा सर्वप्रिय अलग-थलग पड़े छात्रों को ज्ञात कीजिए।

4.17 संदर्भ पुस्तकें

- शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली–एल. कौल, विकास पब्लिशिंग।
- शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ–शरीन एवं शशिकला, विनोद पुस्तक मंदिर।
- शैक्षिक तकनीकी एवं मूल्यांकन–डॉ. रामपाल सिंह, भट्ट ब्रदर्स।
- शिक्षा तकनीकी–आर.ए. शर्मा, भट्ट ब्रदर्स।

नोट

4अध्याय-5

व्यक्तिक भिन्नता

(Structure)

5.1 उद्देश्य
5.2 प्रस्तावना
5.3 वैयक्तिक भिन्नता का अर्थ व स्वरूप
5.4 वैयक्तिक भिन्नता के कारण
5.5 वैयक्तिक भिन्नता के प्रकार
5.6 वैयक्तिक भिन्नता के ज्ञान का शिक्षा में महत्त्व
5.7 वैयक्तिक भिन्नता को प्रभावित करने वाले कारक
5.8 बुद्धि का स्वरूप और परिभाषा
5.9 बुद्धि की विशेषताएँ
5.10 बुद्धि और ज्ञान में अन्तर
5.11 बुद्धि के प्रकार
5.12 बुद्धि-परीक्षण का इतिहास
5.13 बुद्धि-परीक्षणों के प्रकार
5.14 भारत में बुद्धि-परीक्षा
5.15 बुद्धि-मापन की विधि
5.16 बुद्धि-लब्धि
5.17 बुद्धि-परीक्षणों की उपयोगिता
5.18 बुद्धि के सिद्धांत
5.19 गिलफर्ड का S.I. मॉडल
5.20 उत्पादकीय उपादेयता
5.21 स्मृति का अर्थ एवं परिभाषा
5.22 स्मृति के तत्व
5.23 अच्छी स्मृति की विशेषताएँ
5.24 स्मृति के प्रकार
5.25 विस्मृति का स्वरूप
5.26 वस्मृति के कारण
5.27 विस्मृति के सिद्धांत
5.28 विस्मृति निवारण के उपाय
5.29 स्मरण एवं विस्मरण का शैक्षिक महत्त्व

नोट

5.30 सृजनात्मकता का अर्थ
5.31 सृजनात्मकता के तत्व
5.32 सृजनात्मक व्यक्तित्व की विशेषताएँ
5.33 सृजनात्मकता का मापन
5.34 सृजनात्मकता परीक्षण का निर्माण
5.35 कतिपय सृजनात्मकता परीक्षण
5.36 अभिक्षमता का अर्थ
5.37 अभिक्षमता का मापन
5.38 सामान्य अभिक्षमता परीक्षण
5.39 भेदक अभिक्षमता परीक्षण
5.40 विशिष्ट अभिक्षमता परीक्षण
5.41 सारांश
5.42 अभ्यास-प्रश्न
5.43 संदर्भ पुस्तकें

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- वैयक्तिक भिन्नता के अर्थ एवं स्वरूप को समझने में;
- वैयक्तिक भिन्नता के कारणों को समझने में;
- बुद्धि के स्वरूप को समझने में;
- बुद्धि परीक्षण के इतिहास को समझने में;
- बुद्धि के सिद्धांत के विभिन्न पहलुओं को समझने में;
- स्मृति का अर्थ समझने में सक्षम होंगे;
- विस्मृति के कारणों एवं विस्मृति-निवारण के उपाय खोजने में।
- सृजनात्मकता का अर्थ एवं उसके तत्वों को समझने में।
- सामान्य, भेदक एवं विशिष्ट अभिक्षमता परीक्षणों के विषय में जानकारी प्राप्त करने में।

5.2 प्रस्तावना

वैयक्तिक भिन्नता प्रकृति का स्वाभाविक गुण एवं देन है। सामान्य रूप से सभी व्यक्ति समान दिखाई देते हैं, किन्तु उनका सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उनमें परस्पर कुछ अन्तर अवश्य है। कोई भी दो व्यक्ति शारीरिक बनावट, मानसिक योग्यता तथा व्यक्तित्व के गुणों आदि में समान नहीं दिखाई देते। इस प्रकार की भिन्नता में प्रकृति और वातावरण दोनों का हाथ होता है। एक ही माता-पिता की संतान में शारीरिक बनावट, मानसिक शक्तियों, व्यवहार तथा शैक्षिक उपलब्धियों में बहुत भिन्नता दिखाई देती है। व्यक्तिगत भिन्नता का आधार वंशानुक्रम तथा वातावरण से प्राप्त गुण होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं जो कि उसे दूसरे से भिन्न व्यक्ति के

रूप में, प्रस्तुत करती हैं। व्यक्तिगत भेद का वैज्ञानिक अध्ययन कुछ समय पूर्व ही आरम्भ हुआ है। मनोविज्ञान का विकास तथा व्यवहार सम्बन्धी अध्ययन जैसे-जैसे होता गया, शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ।

नोट

सर्वप्रथम 19वीं शताब्दी में सर फ्रांसिस गाल्टन (Galton) का ध्यान वंशानुक्रम का अध्ययन करते समय इस ओर गया। इसके बाद 20वीं शताब्दी में इसका अध्ययन पियर्सन (Pearson), कैटेल (Cattel) तथा टरमैन (Terman) आदि मनोवैज्ञानिकों ने किया। फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में इन अध्ययनों के आधार पर वैयक्तिक भिन्नता के कारणों को जानकर, शिक्षाशास्त्रियों ने, शिक्षा की योजना, उपयुक्त एवं उपयोगी शिक्षा प्रणालियों एवं सिद्धान्तों का निर्माण किया। इन शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने बाल-केन्द्रित शिक्षा को प्रोत्साहित किया, जिससे बालक की आयु, बुद्धि, रुचि, योग्यता तथा क्षमता का अध्ययन भली-भाँति करके, उनके लिए उपयुक्त शिक्षा की व्यवस्था की जा सके। प्रत्येक बालक की शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक उन्नति वैयक्तिक भेद के अनुसार होती है। स्किनर महोदय ने कहा है– "बालक की प्रत्येक सम्भावना के विकास का एक विशिष्ट काल होता है। यह विशिष्ट काल वैयक्तिक भेद के अनुसार प्रत्येक में भिन्न-भिन्न होता है, यदि उचित समय पर इस सम्भावना को विकसित करने का प्रयत्न न किया गया तो उसके नष्ट हो जाने का भय रहता है।" अत: व्यक्तित्व के विकास के लिए वैयक्तिक भेद (भिन्नता) के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करना अनिवार्य है।

जिस प्रकार दो व्यक्ति रूप-रंग, कद-काठी, भार और स्वास्थ्य आदि में भिन्न दिखाई देते हैं, उसी प्रकार उनकी मानसिक योग्यता में भी भिन्नता होती है। शिक्षा के क्षेत्र में मानसिक योग्यता में भिन्नता का अध्ययन करना महत्त्वपूर्ण है। छात्रों की मानसिक योग्यता की भिन्नता को ध्यान में रखकर अध्यापकों को अपने शिक्षण कार्य को नियोजित तथा कक्षा को विभिन्न वर्गों में विभाजित करना पड़ता है। छात्रों का मानसिक योग्यता या क्षमता में अन्तर बुद्धि के कारण होता है।

शिक्षा में व्यक्तिगत भिन्नताओं का अध्ययन करना आवश्यक है। व्यक्तिगत भिन्नताओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कई विधियों का प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तिगत भिन्नताओं को मापने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के परीक्षण बनये हैं। इनमें बुद्धि का मापन करने के लिए बुद्धि परीक्षाओं का निर्माण किया गया है। बुद्धि परीक्षाएँ शिक्षा की बहुत-सी समस्याओं का समाधान करने में सहायता देती हैं, अत: इनके विषय में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

हमारे दैनिक जीवन में स्मृति का बहुत महत्त्व है बिना स्मृति के व्यक्ति को अपना जीवन सुचारु रूप से चलाना कठिन हो जाता है। व्यक्ति जो कुछ भी नित्य अनुभव करता है वह मस्तिष्क में किसी-न-किसी रूप में संचित होता रहता है। जो अनुभव मन के अचेतन स्तर पर रहते हैं या चेतनायुक्त नहीं होते उन्हें 'संचय' कहते हैं और जो चेतन स्तर पर आ जाते हैं उन्हें स्मृति कहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर ये संचित अनुभव ही हमारी विभिन्न परिस्थितियों में सहायता करते हैं। जीवन के व्यावहारिक कार्यों में स्मृति से ही सहायता मिलती है। यदि व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों और विचारों को याद न रख सकता तो आज वह इतनी उन्नति नहीं कर सकता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विकास और शिक्षा, पूर्व ज्ञान और अनुभवों की संचय प्रवृत्ति पर निर्भर हैं, उसके लिए अच्छी स्मृति की आवश्यकता होती है। विशेष रूप से बौद्धिक कार्य स्मृति के अभाव में नहीं हो सकते। शिक्षा में स्मरण शक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्मृति के बिना शिक्षा प्राप्त करना नितान्त असम्भव है। अत: स्मृति के स्वरूप पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

वैज्ञानिक, तकनीकी तथा औद्योगिक विकास के आधुनिक युग में नित प्रतिदिन नूतन आविष्कार हो रहे हैं। इनमें से अधिकांश अविष्कारों के पीछे जहाँ वैज्ञानिकों का अथक प्रयास छिपा है वहीं

उनकी सृजनात्मकता का भी कम योगदान नहीं है। पहले यह माना जाता था कि केवल लेखक, कवि, चित्रकार, संगीतकार आदि व्यक्ति ही सृजनात्मक होते हैं परन्तु अब माना जाने लगा है कि मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति हो सकती है। वास्तव में संसार के समस्त प्राणियों में सृजनात्मकता पाई जाती है–किसी में कम मात्रा में सृजनात्मकता होती है तथा किसी में अधिक मात्रा में सृजनात्मकता होती है। मानवीय जीवन को सुखमय बनाने के लिए नवीन आविष्कार करने तथा समस्याओं का समाधान खोजने के कार्य में सृजनात्मकता महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

नोट

आज के समस्याग्रस्त जटिल समाज तथा प्रतियोगितापूर्ण संसार में सृजनात्मकता व्यक्तियों की माँग है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी उपलधियों को अर्जित करने के लिए सृजनात्मक व्यक्तियों को खोजना एक राष्ट्रीय आवश्यकता बन गई है। प्रस्तुत अध्याय में सृजनात्मकता के अर्थ तथा मापन विधियों का वर्णन किया गया है।

दिन प्रतिदिन के जीवन में प्रायः विभिन्न व्यक्तियों यथा अध्यापकों, अभिभावकों, प्रशासकों, अधिकारियों, समीक्षकों आदि को कहते सुना जा सकता है कि अमुक छात्र की यान्त्रिक कार्यों में विशेष रुचि है इसलिए इसे अभियंता बनाना चाहिए, अमुक छात्र में बड़ा होकर एक अच्छा संगीतकार बनने की सम्भावना है, अमुक बालिका बड़ी होकर एक गृहणी के रूप में अधिक सफल सिद्ध होगी अथवा अमुक व्यक्ति एक प्रतिभाशाली व योग्य प्रशासक बन सकेगा। इस प्रकार के कथनों से इन व्यक्तियों का तात्पर्य होता है कि सम्बन्धित छात्र, बालिका या व्यक्ति में कुछ ऐसी प्रतिभा, योग्यता या क्षमता दृष्टिगोचर हो रही है जो किसी विशिष्ट क्षेत्र में सफलता प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। ऐसी प्रतिभा, योग्यता या क्षमता प्रायः जन्मजात होती हैं तथा मनोविज्ञान की भाषा में इसे अभिक्षमता (Aptitude) कहा जाता है। शैक्षिक, व्यावसायिक तथा मनोवैज्ञानिक परामर्श व मार्गदर्शन के कार्य में अभिक्षमताओं के ज्ञान का विशेष महत्त्व होता है। बालकों की अभिक्षमताओं को पहचान कर उन्हें उन्हीं क्षेत्र विशेष में शिक्षित व प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिनमें उनकी सफलता प्राप्त करने की सम्भावना हो। अभिक्षमता विहीन क्षेत्रों ने बालकों को आगे बढ़ने के लिए बाध्य करना वास्तव में समय, धन व शक्ति का अपव्यय ही होता है। प्रवेश तथा रोजगार के लिए अभ्यर्थियों का चयन करते समय भी व्यक्तियों की अभिक्षमताओं को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। प्रस्तुत अध्यय में अभिक्षमताओं के मापन की चर्चा की गई है।

5.3 वैयक्तिक भिन्नता का अर्थ व स्वरूप

वैयक्तिक भिन्नता या व्यक्तिगत भेद का अर्थ एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से रूप, रंग, शारीरिक गठन, विशिष्ट योग्यताओं, बुद्धि, रुचि, स्वभाव, उपलब्धियों तथा व्यक्तित्व के अन्य गुणों आदि में भिन्नता से है। संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो किसी दूसरे व्यक्ति से पूर्ण रूप से मिलता-जुलता हो। एक परिवार में एक ही माता-पिता के दो पुत्र या जुड़वाँ भाई-बहनों में भी समानता नहीं पाई जाती।

शिक्षा के क्षेत्र में, प्राचीन समय से ही व्यक्तिगत भेद का अन्तर मानसिक योग्यता के आधार पर किया जाता है जिसके कारण उनमें कम या अधिक भिन्नता होती है। **स्किनर** के अनुसार, "आज हमारा यह विचार है कि व्यक्तिगत विभिन्नताओं में सम्पूर्ण व्यक्तित्व का कोई भी ऐसा पहलू सम्मिलित हो सकता है, जिसकी माप की जा सकती है।" स्किनर की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि व्यक्तिगत भिन्नताओं में व्यक्तित्व के वे सभी पहलू आ जाते हैं, जिनकी माप की जा सकती

है। वैयक्तिक भिन्नता के अंतर्गत किन पहलुओं का समावेश होता है यह जानने पर व्यक्तिगत भेद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। टेलर महोदय के अनुसार इन माप किये जाने वाले विभिन्न पहलुओं में 'शरीर के आकार और स्वरूप शारीरिक कार्यों में गति सम्बन्धी क्षमताओं, बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, रुचियों, अभिवृत्तियों और व्यक्तित्व के लक्षणों में माप की जा सकने वाली विभिन्नताओं की उपस्थिति सिद्ध हो चुकी है।" (Measurable differences have been shown to exist in physical size and shape, physicological functions, motor capacities, intelligence, achievement and knowledge, interests, attitudes and personality traits.)

शिक्षा मनोविज्ञान का सम्बन्ध शिक्षार्थी से होता है इसलिए शैक्षिक दृष्टि से व्यक्तिगत भिन्नता का अध्ययन करना आवश्यक है। कक्षा में भिन्न-भिन्न योग्यताओं और उपलब्धि वाले बालक होते हैं। इनके व्यक्तित्व में भी भिन्नता पाई जाती है जिसका प्रभाव उनके शैक्षिक उपलब्धि पर पड़ता है और उनमें परस्पर अन्तर पाया जाता है। आज केवल ज्ञानार्जन सम्बन्धी या विषय योग्यता से सम्बन्धित भिन्नता पर ही ध्यान नहीं दिया जाता है बल्कि उनके शारीरिक, भावात्मक, नैतिक व सामाकजिक गुणों में अन्तर को व्यक्तिगत भिन्नता के अन्तर्गत रखकर उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है। उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि शैक्षिक दृष्टि से व्यक्तिगत भिन्नता उन सभी क्षमताओं और लक्षणों आदि से सम्बन्धित हैं जिनसे व्यक्तित्व का विकास या निर्माण होता है।

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो गया है कि प्रत्येक व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक योग्यताएँ तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणों (ज्तंपजे) में जो भिन्नताएँ होती हैं, वे ही वैयक्तिक भिन्नता के आधार हैं।

वैयक्तिक भिन्नता के आधार

वैयक्तिक भिन्नता के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं–

(1) वंशानुक्रम, (2) पर्यावरण।

1. **वंशानुक्रम**–वंशानुक्रम माता-पिता एवं अन्य पूर्वजों से सन्तान को प्राप्त होने वाला गुण है जिसमें शारीरिक, मानसिक और व्यवहारिक गुण सम्मिलित होते हैं। इन्हीं के आधार पर प्रत्येक मनुष्य में विभिन्नता और समानता भी दिखाई देती है। वैयक्तिक विभिन्नता का प्रमुख आधार वंशानुक्रम है। वंशानुक्रम के कारण ही व्यक्ति में शारीरिक और मानसिक भिन्नता पाई जाती है।
2. **पर्यावरण**–मानव-विकास में पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पर्यावरण के अन्तर्गत वे सभी वस्तुएँ आ जाती हैं जो मानव-विकास एवं उसके सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार पर्यावरण या वातावरण का अर्थ व्यापक है। व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है उसका उस पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण के आधार तथा उसके प्रभावों से ही वैयक्तिक भिन्नता विकसित होती है। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जा रहा है।

5.4 वैयक्तिक भिन्नता के कारण

मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तिगत भिन्नता के कई कारण बताये हैं जिनमें प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

1. **वंशानुक्रम** (Heredity)–वैयक्तिक भिन्नता का प्रमुख कारण वंशानुक्रम है। मनोवैज्ञानिक गाल्टन, पियर्सन, **टरमैन, मैक्डूगल तथा बिने** आदि ने अपने प्रयोगों से सिद्ध कर दिया है कि व्यक्तियों के शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक विशेषताओं का प्रमुख कारण

नोट

वंशानुक्रम ही है। पैतृक गुणों का संक्रमण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता रहता है और इसी कारण व्यक्ति, व्यक्ति में भिन्नता दिखाई देती है। उदाहरणार्थ- प्राय: तीव्र बुद्धि के माता-पिता की संतानें तीव्र बुद्धि और मन्द बुद्धि के माता-पिता की सन्तानें मन्द बुद्धि की होती हैं। कभी-कभी एक ही माता-पिता की सन्तानों में विभिन्नता पाई जाती हैं। वे मानसिक शक्तियों, स्वभाव और अन्य गुणों में एक दूसरे से कुछ-कुछ भिन्न अवश्य होते हैं। यह वंशानुक्रम के कारण होते हैं।

2. **वातारण** (Environment)–वैयक्तिक भिन्नता का दूसरा कारण वातावरण है। वातावरण के अन्तर्गत पारिवारिक, सामाजिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। व्यक्ति जिस प्रकार के वातावरण में रहता है, उसी के अनुसार उसका शारीरिक, मानसिक विकास, रहन-सहन, व्यवहार आचार-विचार आदि होते हैं। उदाहरणार्थ शिक्षित और सुसंकृत परिवार का बालक अशिक्षित परिवार के बालक से भिन्न होता है। गाँव और नगरों के बच्चों में तथा ठण्डे देश और गर्म देश के बच्चों में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है। जिस देश का प्राकृतिक वातावरण ठण्डा होता है वहाँ के लोग बलवान और परिश्रमी और गर्म देश के लोग प्राय: निर्बल तथा आलसी होते हैं।

3. **आयु व बुद्धि** (Age and Intelligence)–बालक का शारीरिक विकास, मानसिक और संवेगात्मक विकास उसकी आयु के अनुसार होता है। इसलिए विभिन्न आयु के बालकों में अन्तर दिखाई देता है। बुद्धि को जन्मजात क्षमता माना जाता है। फिर भी इस क्षमता का विकास आयु और पर्यावरण से सम्बन्धित होता है। बुद्धि के कारण भी व्यक्तियों में भिन्नता पाई जाती है। अत: बुद्धि में अन्तर होने के कारण व्यक्ति को ऐसी श्रेणी में क्रमबद्ध किया जाता है जो प्रतिभावान से लेकर मूर्ख हो सकते हैं। बुद्धि की भिन्नता व्यक्तियों में बहुत अन्तर उत्पन्न कर देती है।

4. **स्वास्थ्य**–शारीरिक स्वास्थ्य के कारण भी व्यक्तिगत भिन्नता पाई जाती है। कुछ लोग स्वस्थ, ह्रष्ट-पुष्ट, कुछ साधारण तथा कुछ दुर्बल होते हैं, इसलिए उनमें शारीरिक शक्ति और कार्य-क्षमता में भिन्नता पाई जाती है। शारीरिक स्वास्थ्य का मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्ध होता है। पूर्ण स्वस्थ और अस्वस्थ व्यक्ति में बहुत अन्तर दिखाई देता है। वैयक्तिक भेद का आधार शारीरिक स्वास्थ्य भी है।

5. **जाति, प्रजाति एवं राष्ट्र** (Caste, Race and Nation)–व्यक्तिगत भिन्नता के कारणों में जाति, प्रजाति तथा देश का भी प्रमुख स्थान होता है। उदाहरणार्थ ब्रह्मण जाति के व्यक्ति अध्ययनशील, क्षत्रिय जाति के व्यक्ति युद्धप्रिय, साहसी और वैश्य जाति के व्यक्ति व्यापार में कुशल होते हैं। नीग्रो प्रजाति के बालकों से अमेरिकन प्रजाति के बालक अधिक तेज, बुद्धिमान और कार्यकुशल पाये जाते हैं। उसी प्रकार एक राष्ट्र के व्यक्तियों में शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक विशेषताएँ दूसरे राष्ट्र के व्यक्तियों से भिन्न होती हैं। इन्ही व्यक्तिगत भिन्नताओं के कारण ही हम विभिन्न देश के व्यकितयों को सरलतापूर्वक पहचान लेते हैं।

6. **शिक्षा एवं आर्थिक दशा** (Education and Economical Condition)–शिक्षा द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। और वह शिष्ट, गम्भीर और विचारशील बनता है। शिक्षा ही उसे अशिक्षित और अशिष्ट व्यक्ति से भिन्न बना देती है। परिवार की आर्थिक स्थिति भी शारीरिक, शैक्षिक, भावात्मक तथा सामाजिक विकास को प्रभावित करती है।

7. **लिंग-भेद** (Sex-Differences)–बालक बालिकाओं के शारीरिक विकास, मानसिक तथा संवेगात्मक विकास में अंतर होता है। बालिकाओं का विकास शारीरिक दृष्टि से बालक से पहले होता है। इस विकास-भेद के कारण मानसिक विकास में भी अन्तर होता है और दोनों के स्वभाव तथा व्यक्तित्व के अन्य गुणों में भी समानता दिखाई देती है। उदाहरणार्थ- बालक स्वभाव से कठोर, साहसी, परिश्रमी तथा बालिकाएँ कोमल, दयालु, लज्जाशील और शान्तिप्रिय होती हैं।

8. **परिपक्वता** (Maturity)–परिपक्वता का सम्बन्ध सामान्यत: व्यक्ति की आयु (Age) से होता है। बालक के जन्म के बाद धीरे-धीरे शारीरिक, मानसिक परिपक्वता आती है। कुछ बालकों में शारीरिक और मानसिक विकास तीव्र गति से होता, उनमें परिपक्वता जल्दी आती है। बालक की शिक्षा का परिपक्वता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह परिपक्वता किसी बालक में देर से और किसी में जल्दी आती है। अत: वैयक्तिक भिन्नता का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

9. **गत्यात्मक योग्यता** (Motor Ability)–गति-सम्बन्धी योग्यता के कारण के कुछ लोग कार्य शीघ्रता और कुशलतापूर्वक कर लेते हैं। गतिवाही योग्यता या कुशलता (Motor skill) में आयु के साथ वृद्धि होता है। इस कारण भी भिन्न अवस्थाओं में, भिन्न व्यक्तियों में और अन्तर दिखाई देता है।

10. **पृष्ठभूमि** (Background)–विद्यालयों में आने वाले भिन्न-भिन्न बालक जिन परिवारों और समुदायों से आते हैं उनकी पृष्ठभूमि में अन्तर होता है। उदाहरण के लिए उच्च शिक्षित धनी परिवार के बालक में और अशिक्षित निम्न वर्ग के बालक में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है। बालक के संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक विकास पर उसके परिवार और समाज का प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक और सामाजिक पृष्ठभूमि के भिन्न होने पर वैयक्तिक भेद दिखाई देता है।

11. **मानसिक विकास का प्रभाव**–सभी बालकों में मानसिक योग्यताओं का विकास समान रूप से नहीं होता। मानसिक योग्यताओं के अन्तर्गत बुद्धि, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण, तर्क-शक्ति, निर्णय-शक्ति, स्मृति और सीखने की क्षमता आदि आती है। इन सब में बुद्धि का सबसे अधिक महत्त्व होता है। बालक की शारीरिक आयु और मानसिक आयु में अन्तर होने के कारण भी व्यक्तिगत भेद पाया जाता है।

12. **संवेगों का प्रभाव**–संवेगों के कारण भी व्यक्ति में भिन्नता दिखाई देती है। विभिन्न संवेगों के कारण ही कोई व्यक्ति क्रोधी, लड़ाकू और कठोर दिखाई देता है, जबकि दूसरा व्यक्ति हँसमुख, शान्तिप्रिय एवं दयालु है। इस प्रकार वैयक्तिक भिन्नता पर सांवेगिक तत्वों का भी प्रभाव पड़ता है।

13. **विशेष योग्यताएँ** (Special Abilities)–प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य के अतिरिक्त कुछ-न-कुछ विशेष योग्यताएँ होती हैं। ये विशेष योग्यताएँ मानसिक, कलात्मक, व्यक्तित्व सम्बन्धी तथा गत्यात्मक कुशलता से सम्बन्धित होती हैं। सभी व्यक्ति एक ही प्रकार का कार्य नहीं करते। वे जब अपनी रुचि, रुझान और विशेष योग्यता के अनुसार अपना व्यवसाय चुनते हैं तब सफल होते हैं। विशेष योग्यताओं के कारण ही वैज्ञानिक, डॉक्टर, इन्जीनियर, शिक्षक, राजनीतिज्ञ, कलाकार और संगीतकार में वैयक्तिक विभिन्नता दिखाई देती है।

नोट

14. **ग्रहण-शक्ति**–मनोवैज्ञानिक प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ग्रहण-शक्ति किसी में कम और किसी में ज्यादा होती है। ग्रहण-शक्ति में भिन्नता होने के कारण कोई बालक किसी विषय को जल्दी समझा लेता है और याद कर लेता है और कोई देर से समझता है। एक ही कक्षा में किसी बालक के सीखने की गति तेज होती है और किसी की धीमी होती है। कोई परीक्षा में सर्वोच्च अंक प्राप्त करता है तो कोई साधारण अंक प्राप्त करता है। इस आधार पर भी हम उन्हें तीव्र बुद्धि या मंद बुद्धि का बालक कहते हैं। इस प्रकार ग्रहण-शक्ति के कारण भी वैयक्तिक भेद दिखाई देता है।
15. **व्यक्तित्व**–व्यक्तित्व व्यक्ति के सभी गुणों का योग होता है। प्रत्येक व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति से शारीरिक, संवेगात्मक तथा बौद्धिक गुण भिन्न होते हैं। शारीरिक दृष्टि से सुन्दर-असुन्दर, मोटे-दुबले, संवेगात्मक दृष्टि से उग्र, कठोर, लड़ाकू, विनम्र, शांतिप्रिय, शिष्ट और बौद्धिक दृष्टि से बुद्धिमान तथा बुद्धिहीन व्यक्तित्व वाले व्यक्ति पाये जाते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व के कारण भी वैयक्तिक भिन्नता पाई जाती है।

वैयक्तिक भिन्नता के उपर्युक्त कारण सामान्यत: सभी व्यक्तियों की भिन्नताओं से सम्बन्धित हैं। विद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों में पाये जाने वाले व्यक्तिगत भेदों के कुछ कारणों का उल्लेख गैरिसन व अन्य ने इस प्रकार किया है–"बालकों की विभिन्नताओं के मुख्य कारणों को प्रेरणा, बुद्धि, परिपक्वता और वातावरण सम्बन्धी उद्दीपन की विभिन्नताओं के मुख्य कारणों की प्रेरणा, बुद्धि, परिपक्वता और वातावरण सम्बन्धी उद्दीपन की विभिन्नताओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।" (The difference among children may best be accounted for by variation in motivation, intelligence, maturation and environmental stimulation.)

5.5 वैयक्तिक भिन्नता के प्रकार

दो व्यक्तियों में जिन कारणों से भिन्नता पाई जाती है उन्हीं के आधार पर व्यक्ति भेद या विभिन्नता के प्रकार निश्चित किये गये हैं। व्यक्तिगत भेद के प्रकार निम्नांकित क्षेत्रों में दिखाई देते हैं–

1. **शारीरिक विकास में भिन्नता** (Physical Difference)– शारीरिक भिन्नता के अन्तर्गत रूप-रंग, शारीरिक गठन, भार, कद, यौन-भेद तथा शारीरिक परिपक्वता आती है। कुछ व्यक्ति मोटे, कुछ दुबले, कुछ लम्बे, कुछ नाटे, कुछ गोरे, कुछ सुन्दर और कुछ कुरूप होते हैं। मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि इन सबका प्रभाव योग्यता, बुद्धि, स्वभाव, प्रवृत्ति और रुचि पर पड़ता है।
2. **मानसिक भिन्नता** (Mental Difference)–मानसिक भिन्नता के अन्तर्गत निम्नांकित बातों का समावेश होता है–
   (क) बौद्धिक विकास सम्बन्धी भिन्नता।
   (ख) मूल प्रकृति सम्बन्धी भिन्नता।
   (ग) ज्ञानोपार्जन या सीखने में भिन्नता।
   (घ) रुचि सम्बन्धी भिन्नता।
   (ङ) स्वभाव सम्बन्धी भिन्नता।

   (क) बौद्धिक भिन्नता के कारण–कोई प्रतिभाशाली, कोई अत्यधिक बुद्धिमान, कोई कम बुद्धिमान और कोई साधारण या मन्द बुद्धि या मूर्ख होता है। इस योग्यता की जाँच बुद्धि-परीक्षणों द्वारा की जाती है।

नोट

(ख) **मूल प्रवृत्ति सम्बन्धी भिन्नता के कारण**–कुछ व्यक्ति उदार हृदय, कुछ कठोर हृदय, कुछ हँसमुख, प्रसन्नचित्त तथा कुछ सदा उदास और रोनी सूरत बनाये रहते हैं। इसी प्रकार किसी में संग्रह प्रवृत्ति तो किसी में जिज्ञासा प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल होती है। जिज्ञासु व्यक्ति सदा नयी बातों को सीखने और जानने का प्रयास करता है।

(ग) **ज्ञानोपार्जन या सीखने में भिन्नता**–शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्तिगत भिन्नता का तात्पर्य यह है कि विद्यार्थी के पढ़ने-लिखने और विभिन्न पाठ्य-विषयों में पाया जाने वाला अन्तर जिसके कारण उसकी उपलब्धि में अन्तर पाया जाता है। उपलब्धि परीक्षाओं द्वारा यह ज्ञात होता है कि बालकों की सीखने की क्षमता में भी भिन्नता पाई जाती है। छात्रों के सीखने की क्षमता में अन्तर होने के कारण अध्यापक को व्यक्तिगत एवं कक्षा-विधियों को आवश्यकतानुसार अपनाना चाहिए।

(घ) **रुचि सम्बन्धी भिन्नता के कारण**–कुछ बालक पढ़ने में और कुछ खेलने में तेज होते हैं। बालक और वयस्क की रुचि में, बालक और बालिकाओं की रुचि में और स्त्री और पुरुष की रुचि में अन्तर होता है।

(ङ) **स्वभावगत भिन्नता के कारण**–कोई व्यक्ति उग्र, उद्दंड तथा कोई नम्र और सुशील होता है। इसी प्रकार बालक और बालिका के स्वभाव में भी अन्तर होता है।

3. **व्यक्तित्व सम्बन्धी भिन्नता**–मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों के कारण किसी व्यक्ति को अन्तर्मुखी (Introvert), किसी को बहिर्मुखी (Extrovert) प्रवृत्ति का कहा है। व्यक्तित्व की भिन्नता के भी कई भेद हैं। व्यक्तिगत भिन्नता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यक्तित्व संबंधी भिन्नता के विषय में जानना आवश्यक है। इसका उल्लेख आगे के अध्याय में किया गया है।

वैयक्तिक गुणों में विचलनशीलता–पूर्व पृष्ठों में वैयक्तिक भेद के स्वरूप, कारण आधार एवं क्षेत्रों का वर्णन किया गया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि विभिन्न कारणों से एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न होता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी एक ही व्यक्ति में जो दूसरे से भिन्न गुण पाये जाते हैं उनमें भी असमानता या भिन्नता दिखाई देती है। एक ही व्यक्ति के गुण, योग्यता या कुशलता में जो विभिन्ना या असमानता पाई जाती है उसे गुणों की विचलनशीलता (Trait Variability) कहते हैं। उदाहरणार्थ– यदि एक छात्र की विभिन्न योग्यताओं का परीक्षण किया जाये तो किसी में वह औसत से ऊपर और किसी में वह औसत से नीचे दिखाई देती है। इस प्रकार एक व्यक्ति एक विषय में तीव्र बुद्धि का और दूसरे विषय में मंद बुद्धि का हो सकता है जैसे कलाकार कला में तीव्र दिखाई देता है किन्तु गणित में मंद बुद्धि का परिचय देता है। शैक्षिक दृष्टि से गुणों की विचलनशीलता का बहुत महत्त्व है।

5.6 वैयक्तिक भिन्नता के ज्ञान का शिक्षा में महत्त्व

आधुनिक मनोवैज्ञानिक बालकों की शिक्षा में वैयक्तिक विभिन्नताओं को बहुत महत्त्व देते हैं। वैयक्तिक विभन्नता का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर शिक्षक अपने छात्र का अधिक हित कर सकता है। प्राय: प्रत्येक कक्षा में सामान्य छात्रों के अलावा कुछ मंद बुद्धि और प्रतिभाशाली छात्र भी रहते हैं। कक्षा-शिक्षण सामान्य बुद्धि के बालकों के लिए ही उपयुक्त होता है। मंद बुद्धि और प्रतिभाशाली बालक इससे अधिक लाभ नहीं उठा पाते हैं, क्योंकि सभी को सामान्य रूप से एक ही पद्धति से शिक्षा दी जाती है। सभी छात्रों को एक ही विधि और एक ही प्रकार की शिक्षा देने से कोई लाभ

नहीं होता, अत: बालकों की व्यक्तिगत भिन्नताओं को दृष्टि में रखते हुए उनकी शिक्षा में अग्रलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है–

नोट

1. **कक्षा का सीमित आकार**–बालक की व्यक्तिगत भिन्नता को ध्यान में रखते हुए एक कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या अधिक न होनी चाहिए। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि कक्षा में 20 या 25 छात्र से अधिक छात्र न हों। कक्षा में अधिक छात्र होने से शिक्षक उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में **रॉस** (Ross) ने कहा है– "प्रत्येक अध्यापक की संरक्षता में छात्रों की संख्या इतनी कम होनी चाहिए कि वह उन्हें व्यक्तिगत रूप से भली-भाँति जान सके, क्योंकि इस ज्ञान के बिना वह उनसे ऐसे कार्यों को करने के लिए कह सकता है जो उनमें से बहुतों के स्वभाव के अनुसार उनके लिए असम्भव हो।"
2. **छात्रों का वर्गीकरण**–प्रत्येक कक्षा में बालकों को उनकी वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर समरूप समूहों (Homogeneous) में विभाजित कर देना चाहिए। इस प्रकार से विभाजन में मानसिक योग्यता के साथ-साथ बालकों की शारीरिक आयु, सामाजिक तथा संवेगात्मक प्रवृत्ति का भी ध्यान रखना चाहिए। बुद्धि-लब्धि के आधार पर तीव्र, सामान्य और मंद बुद्धि बालकों को अलग-अलग वर्गों (Sections) में रखना चाहिए। इस प्रकार के कक्षा-विभाजन से प्रत्येक प्रकार के बालकों को प्रगति करने का अवसर मिलता है।
3. **पाठ्यक्रम-निर्माण**–वैयक्तिक विभिन्नता के अनुसार बालक तथा बालिकाओं की रुचि, बौद्धिक स्तर, अभियोग्यता (Aptitude), अभिवृत्ति तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम का निर्माण करना चाहिए।

   पाठ्यक्रम में विविध प्रकार के विषयों का समावेश हो। पाठ्यक्रम लचीला (Flexible) होना चाहिए। स्किनर महोदय का भी विचार है कि बालकों की विभिन्नताओं के चाहे जो भी कारण हों, वास्तविकता यह है कि विद्यालय को विभिन्न पाठ्यक्रमों के द्वारा उनकी विभिन्नताओं का सामना करना चाहिए।
4. **शिक्षण-विधि का चयन**–व्यक्तिगत भेद के आधार पर ही शिक्षण-पद्धतियों का प्रयोग करना चाहिए। एक ही पद्धति से समस्त विद्यार्थियों को पढ़ाना अमनोवैज्ञानिक है।
5. **वैयक्तिक शिक्षण की व्यवस्था**–आधुनिक शिक्षा जगत में व्यक्तिगत रूप से दी जाने वाली कई प्रकार की शिक्षा-प्रणालियों का जन्म हुआ जिनमें निम्नलिखित विधियाँ हैं–

   (क) डाल्टन योजना, (ख) प्रोजेक्ट योजना, (ग) माण्टेसरी, (घ) किन्डरगार्टेन प्रणाली, (ङ) विनेटिका योजना (Winnetia Plan)– इस प्रणाली का आविष्कार **कॉर्लेटन वाशबर्न** (Corleton Washburn) ने किया। इस प्रणाली में सीखने वाले को स्वयं अपनी गति के अनुसार सीखने का अवसर दिया जाता है। वैयक्तिक शिक्षण पर बल देते हुए रॉस ने कहा है– "कठिनाई का वास्तविक समाधान प्रकारों के अनुसार वर्गीकरण नहीं है वरन् व्यक्तिगत शिक्षण है जैसा कि मान्टेसरी-पद्धति अथवा डाल्टन प्रणाली में है, जिनकी सफलता में संदेह के लिए कोई स्थान नहीं है।"
6. **शैक्षिक निर्देशन**–व्यक्तिगत विभिन्नता की जानकारी प्राप्त करके शिक्षक छात्रों को शैक्षिक निर्देशन दे सकता है। शिक्षक उन्हें यह बता सकता है कि वे हाई-स्कूल या इण्टर की कक्षाओं में कौन से विषय लें।

7. **व्यावसायिक निर्देशन**–छात्रों के शारीरिक, मानसिक एवं व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों का अध्ययन करके ही, उन्हें अनुकूल व्यवसाय चुनाव में सहायता दी जा सकती है। शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य 'जीविकोपार्जन' है। अत: जीवनयापन के लिए किसी-न-किसी व्यवसाय को चुनना पड़ता है। अत: वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार उन्हें व्यावसायिक निर्देशन देना आवश्यक है।
8. **लिंग भेद के अनुसार शिक्षा**–बालक तथा बालिकाओं की रुचियों, क्षमताओं, योग्यताओं और आवश्यकताओं में अन्तर होता है। अत: उनकी शिक्षा का आयोजन भी इन भिन्नताओं को ध्यान रखकर करना चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा में उनका पाठ्यक्रम समान हो सकता है किन्तु माध्यमिक कक्षाओं में पाठ्यविषयों में कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिए जैसे आजकल हाईस्कूल कक्षा में बालिकाओं के लिए गृह-विज्ञान तथा बालकों के लिए गणित पढ़ना अनिवार्य है।
9. **गृहकार्य**– छात्रों को गृहकार्य देते समय भी उनकी वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देना आवश्यक है। तीव्र बुद्धि, तथा मंद बुद्धि छात्रों को क्रमश: कठिन एवं सरल गृहकार्य देना उपयुक्त होगा।
10. **विद्यालय, परिवार तथा समाज में सहयोग**– वैयक्तिक भिन्नता को प्रभावित करने वाले अनेक कारकों में– विद्यालय, परिवार और समाज का प्रभाव भी महत्त्वपूर्ण कारक (थ्बजवते) है। अत: शिक्षा-मनोविज्ञान के अनुसार शिक्षा में बालक के सर्वांगीण विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इन तीनों संस्थाओं में परस्पर सहयोग होना चाहिए।
11. **बहुउद्देश्यीय विद्यालयों की स्थापना**– बालक की विशिष्ट योग्यताओं के अनुसार उनके लिए बहुउद्देश्यीय विद्यालायों की स्थापना करनी चाहिए, जिनमें शिल्पकारी, लकड़ी, चमड़े का कार्य तथा अन्य तकनीकी विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध हो।

उपर्युक्त विवेचन से व्यक्तिगत विभिन्नताओं के ज्ञान का शैक्षिक महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

5.7 24.5 वैयक्तिक भिन्नता को प्रभावित करने वाले कारक

जॉन इवेनसिविच (Jhon Ivancevich) और माइकल मैट्सन (Michacl Mattson) के अनुसार व्यावहारिक ढंग से वैयक्तिक भिन्नता को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक हैं–जनसांख्यिकी, क्षमता एवं कौशल, दृष्टिकोण, मनोवृत्ति, व्यक्तित्व आदि। आगे इस महत्त्वपूर्ण घटकों पर प्रकाश डाला गया है–

1. **जनसांख्यिकी**–वैयक्तिक भिन्नता को प्रभावित करने वाले जनसांख्यिकीय कारक के रूप में जाति, आयु, लिंग आदि कारक रहे हैं। संगठन उन व्यक्तियों को पसंद करते हैं जो शिक्षित युवक हैं एवं बेहतर सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से संबंध रखते हैं तथा जो दूसरों की तुलना में और बेहतर प्रदर्शन करने में विश्वास करते हैं। ऐसे युवा वर्ग की सदैव आवश्यकता बनी रहती है। जनसांख्यिकीय कारकों का अध्ययन करने वाले प्रबंधकों को यह सही व्यक्ति के चुनावों में सहायता प्रदान करता है।
2. **योग्यता एवं कौशल**–किसी कार्य को करने के लिए व्यक्ति की शारीरिक क्षमता भी महत्त्वपूर्ण है। कौशल को बेहतर प्रदर्शन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। व्यक्तिगत व्यवहार और प्रदर्शन उच्च क्षमता एवं कौशल से प्रभावित है। किसी संगठन से जुड़ा व्यक्ति इस रूप में बेहतर प्रदर्शन कर सकता है कार्य की आवश्यकतानुसार उसमें

क्षमता एवं योग्यता है। एक प्रबंधक, किसी कर्मचारी की क्षमता और कौशल को, कार्य की आवश्यकता में बेहद महत्त्वपूर्ण तत्व मानता है।

3. **धारणा**–सार्थक ढंग से पर्यावरणीय उद्दीपकों की व्याख्या करने के लिए संज्ञानात्मक प्रक्रिया को धारणा के रूप में संदर्भित किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आधार पर पर्यावरणीय उद्दीपकों को व्यवस्थिति एवं व्याख्यायित कर सकता है। कुछ और कारक हैं जो व्यक्ति की धारणा को प्रभावित करते हैं। धारणा अथवा दृष्टिकोण का अध्ययन प्रबंध कों के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रबंधकों के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि कार्य के अनुकूल वातावरण बनाएँ जो कर्मचारियों को सुखद अनुभव प्रदान करे।
4. **मनोवृत्ति**–एक निश्चित उद्देश्य हेतु मनोवृत्ति को व्यक्तियों या परिस्थितियों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रतिक्रियात्मक रुझान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। कारक जैसे–परिवार, समाज, संस्कृति, सहयोगी एवं संस्थात्मक कारक मनोवृत्ति के गठन को प्रभावित करते हैं। संस्थाओं में ऐसे प्रबंधकों की आवश्यकता है जो अध्ययन करके अलग-अलग कार्यों की आवश्यकतानुरूप वातावरण तैयार करें जिससे कर्मचारियों के लिए सकारात्मक माहौल तैयार हो।
5. **व्यक्तित्व**–व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न गुण एवं विशेषताओं के अध्ययन व्यक्तित्व के रूप में परिभाषित कर सकते हैं व्यक्तित्व को किसी व्यक्ति की खूबियों और उसमें मौजूद विशिष्ट लक्षणों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत उन सम्बन्धों और अन्त:क्रिया को रखा जा सकता जो एक व्यक्ति दूसरे लोगों और परिस्थितियों से बनाता है। किसी के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारकों में वंशावली परिवार, समाज, संस्कृति और अवस्थाएँ आदि हैं यह एक तथ्य है कि कोई व्यक्ति जब किसी संगठनात्मक वातावरण का सामना करता है तो उसके प्रति कुछ अलग ही प्रतिक्रिया देता है। व्यक्तित्व को मानव का सबसे उलझा हुआ पहलू माना जा सकता है, जो उसके व्यवहार को काफी हद तक प्रभावित किसी के व्यक्तित्व का अध्ययन उस व्यक्ति को समझने का अवसर प्रदान करता है। व्यक्तित्व ही उन्हें किसी संगठनात्मक लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता देता है यह भी एक तथ्य है कि विभिन्न पर्यावरणीय प्रभाव में अलग प्रतिक्रियाएँ होती हैं। सभी संगठन अपने कर्मचारी से एक खास तरह के व्यवहार की माँग करते हैं, जिसका निरीक्षण वे सीखने, प्रदर्शन, प्रशिक्षण आदि माध्यमों से करते हैं।

नोट

5.8 बुद्धि का स्वरूप और परिभाषा

बुद्धि क्या है? इस प्रश्न के संबंध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। बुद्धि के स्वरूप का वर्णन विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अपने-अपने विचारों के अनुसार किया है। अत: मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गयी परिभाषाओं का अध्ययन करके ही हम बुद्धि के स्वरूप को समझ सकते हैं। मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गयी परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

1. **डब्ल्यू. स्टर्न के अनुसार** (W. Stern)–"बुद्धि एक सामान्य योग्यता है जिसके द्वारा व्यक्ति नयी परिस्थितियों में अपने विचारों को जान-बूझकर समायोजित कर लेता है।" (Intelligence is a general capacity of an individual consciously to adjust his thinking to new requirements.)

नोट

2. **सी. बर्ट के अनुसार** (C. Burt)–"बुद्धि सापेक्ष रूप में नवीन परिस्थितियों में अभियोजित करने की जन्मजात योग्यता है।" (Intelligence is the innate capacity to adapt relatively to new situations.)
3. **बिने के अनुसार** (A. Binet)–"किसी समस्या को समझना, उसके विषय में तर्क करना तथा किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना बुद्धि की आवश्यक क्रियाएँ हैं।" (To judge well, to comprehend well, to reason well, these are the essential activities of intelligence.)
4. **गाल्टन** (F. Galton)–"बुद्धि पहचानने तथा सीखने की शक्ति है।" (Intelligence is the power of recognition and learning.)
5. **टरमैन** (L. Terman)–"अमूर्त वस्तुओं के विषय में सोचने की योग्यता बुद्धि है।" (Intelligence is the capacity to carry on abstract thinking.)
6. **थार्नडाइक के अनुसार** (E. Thorndike)– "वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार अपेक्षित प्रतिक्रिया करने की योग्यता बुद्धि है।" (Intelligence is the power of good response from the point of view of truth or fact.)
7. **बकिंघम के अनुसार** (Bukingham)–"सीखने की शक्ति ही बुद्धि है।" (Intelligence is the ability to learn.)
8. **मैक्डूगल के अनुसार** (W. Mc Dougall)–"बुद्धि अतीत के अनुभवों के आधार पर जन्मजात प्रवृत्ति को सुधारने की योग्यता है।" (Intelligence is the capacity to improve upon innate tendency in the light of previous experience.)
9. **वैल्स** (Wells)–"नवीन परिस्थितियों में समायोजन की योग्यता की बुद्धि है।" (Intelligence is the ability of adjusting to new situations.)
10. **स्पीयरमैन** (Spearman)–"व्यक्ति की सामान्य योग्यता का नाम ही बुद्धि है।" (Intelligence is the power of attention.)
11. **स्टाउट** (Stout)–"सतर्क रहने की शक्ति का नाम ही बुद्धि है।" (Intelligunce is the general ability of the individueal.)
12. **वुडरो** (Woodrow)–"बुद्धि, ज्ञान का अर्जन करने की क्षमता है।" (Intelligence is an acquiring capacity.)
13. **एबिंगहैंस** (Ebbinghans)–"बुद्धि विभिन्न भागों को मिलाने वाली शक्ति है।" (Intelligence is the power of combining parts.)
14. **वेश्लर** (Wechsler)– "अभिप्राय युक्त करने, तर्कयुक्त चिन्तन करने तथा पर्यावरण के साथ प्रभावपूर्ण ढंग से व्यवहार करने की शक्ति व्यक्ति की सम्पूर्ण अथवा सार्वभौम क्षमता ही बुद्धि है।" (Intelligence is the aggregate or global capacity of the individual to act purposefully, to think, rationally and to deal effectively with his environment.)
15. **गैरेट** (Garret)–"बुद्धि ऐसी समस्याओं के हल करने की योग्यता है जिनमें ज्ञान और प्रतीकों के समझने और प्रयोग करने की आवश्यकता है, जैसे–शब्द, अर्थ, रेखाचित्र, समीकरण और सूत्र।" (The ability demanded in the solution of problems which

require the comprehension and use of symbols, i.e. words, numbers, diagrams, equations, formulas.)

16. **वुडवर्थ** (Wodworth)–"बुद्धि कार्य करने की एक विधि" (Intelligence is a way of acting)

नोट

5.9 बुद्धि की विशेषताएँ

मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गयी परिभाषाओं के आधार पर बुद्धि की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है। यह वंशानुक्रम से प्राप्त होती है।
2. बुद्धि वह शक्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति कठिनाइयों को दूर करके परिस्थिति के अनुसार अपने व्यवहार का संगठन करता है।
3. बुद्धि सीखने की क्षमता है।
4. बुद्धि अतीत अनुभवों से लाभ उठाने की योग्यता है।
5. बुद्धि अमूर्त चिन्तन (Abstract Thinking) की योग्यता है अर्थात् बुद्धि के द्वारा जो प्रत्यक्ष नहीं है, उसके बारे में सोच-विचार कर सकते हैं।
6. बुद्धि विभिन्न योग्यताओं का समूह है।
7. बुद्धि सभी प्रकार की विशिष्ट योग्यताओं का निचोड़ (सार) है।
8. बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान को नयी परिस्थितियों में उपयोग किया जा सकता है।
9. बुद्धि और ज्ञान में अन्तर होता है।
10. लिंग-भेद के कारण बुद्धि में अंतर नहीं दिखाई पड़ता।
11. बुद्धि में आत्म-निरीक्षण की शक्ति होती है। व्यक्ति द्वारा किये गये कर्मों और विचारों की आलोचना बुद्धि स्वयं करती है।
12. बुद्धि किसी समस्या को समझने का प्रयत्न करती है और समझकर मस्तिष्क को निर्णय करने के लिए प्रेरित करती है।

बुद्धि को प्रभावित करने वाले कारक-बुद्धि को प्रभावित करने वाले अनेक कारक हैं–

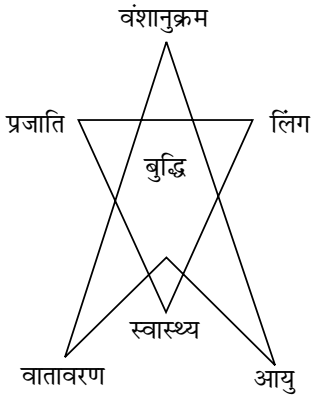

चित्र 5.1

1. **वंशानुक्रम** (Heredity)–इस संदर्भ में अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अपने अलग-अलग प्रयोग किये और यह निष्कर्ष निकाला कि वंशानुक्रम बुद्धि को प्रभावित करता है। जैसे-फ्रीमैन

ने यह स्वीकार किया कि बुद्धि का वंशानुक्रम से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। गैसेल और गाल्टन (Gesell & Galton) ने अपने प्रयोग से यह निष्कर्ष निकाला कि बुद्धि पर वंशानुक्रम का अधिक प्रभाव पड़ता है न कि वातावरण का। पीयर्सन (Pearson) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया कि बुद्धिमान मां-बाप के बच्चे भी एक बहुत बड़ी सीमा तक बुद्धिमान होते हैं। इसके अतिरिक्त श्वीसिंगर (Schvesinger), डासन (Dason), न्यूमैन (Newman) आदि मनोवैज्ञानिकों ने भी यह स्वीकार किया कि बुद्धि पर वंशानुक्रम का बहुत प्रभाव पड़ता है। अत: यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक है।

2. **वातावरण** (Environment)–वातावरण के सम्बन्ध में भी अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये। उनका मानना है कि बुद्धि वंशानुक्रम की अपेक्षा वातावरण से अधिक प्रभावित होती है। कोडक (Kodak) ने बुद्धि पर वातावरण के प्रभाव को जानने के लिए अस्सी ऐसी माताओं का अध्ययन किया जिनके बच्चे का पालन-पोषण अच्छे वातावरण में किया गया था। वेलमैन (Wellman), लीही (Leahy), और स्कील (Skeel) ने भी अपने योग के आधार पर यह सिद्ध किया कि यदि बच्चों को अच्छा वातावरण दिया जाए तो उनकी बुद्धि में काफी परिवर्तन लाया जा सकता है। इस विचारधारा के मनोवैज्ञानिक बुद्धि को वातावरण से अधिक प्रभावित होने का समर्थन करते हैं।

3. **आयु** (Age)–बुद्धि और आयु का सम्बन्ध भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक माना जाता है। इस संदर्भ में भी अनेक प्रयोग और अध्ययन किये गये हैं, जैसे–टरमैन (Terman), माइल्स और माइल्स (Miles & Miles), जॉन्स (Jones), थार्नडाइक (Throndike), स्पीयरमैन (Spearman), आदि। इन सभी के प्रयोगों के आधार पर ठयह परिणाम सामने आया कि सामान्यत: बुद्धि 16 से 20 वर्ष की आयु तक ही बढ़ती है, परन्तु भारत में बुद्धि का विकास 25 वर्ष तक होना माना जाता है।

4. **प्रजाति** (Race)–मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि पर प्रजाति के प्रभाव को भी अपने अध्ययन में उतारा और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रजाति भेदों का बुद्धि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। सभी प्रजातियों में तीन वर्ग- तीव्र, सामान्य और निम्न बुद्धि के लोग पाए जाते हैं। उनका प्रतिशत कम या अधिक अवश्य हो सकता है, परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया कि प्रजाति का बुद्धि पर प्रभाव पड़ता है।

5. **लिंग** (Sex)–लिंग का बुद्धि पर प्रभाव पड़ता है या नहीं, इस सम्बन्ध में भी अनेक प्रयोग किये गये। मनोवैज्ञानिक विट्टी (Witty) ने स्वीकार किया कि लिंग भेद का बुद्धि-लब्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं होता, परन्तु यदि लड़कियों को उचित वातावरण न दिया जाए तो उनका चिन्तन पक्ष पिछड़ जाता है और जिनको स्वतंत्र वातावरण भी नहीं मिलता, वे भी लड़कों की अपेक्षा कम बुद्धि-लब्धि ही होती हैं। मैकमीकेन (MacMeeken 1939) ने एक अध्ययन में 875 बच्चों की बुद्धि का मापन किया, यह सभी बच्चे स्काटलैण्ड के थे। इन बच्चों की बुद्धि का मापन स्टैनफोर्ड बिनेट परीक्षण द्वारा किया गया। अध्ययनों के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया कि लड़कों का औसत प्फ्ण 100ण्5 तथा लड़कियों की औसत I.Q. 99.7 थी। दोनों का मध्यमान प्फ्ण और S.D. का क्रमश: 15. 9 तथा 15.2 था। कुछ मनोवैज्ञानिकों का यह भी विचार है कि लड़कियों की I.Q. 6 वर्ष की अवस्था से 14 साल तक के लड़कों की अपेक्षा अधिक रहती है। इसके बाद 16 वर्ष की अवस्था पर दोनों की बुद्धि-लब्धि तथा इस आयु के बाद लड़कों की बुद्धि-लब्धि बढ़ जाती है।

6. **स्वास्थ्य** (Health)– जैसा कि कहा जाता है कि 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का विकास होता है।' दैनिक जीवन के अनुभवों से यह महसूस किया गया है कि स्वास्थ्य जितना ही अच्छा होता है, बच्चे की बुद्धि का विकास उतना ही अच्छा होता है। अत: स्वास्थ्य भी व्यक्ति की बुद्धि प्रभावित करता है।

नोट

5.10 बुद्धि और ज्ञान में अन्तर

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बुद्धि और ज्ञान में निम्नलिखित अन्तर है–

1. बुद्धि वंशानुक्रम द्वारा प्राप्त एक जन्मजात शक्ति है, जबकि ज्ञान अर्जित शक्ति है। ज्ञानार्जन वातावरण में होता है।
2. बुद्धि स्थिर होती है, ज्ञान अर्जित करने से बढ़ता है। बुद्धि घटती या बढ़ती नहीं, किन्तु ज्ञान बढ़ सकता है।
3. अधिक बुद्धि से ज्ञान का विकास हो सकता है, किन्तु अधिक ज्ञान से बुद्धि का विकास नहीं हो सकता।
4. एक व्यक्ति विद्वान् हो सकता है, किन्तु आवश्यक नहीं कि वह बुद्धिमान भी हो। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि जो बुद्धिमान होगा वह विद्वान् भी होगा।
5. बहुत-सी बातों को जानना ज्ञान है, किन्तु उनका उपयोग करना बुद्धि है।
6. मनोवैज्ञानिक रॉस ने कहा है कि "बुद्धि लक्ष्य है और ज्ञान उस सीमा तक पहुँचने का केवल एक साधन है।"
7. मनोवैज्ञानिक बेलार्ड ने कहा है कि "बुद्धि वह मानसिक योग्यता है जो कि ज्ञान, रुचि एवं आदत रूपी साधनों से नापी जाती है।"
8. "सांसारिक जीवन में प्रयोग लाने योग्य 'ज्ञान' या 'विचार' ही बुद्धि है।" ये विचार एडम्स महोदय ने व्यक्त किये हैं।
9. यदि व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तो उसका ज्ञान समाप्त हो जाता है।
10. बुद्धिमान व्यक्ति कठिनाइयों का सामना सरलतापूर्वक कर सकता है, जबकि ज्ञानी व्यक्ति ऐसा करने में असमर्थ हो सकता है।

5.11 बुद्धि के प्रकार

मनोवैज्ञानिक थॉर्नडाइक ने बुद्धि को कई शक्तियों का समूह माना है। इस आधार पर उन्होंने बुद्धि के निम्नलिखित तीन प्रकार बताये हैं–

1. अमूर्त्त बुद्धि (Abstract Intelligence)
2. सामाजिक बुद्धि (Social Intelligence)
3. गामक या यांत्रिक बुद्धि (Motor or Mechanical Intelligence)

1. **अमूर्त्त बुद्धि**–इस बुद्धि द्वारा सूक्ष्म भावों की जानकारी होती है। कवि, साहित्यकार, चित्रकार आदि भावों को इसी बुद्धि के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार की बुद्धि में शब्द, अंक एवं प्रतीकों का प्रयोग अधिक किया जाता है। यह पठन की सीखने की प्रक्रिया है। उन समस्याओं को हल करने की भी प्रक्रिया है जिनमें शब्द एवं प्रतीकों

(Symbols) का इस्तेमाल किया जाता है। इसलिए शब्द एवं प्रतीकों के माध्यम से अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की कला अमूर्त्त या मौखिक बुद्धि की देन है। विद्यालय में पठन, गणित, भूगोल, इतिहास एवं ऐसे ही विषयों में सफलता के लिए अमूर्त्त बुद्धि का विकास किया जाना आवश्यक है। नयी योजना, नया आविष्कार, नया चिन्तन इसी बुद्धि के सहारे होता है।

अमूर्त्त बुद्धि का परीक्षण तीन प्रकार से किया जा सकता है–

1. **आकांक्षा का स्तर–** व्यक्ति की आकांक्षा के स्तर का मापन करने से हमें उस व्यक्ति की अमूर्त बुद्धि का पता चलता है। जिस व्यक्ति की आकांक्षा का स्तर जितना ऊँचा होगा, उसकी अमूर्त्त बुद्धि भी उतनी ही तीव्र होगी।
2. **विभिन्न प्रकार के कार्य करना–** जो व्यक्ति अनेक प्रकार के कार्य करते हैं, उनके कार्य करने की क्षमता को अमूर्त्त बुद्धि के विषय में जाना जा सकता है।
3. **कार्य करने की गति–** जो व्यक्ति अमूर्त्त कार्यों को जितना अधिक गति से करता है, उसकी अमूर्त्त बुद्धि उसी के अनुसार कम या अधिक होगी।

2. **सामाजिक बुद्धि–** इस बुद्धि का संबंध सामाजिक अनुकूलन की योग्यता से है जिसकी सहायता से व्यक्ति अपने को समाज के अनुकूल व्यवस्थित कर लेता है। सामाजिक बुद्धि के कारण, व्यक्ति दूसरों को अपने व्यवहार से प्रभावित कर लेता है। इस प्रकार का व्यक्ति प्रसन्न, मिलनसार तथा सामाजिक कार्यों में रुचि लेता है। सामाजिक बुद्धि के कारण ही व्यक्ति समाज में सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार की बुद्धि वाले व्यक्ति, व्यवसायी, कूटनीतिज्ञ और सामाजिक कार्यकर्त्ता होते हैं।

3. **यांत्रिक बुद्धि–** यांत्रिक बुद्धि का तात्पर्य उस शक्ति या योग्यता से है जिसकी सहायता से व्यक्ति अपने को यंत्रों या भौतिक पदार्थों से संबंधित परिस्थितियों के साथ सुव्यवस्थित कर लेता है। जिन बालकों में यह शक्ति होती है, वह उनमें प्रारम्भिक काल से ही दिखाई पड़ने लगती है। वे अपने खिलौने, घड़ी या साइकिल आदि को खोलकर ठीक करने का प्रयास करते हैं। ऐसे बालक आगे चलकर कुशल, कारीगर, मिस्त्री इंजीनियर आदि बनते हैं। यांत्रिक बुद्धि वाले बालक खेलकूद तथा अन्य शारीरिक कार्यों में भी कुशल होते हैं।

5.12 बुद्धि-परीक्षण का इतिहास

बुद्धि के अर्थ, स्वभाव, प्रकार और सिद्धांतों की विवेचना करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि मनोवैज्ञानिक बुद्धि को सीखने की योग्यता, चिन्तन की योग्यता तथा समायोजन की योग्यता के रूप में परिभाषित करते हैं।

बुद्धि और उसके आपस का श्रेय वैयक्तिक भेदों को है। 1796 में ग्रीनविच की ज्योतिष प्रयोगशाला में किनर ब्रुक नामक व्यक्ति सहायक पर्यवेक्षक नियुक्त हुआ। वह दूरदर्शी यंत्रों की सहायता से तारा ग्रहों की गति का अध्ययन तथा समय का लेखन करता था। उसकी गति धीमी थी। अत: उसे नौकरी से निकल दिया गया। कालान्तर में ज्योतिषियों ने इस घटना पर विचार किया तथा निष्कर्ष निकाला कि प्रत्येक व्यक्ति में योग्यता तथा क्षमता भिन्न होती है। इसलिए उन्होंने वैयक्तिक समीकरण (Equation) के विचार को विकसित किया।

नोट

आधुनिक काल में बुद्धि-परीक्षण के संबंध में वैज्ञानिक अध्ययन यूरोप में आरंभ हुआ। सन् 1879 ई. में जर्मनी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुन्ट (Wundt) ने मनोविज्ञान की प्रथम प्रयोगशाला स्थापित की। इस प्रयोगशाला में बुद्धि की परीक्षा वैज्ञानिक आधार पर की जाती थी। यहाँ बुद्धि का मापन यंत्रों के द्वारा किया जाता था। वुन्ट के कार्यों से प्रोत्साहित होकर अन्य देशों के मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि-परीक्षण से संबंधित कार्य करना आरंभ कर दिया। इस संबंध में फ्रांस के अल्फ्रेड बिने (Alfred Binet) तथा अमेरिका के थार्नडाइक एवं टरमैन (Thornidike and Terman) ने उल्लेखनीय कार्य किये हैं। अन्य मनोवैज्ञानिकों में गाल्टन (Galton), कैटेल (Cattell), पीयरसन (Pearson) आदि विद्वानों ने भी अनेक बुद्धि-परीक्षणों का निर्माण किया है, किन्तु ये परीक्षण साधारण मानसिक क्रियाओं को मापते थे इसलिए इन्हें बुद्धि-परीक्षण नहीं कहा जा सकता। इस कार्य में सबसे पहले और ठोस कदम उठाने वाले मनोवैज्ञानिक अल्फ्रेड बिने थे। बिने ने सन् 1950 ई. में मनोवैज्ञानिक साइमन (Simon) की सहायता से भिन्न-भिन्न आयु के बालकों की बुद्धि-परीक्षण के लिए प्रश्नावलियाँ तैयार कीं, जिसे 'बिने-साइमन बुद्धि मापन' (Binet-Simon Scale) कहा गया है। बिने साइमन परीक्षणों को विभिन्न देशों में मान्यता दी गयी। इसके बाद 1908 ई. के बाद अमेरिका तथा यूरोप में बिने साइमन स्केल का सुधार किया गया। अमेरिका में टरमैन ने सन् 1913-16 के बीच बिने साइमन स्केल का संशोधन किया और इसका नाम स्टैनफोर्ड बिने स्केल रखा। सन् 1937 में टरमैन ने मैरिल (Merril) की सहायता से इसमें फिर कुछ सुधार किया और इसका नाम टरमैन मैरिल स्केल रखा। इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में बालकों के बुद्धि-मापन के लिए इन्हीं परीक्षणों का प्रयोग किया जाता है। भारत में भी मनोविज्ञानशाला, इलाहाबाद ने भारतीय बालकों के लिए बिने साइमन परीक्षणों का संशोधन किया है। भारत में डॉ. सोहनलाल, डॉ. जलोटा, पं. लज्जाशंकर झा तथा डॉ. भाटिया आदि ने विभिन्न-परीक्षण तैयार किये हैं।

5.13 बुद्धि-परीक्षणों के प्रकार

बुद्धि का मापन करने के लिए अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अनेक बुद्धि-परीक्षण बनाए हैं। बुद्धि-परीक्षण के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बिने (Binet) के पूर्व भी अनेक बुद्धि-परीक्षण तैयार किये गये थे जिनमें कैन्टल का बुद्धि-परीक्षण भी था। किन्तु बिने ने साइमन (Simon) की सहायता से 1905 में एक बुद्धि-परीक्षण तैयार किया, जिसका एक वैज्ञानिक आधार था और जो सर्वप्रथम ख्याति प्राप्त बुद्धि-परीक्षण के रूप में विभिन्न देशों में प्रयोग में लाया गया। यद्यपि कि इसमें कई सुधार कर इसे नया रूप दिया गया, किन्तु इसकी तुलना में अनेक बुद्धि-परीक्षण तैयार किये जाने लगे। आज बुद्धि मापन के लिए अनेक बुद्धि-परीक्षण उपलब्ध हैं। यदि हम बुद्धि-परीक्षणों के प्रकारों पर दृष्टि डालें तो उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

(क) वैयक्तिक तथा सामूहिक बुद्धि-परीक्षण

(ख) शाब्दिक तथा अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षण

उपर्युक्त दोनों वर्गों के मिश्रण से बुद्धि परीक्षणों को निम्नलिखित चार वर्गों में रखा जा सकता है–

1. वैयक्तिक शाब्दिक बुद्धि-परीक्षण
2. वैयक्तिक अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षण
3. सामूहिक शाब्दिक बुद्धि-परीक्षण
4. सामूहिक अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षण

नोट

बुद्धि-परीक्षणों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करने से पहले उपर्युक्त दोनों वर्गीकरणों के स्वरूपों तथा उनके अंतर को समझ लेना आवश्यक है–

(क) वैयक्तिक तथा सामूहिक बुद्धि-परीक्षण– वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षण वे होते हैं जिसके द्वारा एक समय में एक व्यक्ति की बुद्धि की परीक्षा होती है। इसके विपरीत जब एक समय में कई व्यक्तियों की एक साथ बुद्धि-परीक्षा होती है, तो उसे सामूहिक बुद्धि-परीक्षण कहते हैं। वैयक्तिक तथा सामूहिक बुद्धि-परीक्षणों में अंतर होता है, जो निम्नलिखित हैं–

वैयक्तिक तथा सामूहिक बुद्धि-परीक्षण में अंतर

वैयक्तिक तथा सामूहिक बुद्धि परीक्षण में निम्नलिखित अंतर पाया जाता है–

वैयक्तिक परीक्षण सामूहिक परीक्षण	सामूहिक परीक्षण
1. इस परीक्षण में अधिक समय लगता है।	1. यह परीक्षा प्राय: 45 से 90 मिनट के भीतर पूरी हो जाती है।
2. इस परीक्षा को केवल प्रशिक्षित व्यक्ति ही ले सकता है।	2. इस परीक्षा को सामान्य योग्यता का व्यक्ति भी ले सकता है।
3. यह छोटे बालकों के लिए अधिक उपयुक्त है।	3. यह बड़े बालकों और वयस्कों के लिए उपयुक्त है।
4. इस परीक्षा में प्रश्न कठिन होते हैं।	4. इसमें प्रश्न सरल होते हैं।
5. इस परीक्षा के प्रश्नों को बनाने में कठिनाई होती है।	5. इसमें प्रश्न सरलता से बन जाते हैं।
6. इस परीक्षा में धन अधिक खर्च होता है।	6. इसमें कम धन की आवश्यकता होती है।
7. इस परीक्षा में बालक प्राय: घबड़ा जाते हैं।	7. सामूहिक परीक्षा में वे प्रसन्नतापूर्वक सहयोग देते हैं।
8. इसमें बालक और परीक्षक का निकट सम्पर्क स्थापित हो जाता है।	8. सामूहिक परीक्षा में इस बात का अभाव होता है।
9. इस परीक्षा के निष्कर्ष में प्रामाणिकता (Validity) और विश्वसनीयता (Reliability) अधिक पाई जाती है।	9. सामूहिक परीक्षा के निष्कर्ष कम प्रामाणिक और विश्वसनीय होते हैं।
10. इस परीक्षा में सामूहिक बुद्धि का पता नहीं लग सकता।	10. सामूहिक परीक्षा से सामूहिक शब्द का अनुमान लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि व्यक्तिगत परीक्षण सामूहिक परीक्षण की तुलना में श्रेष्ठ है। व्यक्तिगत परीक्षण में अधिक धन, समय और प्रशिक्षित व्यक्ति की आवश्यकता होती है। इसीलिए सामूहिक परीक्षणों का अधिक प्रयोग किया जाता है। किन्तु जहाँ तक प्रामाणिकता और विश्वसनीयता का प्रश्न है, व्यक्तिगत परीक्षण अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

(ख) शाब्दिक तथा अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षण–शाब्दिक बुद्धि परीक्षण में भाषा का प्रयोग अधिक होता है। इस परीक्षण में एक साथ बहुत से प्रश्न एक छोटी-सी पुस्तिका के रूप में संग्रहीत होते हैं। शाब्दिक परीक्षणों में शब्दों और संख्याओं का अधिक प्रयोग किया जाता है। इस परीक्षा में व्यक्ति को भाषा तथा अंक का ज्ञान होना आवश्यक है। अशाब्दिक बुद्धि

परीक्षण में भाषा का प्रयोग नहीं किया जाता है। इस परीक्षण में कुछ कार्य करने के लिए निर्देश दिये जाते हैं। इसलिए इसे **क्रियात्मक परीक्षण** (Performance Tests) भी कहते हैं। क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षणों का प्रयोग भाषा विशेष न जानने वाले लोगों या निरक्षर लोगों के लिए किया जाता है। अधिकांश अशाब्दिक अथवा क्रियात्मक बुद्धि परीक्षण वैयक्तिक रूप में है।

नोट

शाब्दिक तथा अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षण में अन्तर

शाब्दिक तथा अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षण में निम्नलिखित अन्तर पाया जाता है–

शाब्दिक परीक्षण	अशाब्दिक परीक्षण
1. शाब्दिक परीक्षण में व्यक्ति को भाषा तथा संख्याओं का ज्ञान आवश्यक है।	1. अशाब्दिक परीक्षण में व्यक्ति को भाषा तथा गणित का ज्ञान आवश्यक नहीं है।
2. शाब्दिक बुद्धि-परीक्षण के अनुक्रिया का अंकन परीक्षण पुस्तिका में दिये गये निर्देशों को पढ़कर उसी पुस्तिका में करना होता है।	2. अशाब्दिक बुद्धि परीक्षण में परीक्षणकर्त्ता मौखिक निर्देश देता है और परीक्षार्थी मौखिक निर्देशानुसार कार्य करता है। निर्देश लिखित भी हो सकते हैं, किन्तु अनुक्रिया के लिए शब्दों या अंकों का प्रयोग नहीं होता।
3. अनुक्रिया अंकित करने के लिए शाब्दिक परीक्षण में शब्द/वाक्य पर चिह्न लगाना, रिक्त स्थान की पूर्ति, मिलान करना, टिक लगाना आदि विधियों का प्रयोग होता है।	3. अशाब्दिक परीक्षण में चित्रों को पहिचानना, अंग पूर्ति करना, आकृतियाँ बनाना, चित्र के अनुसार गुटकों को जोड़ना आदि विधियों का प्रयोग किया जाता है।
4. शाब्दिक परीक्षण में समय का बन्धन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता।	4. अशाब्दिक परीक्षण में बुद्धि का माप करने के समय सीमा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।
5. भाषा के विकास का प्रभाव बुद्धि-परीक्षण के निष्कर्ष पर पड़ता है।	5. भाषा के ज्ञान के स्तर का प्रभाव बुद्धि-परीक्षण के निष्कर्ष पर नहीं पड़ता है।
6. अधिकांश शाब्दिक बुद्धि-परीक्षाएँ सामूहिक रूप से ली जाती हैं।	6. अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षाएँ प्रायः वैयक्तिक रूप से ली जाती हैं।

अब दोनों प्रकार के वर्गों के संयोग से बनने वाले चार वर्गों के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख बुद्धि-परीक्षणों का संक्षिप्त वर्णन करना समीचीन होगा–

1. वैयक्तिक शाब्दिक बुद्धि-परीक्षण

वैयक्तिक शाब्दिक बुद्धि-परीक्षण बुद्धि की परीक्षा एक समय में एक व्यक्ति की लेते हैं और उसमें व्यक्ति को वह भाषा जानना आवश्यक है जो परीक्षण में प्रयोग में लाया गया है। विशिष्ट वैयक्तिक शाब्दिक बुद्धि-परीक्षण निम्नलिखित हैं–

(क) बिने-साइमन-बुद्धि स्केल (Binet-Simon-Intelligence Scale)–मन्द बुद्धि बालकों की पहचान करने के प्रयास में **बिने** (Binet) ने अपने एक सहयोगी **साइमन** (Simon) के साथ एक बुद्धि-परीक्षण का विकास किया, जिसे उन्होंने 1905 में प्रकाशित किया। सफल बुद्धि परीक्षणों में बिने-परीक्षण प्रथम माना जाता है। 1908 तथा 1911 में दोनों ने इसमें और परिमार्जन कर इसे पूर्ण बनाने का प्रयास किया। यही परीक्षण बिने-साइमन बुद्धि स्केल के नाम से विख्यात है।

नोट

बिने-साइमन स्केल में मानसिक आयु के आधार पर बुद्धि-परीक्षण किया जाता है। मानसिक आयु ज्ञात करने के लिए प्रत्येक वर्ष के लिए कुछ प्रश्न दिये गये हैं। जो बालक जिस आयु के लिये निर्धारित प्रश्नों के सभी उत्तर सही-सही देता है, उसकी मानसिक आयु वही मान ली जाती है। उदाहरण के लिए यदि 5 वर्ष का बालक 4 वर्ष के लिए निर्धारित प्रश्नों के उत्तर सही-सही दे पाता है तो उसकी मानसिक आयु चार वर्ष मानी जायेगी, किन्तु यदि वह 7 वर्ष के लिए निर्धारित सभी प्रश्नों का उत्तर सही-सही दे देता है तो उसकी आयु 7 वर्ष मानी जायेगी। वास्तविक आयु की तुलना में मानसिक आयु जितनी अधिक होगी, बालक की बुद्धि उतनी ही अधिक मानी जायेगी। इस प्रकार बुद्धि के माप को बुद्धिलब्धि (Intelligence Quotient) के रूप में व्यक्त किया जाता है। बुद्धिलब्धि ज्ञात करने की विधि अन्यत्र दी गयी है। बिने साइमन बुद्धि परीक्षण 3 से 15 वर्ष के बालक/बालिका के लिए निर्धारित किये गये थे, किन्तु 4 वर्ष की आयु के लिए चार प्रश्न तथा 11 एवं 13 वर्ष आयु के लिए कोई प्रश्न निर्धारित नहीं थे। तीन वर्ष की आयु के लिए निर्धारित प्रश्न निम्नलिखित थे–

(i) अपना नाम बताना।

(ii) अपने मुंह, नाक और कान को उंगली से बताना।

(iii) किसी चित्र को देखकर उसकी मुख्य बातें बताना।

(iv) छः शब्दों के सरल वाक्य को दोहराना।

(v) दो अंकों को एक बार सुनकर दोहराना। जैसे 2-3, 3-7, 6-8 आदि।

बाद के अध्ययनों में पाया गया कि बिने-साइमन स्केल में अनेक दोष विद्यमान हैं। एक प्रमुख दोष यह था कि किसी आयु का बालक अपनी आयु के लिये निर्धारित प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता था तो उसकी मानसिक आयु जीवन आयु से कम मानी जाती थी।

(ख) स्टैनफोर्ड-बिने स्केल (Stanford-Binet Scale)–बिने-साइमन स्केल में दोष होते हुए भी यह विश्वविख्यात हुआ और ख्याति प्राप्त मनोवैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित करने में सफल हुआ। बिने-साइमन बुद्धि स्केल को दोष मुक्त करने के लिए इंग्लैंड के सिरिल बर्ट (Cyril Burt) और अमेरिका के लेविन एम. टरमन (Lewin M- Terman), जो कि स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के प्रोफेसर थे, ने 1916 में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। इस प्रकार सुधारे गये बुद्धि-परीक्षण को 'स्टैनफोर्ड-बिने स्केल' के नाम से जाना जाता है। टरमैन ने आगे चलकर अपने सहयोगी मॉड ए. मेरिल (Maud A. Merrill) की सहायता से 1937 और पुनः 1960 में संशोधन कर इसे पूर्णतः दोष मुक्त कर दिया। इस संशोधित बुद्धि-परीक्षण में बिने के 54 प्रश्नावली के स्थान पर 90 प्रश्न रखे गये, जिनमें बिने के भी कुछ प्रश्न सम्मिलित किये गये। इस स्केल के द्वारा 2 से 14 वर्ष की आयु तक के बालक/बालिका की बुद्धि का मापन किया जाता है। इसमें 13 वर्ष तक की आयु के लिए प्रत्येक प्रश्न के सही उत्तर के लिये दो माह और 14 वर्ष आयु के लिए प्रत्येक प्रश्न के सही उत्तर के लिए चार माह एवं सामान्य वयस्क के लिए पाँच माह निर्धारित किये गये हैं। इसकी प्रश्नावली के प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर मानसिक आयु ज्ञात की जाती है और वास्तविक आयु के अनुपात में बुद्धि के माप के विषय में निर्णय दिया जाता है। स्टैनफोर्ड-बिने स्केल की प्रश्नावली के उदाहरण के रूप में तीन वर्ष के लिए निर्धारित प्रश्नों की सूची निम्नलिखित है–

(i) अपने परिवार का नाम बताना।

(ii) अपने को बालक या बालिका (लिंग ज्ञान) होना बताना।

(iii) 6 से 7 अक्षरों के वाक्य को दोहराना।

(iv) अपने मुँह, नाक और आँखों आदि को उंगली से बताना।

(v) चाकू, चाभी, कैंची आदि को देखकर उनका नाम बताना।

(vi) किसी चित्र को देखकर उसकी मुख्य बातें बताना।

नोट

उपर्युक्त प्रश्नावली के माध्यम से बिने-साइमन और स्टैनफोर्ड-बिने बुद्धि स्केल में अन्तर देखा जा सकता है।

2. वैयक्तिक अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षण

वैयक्तिक अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षण उनके लिए होते हैं जो भाषा सम्बन्धी ज्ञान नहीं रखते। भाषा के स्थान पर इनमें चित्रों, वस्तुओं तथा आकृतियों आदि का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के बुद्धि-परीक्षणों को क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षण भी कहते हैं, क्योंकि इसमें उत्तर क्रियात्मक रूप में दिये जाते हैं। क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षाएँ प्रायः व्यक्तिगत रूप से ली जाती है। प्रमुख अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षण निम्नलिखित हैं–

(क) चित्रांकन-परीक्षण (Picture Drawing)–यह परीक्षण 4 से 10 साल तक आयु के बालकों के लिए उपयुक्त है। इसमें बालक को एक कागज और पेन्सिल दी जाती है और उससे यह कहा जाता है कि "गाय का चित्र खींचो"। इस परीक्षा में बालकों को चित्र की पूर्णता के आधार पर अंक दिये जाते हैं।

(ख) चित्र पूर्ति-परीक्षण (Picture Completing Test)–इसमें बालक के सामने एक चित्र के वर्गाकार टुकड़े काटकर दिये जाते हैं और कहा जाता है, इन्हें एकत्र करके पूरा चित्र बनाओ।

(ग) भूलभुलैया परीक्षण (Maze Test)–इसमें बालक को एक ऐसा रेखाचित्र दिया जाता है जिसमें अनेक रास्ते बने होते हैं जो बालक एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिना रुकावट के पहुँच जाता है, उसे बुद्धिमान समझा जाता है।

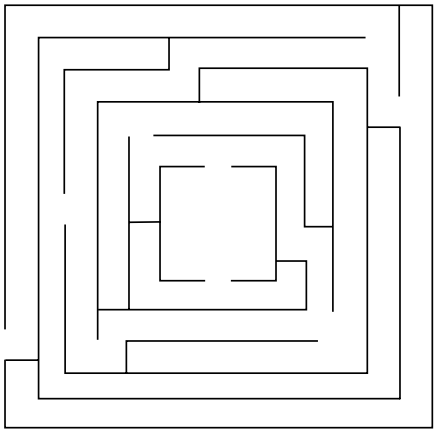

चित्र 5.2. पोर्टियस भूलभुलैया परीक्षण

(घ) आकृति फलक परीक्षा (Form Board Test)–इसमें एक लकड़ी का तख्ता होता है जिसमें विभिन्न आकृति के छेद बने होते हैं। जैसे–गोलाकार, अर्द्ध गोलाकार, चतुर्भुजाकार,

नोट

त्रिकोणाकार आदि। इन छेदों में उनके कटे हुए टुकड़ों को ठीक से उचित स्थान में बैठाना पड़ता है जो बालक नियत समय के भीतर टुकड़ों को ठीक स्थान पर रख देता है उसे बुद्धिमान समझा जाता है।

(ङ) डॉ. अलेक्जेण्डर द्वारा बनाये गये क्रियात्मक परीक्षण समूह–डॉ. अलेक्जेण्डर ने बुद्धि मापने के लिए तीन परीक्षाओं को मिलाकर एक बैटरी (Battery) का निर्माण किया है। इस बैटरी में निम्नलिखित तीन क्रियात्मक परीक्षाएँ हैं–

I. कोहज ब्लाक डिजाइन टेस्ट (Kohas Block Design Test)–इसकी परीक्षा-सामग्री में एक इंच के सोलह रंगीन घन होते हैं तथा दस डिजाइन (नमूने) होते हैं। एक दफ्ती के टुकड़े पर ये डिजाइन एक ही रंग से बनाये जाते हैं। बालक को उस डिजाइन के अनुसार घनों को इस प्रकार जोड़ना पड़ता है कि डिजाइन बन जाये। भिन्न-भिन्न डिजाइनों के लिए बालक को इन घनों को विभिन्न प्रकार से जोड़ना पड़ता है।

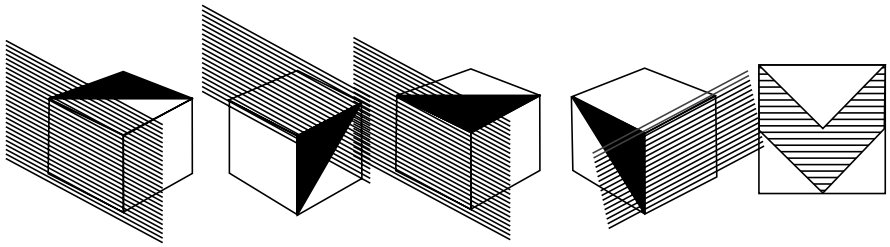

चित्र 5.3. कोहज ब्लाक डिजाइन परीक्षण

II. क्यूब कान्सट्रक्शन टेस्ट (Cube Construction Test)– इस परीक्षा के तीन भाग होते हैं–

(i) प्रथम भाग में एक बड़ा मॉडल ब्लाक (Model Block) 3″ × 1″ × 1″ का होता है। इसकी चार सतह लाल रंग की होती है और ऊपरी तथा नीचे की सतह सादी होती है। इसके अलावा 9 एक इंच घन के घन होते हैं। इनकी सतहें रंगीन होती हैं। इन्हें ठीक से मिलने पर या रखने पर मॉडल ब्लाक की आकृति बन जाती है।

(ii) दूसरे भाग के मॉडल ब्लाक में केवल नीचे की सतह रंगीन नहीं होती। इनमें भी 9 एक इंच घन के घन होते हैं जिनकी सतहें रंगीन होती हैं। इन्हें जोड़कर मॉडल ब्लाक की आकृति बनाने के लिए कहा जाता है।

(iii) तीसरे भाग के एक रंगहीन दो इंच का घन होता है और आठ एक इंच के घन के घन होते हैं जिनमें से प्रत्येक की तीन सतहें रंगीन होती हैं। इन छोटे घनों को मिलाकर मॉडल ब्लाक की आकृति में रखना होता है।

III. पास एलांग टेस्ट (Pas Along-Test)– इसमें एक लकड़ी की तश्तरी में कुछ चौकोर या आयताकार लाल, पीले रंग के टुकड़े रखे रहते हैं। इन टुकड़ों को खिसकाकर, बिना उठाये इस प्रकार रखना होता है जिससे दिया गया डिजाइन बन जाए। इस परीक्षा में आठ डिजाइन होते हैं।

(च) वस्तु-संयोजन परीक्षण (Objects Assembling Test)–इस प्रकार के परीक्षणों में वैक्सलर (Wacksler) का परीक्षण प्रमुख है। इसमें मानव-आकृति को अनेक भागों में विभक्त कर दिया जाता है और बालक को विभिन्न भागों को जोड़कर सही ढंग से मानव-आकृति बनानी होती है।

नोट

(छ) भाटिया बैटरी (Bhatia Battery)–बुद्धि-परीक्षण के लिए भाटिया बैटरी के निर्माता चन्द्र मोहन भाटिया हैं। यह भारतीय परिस्थितियों में बुद्धि मापन के लिए बहुत अनुकूल है। इस बैटरी (परीक्षणों का समूह) में कुल पाँच परीक्षणों का संयोजन है, जो निम्नलिखित हैं–

(i) कोहज का ब्लाक डिजाइन टेस्ट (ii) एलेक्जेण्डर का पास एलांग टेस्ट (iii) पैटर्न ड्राइंग टेस्ट (iv) तात्कालिक स्मृति परीक्षण तथा (v) चित्र-निर्माण परीक्षण।

उपर्युक्त बुद्धि-परीक्षणों में कुछ अवधि निश्चित कर दी जाती है। उत्तर देने के लिए प्राय: 45 मिनट का समय दिया जाता है। परीक्षार्थी जितनी जल्दी चाहे प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। इसके आधार पर बुद्धि के साथ-साथ व्यक्ति की गति (Speed) की भी परीक्षा ली जाती है। जिन परीक्षाओं में समय निर्धारित कर दिया जाता है उन्हें समय सीमा परीक्षा कहते हैं।

कुछ परीक्षाएँ इस प्रकार की होती है जिनमें समय की सीमा नहीं होती। प्रश्नों का उत्तर देने के लिए परीक्षार्थी जितना समय चाहे ले सकता है। इसमें बुद्धि के साथ-साथ यह देखा जाता है कि व्यक्ति कितना ठीक (Acurate) काम करता है।

3. सामूहिक शाब्दिक बुद्धि परीक्षण

इसमें भाषा का प्रयोग ही अधिक होता है। इस परीक्षण में एक साथ बहुत से प्रश्न एक छोटी-सी पुस्तिका के रूप में संग्रहीत होते हैं। शाब्दिक परीक्षणों में शब्दों का और संख्याओं का अधिक प्रयोग किया जाता है। इन परीक्षणों से बालकों की शाब्दिक योग्यता का मापन होता है।

शाब्दिक बुद्धि-परीक्षण के प्रश्नों के उदाहरण निम्नलिखित हैं–

1. निम्नलिखित में जो शब्द अन्य शब्दों से भिन्न हैं, उनके नीचे रेखा खींचिए–

कुर्सी, मेज, अलमारी, पलंग, कमीज।

2. निम्नलिखित पाँच शब्दों में से किसका बाकी चारों से मेल नहीं है।

चीन, जापान, मुम्बई, भारत, फ्रांस।

3. 'रात' का उल्टा है–प्रजा, राजा, दिन, शाम।

4. 1, 4, 8, 12, 16, 20–इन संख्याओं के क्रम के अनुसार आगे की संख्या लिखो।

5. पर्वत का अर्थ है–मैदान, किनारा, पहाड़, पत्थर।

6. कमल से विमल तेज दौड़ता है। कमल से हरि कम दौड़ पाता है तो सबसे तेज कौन दोड़ता है? कमल, विमल, हरि।

सामूहिक शाब्दिक बुद्धि परीक्षणों का विकास प्रथम विश्व युद्ध के समय हुआ क्योंकि बड़ी शीघ्रता में बड़ी संख्या में सैनिकों का चयन करना था। इस वर्ग में मुख्य रूप से प्रयोग में आने वाले परीक्षण निम्नलिखित हैं–

(क) आर्मी अल्फा टेस्ट (Army, Alpha, Test)–यह परीक्षण अंग्रेजी भाषा जानने वालों के लिए है। अमेरिका में बड़ी संख्या में एक साथ सैनिकों तथा सैन्य कर्मचारियों एवं अधिकारियों का चयन करने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के समय इस परीक्षण का निर्माण किया गया था। इस परीक्षण की परीक्षा-सामग्री बहुत कुछ स्टैनफोर्ड बने स्केल से ली गयी मालूम होती है।

नोट

(ख) सेना सामान्य वर्गीकरण परीक्षण (Army General Classification)–द्वितीय विश्व युद्ध में अमेरिका में सेना के विभिन्न विभागों में सैनिकों का वर्गीकरण करने के लिए सेना सामान्य वर्गीकरण परीक्षण तैयार किया गया था। इस परीक्षण में तीन प्रकार की समस्याओं, यथा–शब्दावली, गणित तथा वस्तु गणना से संबंधित बातों का समाधान करना पड़ता था। इस परीक्षण का प्रयोग लगभग 12 लाख सैनिकों के बुद्धि-परीक्षण लेने के लिए किया गया था।

सामूहिक बुद्धि-परीक्षण निर्माण के क्षेत्र में भारत में उल्लेखनीय प्रयास किये गये हैं। इसमें **डॉ. मोहनलाल का बी. पी.टी.** 12, बी.पी.टी. 13 और बी.पी.टी. 14 जो कि क्रमशः 12, 13 व 14 वर्ष की आयु के लिए हैं और डॉ. जलोटा तथा डॉ. जोशी का परीक्षण भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञानशाला, उत्तर प्रदेश द्वारा अनेक शाब्दिक सामूहिक बुद्धि-परीक्षण तैयार किये गये हैं, जो कि क्रमशः कक्षा आठ, दस और बारह के विद्यार्थियों के लिए हैं।

4. सामूहिक अशाब्दिक बुद्धि परीक्षण

इसमें भाषा का प्रयोग नहीं किया जाता है। इस परीक्षण में किसी जानवर का चित्र बनवाया जाता है या किसी दिए हुए चित्र में गलती बताई जाती है। इस प्रकार के बुद्धि परीक्षण के निर्माण में टरमैन, थामसन, हैगर्टो, बेलार्ड तथा कैटल आदि मनोवैज्ञानिकों ने पर्याप्त योगदान किया। इस संबंध में बेलार्ड का कथन है कि "इस योजना से मूर्खों को निकालना तथा बैल एवं गधे को एक साथ न जोतना और योग्य व्यक्ति को योग्य पद पर रखना संभव हो सकता।" बिना भाषा का प्रयोग किये इस प्रकार के परीक्षण अनेक व्यक्तियों पर एक साथ लागू किये जाते हैं। इस वर्ग के उल्लेखनीय परीक्षण निम्नलिखित हैं–

(क) आर्मी बीटा टेस्ट (Army Beta Test)–आर्मी अल्फा टेस्ट के समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आर्मी बीटा टेस्ट का निर्माण भी अमेरिका में प्रथम विश्वयुद्ध के समय में किया गया था। सेना में विभिन्न पदों और विभागों में कार्य करने वाले व्यक्तियों का चयन ऐसे लोगों में से करना था जो कि अशिक्षित थे या अंग्रेजी भाषा का ज्ञान नहीं रखते थे। अतः एक समय में सामूहिक रूप से निरक्षर या अंग्रेजी न जानने वाले व्यक्तियों का बुद्धि-परीक्षण कर अपेक्षित बुद्धि रखने वाले व्यक्तियों की पहचान के लिए इस परीक्षण में क्रियात्मक विधि अपनाई गयी। इसमें वस्तुओं की गणना, अंकित चित्र से संबंधित विभिन्न वस्तुओं में एक-दूसरे से संबंध बताना, चित्र की उन वस्तुओं में चिह्न लगाना, जिनका किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है आदि प्रकार की समस्या-समाधान के आधार पर बुद्धि का मापन किया जाता है।

(ख) शिकागो अशाब्दिक टेस्ट (Chicago Non-Verble Test)–6 वर्ष की आयु के बालकों या बालिकाओं से लेकर प्रौढ़ वय के व्यक्तियों तक के लिए शिकागो अशाब्दिक टेस्ट का प्रयोग किया जाता है। 13 वर्ष की आयु के बालकों का बुद्धि-परीक्षण करने में तो यह बहुत उपयोगी पाया गया है। इस टेस्ट में अनेक प्रकार के कार्य करने का निर्देश दिया जाता है, जैसे–विभिन्न प्रकार की आकृतियों में समानता या असमानता बताना, चित्र के अलग हुए टुकड़ों को व्यवस्थित करके उसे पूर्ण करना, लकड़ी के टुकड़ों की सहायता से गणना करना तथा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं में से समान वस्तुओं को पहचान कर अलग-अलग वर्गों में रखना।

उपर्युक्त के अतिरिक्त सामूहिक अशाब्दिक बुद्धि-परीक्षणों में कैटल का संस्कृति-स्वतंत्र परीक्षण तथा **पीजन** (Pigeon) के अशाब्दिक परीक्षण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिनमें विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ होती हैं और उन आकृतियों में समानताएँ या असमानताएँ दिखानी पड़ती हैं।

नोट

5.14 भारत में बुद्धि-परीक्षा

भारत में बुद्धि-परीक्षा का विकास अभी कुछ दिनों पूर्व ही हुआ है। उपर्युक्त वर्णित बुद्धि-परीक्षा में 'बिने-परीक्षा' को भारतीय परिस्थितियों में प्रयोग करने का प्रयास किया गया। बुद्धि-परीक्षा सम्बन्धी कार्य देश के विभिन्न राज्यों के विश्वविद्यालय में उनके 'शिक्षा विभाग' तथा मनोविज्ञानशाला (Psychological Bureau) में किये जो रहे हैं। सन् 1922 ई. में डॉ. सी. एच. राइस (C.H. Rice) ने 'हिन्दुस्तानी बिने कार्यात्मक परख' (Hindustani Binet Performance Test) का प्रकाशन किया। यह परीक्षा बिने की परीक्षाओं का संशोधित रूप है। इसके बाद जो क्रियात्मक बुद्धि-परीक्षण बनाये गये, उनमें डॉ. भाटिया का 'क्रिया परीक्षण समूह' (Bhatia Battery of Performance Test) उल्लेखनीय है।

भाटिया क्रियात्मक परीक्षण समूह– अलेक्जेण्डर द्वारा बनाये गये क्रियात्मक परीक्षण समूह के आधार पर बालकों के लिए डॉ. भाटिया ने क्रियात्मक परीक्षण का निर्माण किया। निम्नलिखित पाँच परीक्षण सम्मिलित किये गये हैं–

1. कोहज ब्लाक डिजाइन टेस्ट।
2. अलेक्जेण्डर्स पास एलांग टेस्ट।
3. पैटर्न ड्राइंग टेस्ट (Pattern Drawing Test)
4. इमिडिएट मेमोरी टेस्ट फार डिजिट्स (Immediate Memory Test for Digits)
5. पिक्चर कान्सट्रक्शन टेस्ट (Picture Construction Test)। इसमें प्रथम दो परीक्षाएँ उसी प्रकार की हैं जिनका वर्णन किया जा चुका है।

पैटर्न ड्राइंग टेस्ट में अलग-अलग कार्ड पर आठ रेखाचित्र बने हैं। इन्हें सामने रखकर उसी प्रकार का चित्र बनाने के लिए कहा जाता है।

इमिडिएट मेमोरी टेस्ट फार डिजिट्स में कुछ संख्या जैसे 7, 5, 11, 4 कहकर या दिखाकर तुरन्त उसे दोहराने के लिए कहा जाता है।

पिक्चर कन्सट्रक्शन टेस्ट में भारतीय जीवन को दिखाने वाले पाँच दृश्य हैं, इन्हें अलग-अलग टुकड़ों पर रखकर फिर से मिलाने के लिए कहा जाता है। इस क्रिया से पूरा चित्र बन जाता है।

इन बुद्धि परीक्षाओं के अलावा हिन्दी में निम्नलिखित बुद्धि परीक्षाएँ बनाई गयी हैं।

1. **शाब्दिक बौद्धिक परीक्षा**–इसका निर्माण मनोविज्ञानशाला, उत्तर प्रदेश में हुआ है। यह परीक्षा दस साल के बालकों से लेकर प्रौढ़ों तक के लिए है।
2. **शाब्दिक बौद्धिक परीक्षा**–यह भी मनोविज्ञानशाला, उत्तर प्रदेश में बनाई हैं, यह आठवीं, दसवीं और बारहवीं कक्षा (ग्रेड) के बालकों के लिए है।
3. **शाब्दिक बौद्धिक परीक्षा**–यह 10 साल से लेकर 16 साल तक के बालकों के लिए है। इसे डॉ. एस.ए. मोहसिन ने बनाया है।

नोट

4. **साधारण मानसिक योग्यता परीक्षा–** इसका निर्माण डॉ. एस. जलोटा ने किया है। यह 12 से 16 साल के बालकों के लिए है।

इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से बुद्धि-परीक्षण बनाए गये हैं जिनका प्रयोग आवश्यकतानुसार विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है।

5.15 बुद्धि-मापन की विधि

बुद्धि मापने की विधि को जानने के लिए हमें दो बातों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है–

1. मानसिक आयु (Mental Age)
2. बुद्धि-लब्धि (Intelligence Quotient)

मानसिक आयु–मानसिक आयु व्यक्ति के बुद्धि स्तर (Level of Intelligence) की सूचक है। मानसिक आयु किसी विशेष आयु में बालक की मानसिक परिपक्वता को प्रकट करती है। डॉ. माथुर के अनुसार, "मानसिक आयु किसी व्यक्ति के द्वारा प्राप्त विकास की सीमा की वह अभिव्यक्ति है जो उसके कार्यों द्वारा जानी जाती है तथा किसी आयु विशेष में उसकी अपेक्षा होती है।" मनोविज्ञान में मानसिक आयु निर्धारण करने के लिए विभिन्न आयु के लिए विभिन्न प्रकार की बुद्धि-परीक्षाओं का निर्माण किया गया है। मानसिक आयु इन बुद्धि-परीक्षाओं द्वारा ज्ञात की जा सकती है। उदाहरणार्थ यदि किसी बुद्धि-परीक्षा में 12 वर्ष के बालकों के लिए निर्धारित औसत मान (Average Score) 75 हो तो जिस बालक का इस परीक्षा का औसत मान 75 आये तो उसकी मानसिक आयु 12 वर्ष मानी जायेगी, चाहे वह 10 वर्ष का ही हो। किसी भी बालक की वास्तविक आयु और मानसिक आयु में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होता। 12 वर्ष की बालक की मानसिक आयु 8 वर्ष के बालक की मानसिक आयु के बराबर भी हो सकती है। मानसिक आयु जानने के लिए एक बुद्धि परीक्षण का प्रयोग करना आवश्यक है। उपर्युक्त वर्णित परीक्षणों से उत्तरों के आधार पर मानसिक आयु का ज्ञान प्राप्त किया जाना है।

5.16 बुद्धि-लब्धि

व्यक्ति की मानसिक आयु जान लेने पर यह पता नहीं लग पाता कि वह तीव्र, सामान्य या मन्द बुद्धि का है। बुद्धि को मापने के लिए बुद्धि-लब्धि (I.Q.) का आविष्कार मनोवैज्ञानिक टरमैन ने किया। बुद्धि-लब्धि क्या है? इसे जानने के पहले वास्तविक आयु (Chronological Age) तथा मानसिक आयु (Mental Age) का पता लगाना आवश्यक है। इसके बाद निम्नांकित सूत्र या समीकरण (Formula) द्वारा बुद्धि-लब्धि निकाली जाती है।

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times 100$$

$$\text{या, I.Q.} = \frac{\text{M .A.}}{\text{C.A.}} \times 100$$

उदाहरण के लिए किसी बालक की मानसिक आयु 15 वर्ष है और उसकी वास्तविक आयु 12 वर्ष है तो उसकी बुद्धि-लब्धि इस प्रकार निकाली जाती है–

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{15}{12} \times 100 = 125$$

इस बुद्धि-लब्धि का अर्थ यह है कि बालक प्रखर बुद्धि का है। साधारणत: जिनकी बुद्धि-लब्धि 100 या इसके आस-पास होती है, ये सामान्य बुद्धि के माने जाते हैं।

बुद्धि-लब्धि का वर्गीकरण

नोट

मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि-लब्धि की गणना के आधार पर व्यक्ति की बुद्धि को निम्नांकित वर्गों में रखा है–

सारिणी 5.1

बुद्धि-लब्धि वग (I.Q. Group)	बुद्धि-वर्ग (Intelligence Group)
1. 140 से 200 तक	प्रतिभाशाली (Genious)
2. 120 से 140 तक	प्रखर बुद्धि (Kery Superior)
3. 110 से 120 तक	उत्कृष्ट बुद्धि (Superior)
4. 90 से 110 तक	सामान्य बुद्धि (Average)
5. 80 से 90 तक	मन्द बुद्धि (Dull)
6. 70 से 80 तक	निर्बल बुद्धि (Feeble Minded)
7. 50 से 60 तक	मूर्ख (Moron)
8. 25 से 50 तक	मूढ़ (Imbecile)
9. 25 से नीच	जड़ बुद्धि (Idiot)

5.17 बुद्धि-परीक्षणों की उपयोगिता

शिक्षा के क्षेत्र में बुद्धि-परीक्षाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार बालक को केन्द्र मानकर शिक्षा देना चाहिए। इसलिए बालक की बुद्धि और योग्यता को ध्यान में रखते हुए शिक्षा प्रदान करना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से बुद्धि-परीक्षाएँ शिक्षा की महत्त्वपूर्ण साधन बन गई हैं। शिक्षा में बुद्धि-परीक्षाओं की निम्नलिखित उपयोगिता है–

1. **छात्रों के चयन में सहायता–**बुद्धि-परीक्षा के द्वारा उपयुक्त छात्रों को उपयुक्त कक्षाओं में प्रवेश देने में सहायता मिलती है। इसके द्वारा अनुपयुक्त छात्रों को छाँट दिया जाता है और केवल योग्य छात्र का ही चयन किया जाता है।
2. **बालकों के मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण में सहायता–**बुद्धि-परीक्षाओं की सहायता से बालकों को विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है। तीव्र बुद्धि, सामान्य बुद्धि और मन्द बुद्धि बालकों को अलग-अलग वर्ग में रखकर उसकी योग्यता के अनुसार उन्हें शिक्षा दी जा सकती है।
3. **विशिष्ट योग्यता की माप में सहायता–**इन परीक्षाओं द्वारा विद्यालय में सर्वोच्च बालकों का चुनाव किया जा सकता है जो कि वाद-विवाद प्रतियोगिताओं तथा अन्य क्रियाकलापों में उच्च स्थान प्राप्त करते हैं।
4. **समस्यात्मक बालकों से व्यवहार करने में सहायता–**बुद्धि-परीक्षा द्वारा ऐसे बालकों की बुद्धि-लब्धि का पता लग जाता है कि उनके व्यवहार का कारण बुद्धि की कमी है या कोई अन्य कारण है। इस प्रकार बुद्धि-परीक्षा द्वारा उनके असामान्य व्यवहार के कारणों को जानकर उनका उपचार और सुधार किया जा सकता है।

5. **बालकों की क्षमता के अनुसार कार्य देने में सहायता**–बुद्धि-परीक्षा द्वारा बालक की कार्य करने की क्षमता का पता लगाया जा सकता है।
6. **बालक के भविष्य की ओर संकेत**–डगलस और डाजेंड ने कहा है–"बुद्धि-परीक्षाएँ छात्रों की भावी सफलता की ओर संकेत करती है।" इन परीक्षाओं द्वारा उनकी भावी सम्भावनाओं का पता लगाया जा सकता है।
7. **पाठ्य विषयों के चुनाव में सहायता**–इन परीक्षाओं के आधार पर यह जाना जा सकता है कि कौन-से बालक के लिए कौन-कौन से विषय उपयुक्त होंगे।
8. **वार्षिक परीक्षाओं में सहायता**–इन परीक्षाओं के आधार पर कुशाग्र बुद्धि बालक यदि कक्षा की परीक्षा में कम अंक प्राप्त करता है या असफल हो जाता है या बीमारी आदि के कारण परीक्षा में अधिक अंक प्राप्त नहीं कर पाता तो उसे आगे की कक्षा में पढ़ाया जा सकता है।
9. **अध्यापकों के कार्य की जाँच**–इन परीक्षाओं द्वारा अध्यापकों ने बालक को किस प्रकार पढ़ाया है, इसका भी पता लग सकता है।
10. **अध्यापकों को शिक्षण-कार्य में सहायता**–बुद्धि परीक्षा का प्रयोग करके तीव्र बुद्धि और मन्द बुद्धि बालकों को अलग-अलग वर्ग में रखा जाता है। इस प्रकार की कक्षा में जिसमें एक ही स्तर की बुद्धि के बालक रहते हैं, शिक्षकों को पढ़ाने में सुविधा होती है और बालक भी रुचिपूर्वक ध्यान लगाकर पढ़ता है।
11. **व्यवसाय सम्बन्धी मार्गदर्शन की सहायता**–बुद्धि परीक्षाओं का प्रयोग करके बालकों की व्यावसायिक योग्यता का अनुमान लगाया जा सकता है और उन्हें व्यवसाय चुनाव में सहायता दी जा सकती है।
12. **विद्यार्थियों की प्रगति का ज्ञान**–बुद्धि-लब्धि का प्रयोग करके शिक्षक यह मालूम कर लेता है कि विद्यार्थी अपनी योग्यतानुसार पाठ्य-विषयों में प्रगति कर रहा है या नहीं। इस प्रकार इन परीक्षाओं से विद्यार्थियों द्वारा किये गये परिश्रम की जाँच की जा सकती है।
13. **मानसिक अस्वस्थता का निदान** (Diagnosis of Mental Health)–बुद्धि-परीक्षाओं द्वारा मानसिक अस्वस्थताओं का पता लगाकर उसका उपचार करने में सहायता मिलती है।
14. **छात्रवृत्ति देने का निर्णय करने में सहायता**–इन परीक्षाओं से बुद्धि-परीक्षण करके योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति देने में सहायता ली जा सकती है।
15. **शिक्षा में अपव्यय का निवारण**–प्राय: विद्यालयों में अनेक बालक परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण होने पर पढ़ाई स्थगित कर देते हैं। इसलिए इस अपव्यय को दूर करने के लिए बुद्धि-परीक्षाओं द्वारा बालकों की योग्यताओं का ज्ञान प्राप्त करके, उन्हें पाठ्यविषयों का चुनाव करने में सहायता दी जा सकती है।
16. **व्यक्तियों के विशिष्ट वर्गों के अध्ययन में सहायता**–बुद्धि-परीक्षाएँ विशिष्ट वर्गों, जैसे-अन्धे, बहरे, गूंगे तथा अन्य जातीय समुदायों के बौद्धिक स्तर का सर्वेक्षण करने में सहायता देती है।
17. **औद्योगिक और व्यावसायिक क्षेत्र में उपयोगिता**–बुद्धि-परीक्षाओं द्वारा सरकारी और गैर सरकारी सेवाओं के लिए अधिकारियों तथा कर्मचारियों के चुनाव में सहायता ली जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धि-परीक्षाओं का प्रयोग जीवन के विविध क्षेत्रों

में दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में बुद्धि-परीक्षाओं के द्वारा अनेक समस्याओं का निदान तथा उपचार किया जा सकता है। शिक्षा-क्षेत्र में विशेष रूप से इनका उपयोग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

नोट

5.18 बुद्धि के सिद्धांत

मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि के संगठन के विषय में निम्नलिखित सिद्धांतों को स्वीकार किया है–

1. एक तत्वीय अथवा एक सत्तात्मक सिद्धान्त (Unifactor or Monarchic Theory)
2. द्वितत्वीय या द्विखण्ड का सिद्धान्त (Two factor Theory)
3. त्रिखण्ड सिद्धान्त (Three-factor Theory)
4. बहुतत्व अथवा असत्तामक सिद्धान्त (Multifactor or Anarchic Theory)
5. बहुमानसिक योग्यता का सिद्धान्त (Multi-Mental Ability Theory)
6. वर्गघटक या संघसत्तात्मक सिद्धान्त (Group factor or Oligarchic Theory)
7. क्रमिक महत्त्व का सिद्धान्त (Hierarchical Theory)
8. केटल का सिद्धान्त (Catal's Theory)
9. सम्मिलित सिद्धान्त (Unified Theory)

1. एक सत्तात्मक सिद्धान्त–इसे एक खण्ड का सिद्धान्त भी कहा गया है। इस सिद्धान्त के समर्थक मनोवैज्ञानिक बिने, टरमैन, स्टर्न हैं। इनके अनुसार बुद्धि एक इकाई है और सम्पूर्ण बुद्धि एक समय में सक्रिय होकर एक ही प्रकार का कार्य करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि सर्वशक्तिशाली मानसिक शक्ति है जो सभी मानसिक योग्यताओं पर शासन करती है। किन्तु यह सिद्धान्त तो दोषपूर्ण माना जाता हैं, क्योंकि हम यह नहीं कहते कि जो व्यक्ति गणित में निपुण है, वह कला में भी निपुण होगा।

2. द्वि-तत्त्वीय या द्विखंड का सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के समर्थक मनोवैज्ञानिक स्पीयरमैन हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि में दो तत्व होते हैं अर्थात् बौद्धिक योग्यताओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है।

(क) सामान्य तत्व या योग्यता (General Ability or 'G' factor)

(ख) विशेष तत्व या योग्यता (Specific Ability or 'S' Factor)

स्पीयरमैन के अनुसार बुद्धि दो प्रकार की शक्तियों या योग्यताओं का योग है। सामान्य योग्यता व्यक्ति को सभी प्रकार के कार्यों में सहायता करती है और विशेष योग्यता, विशिष्ट कार्यों को करने में सहायता देती है। जैसे–कोई संगीत या कला कौशल में प्रवीण होता है, कोई गणित या विज्ञान में-विशेष कार्यों में प्रवीणता विशेष बुद्धि तत्व ('S' Factor) की आवश्यकता होती है।

बुद्धि के सामान्य तत्व की निम्न विशेषताएँ हैं–(1) यह तत्व सभी में पाया जाता है। (2) यह जन्मजात होता है, (3) यह तत्व सदा एक समान होता है। (4) प्रत्येक व्यक्ति की सामान्य योग्यता में अन्तर होता है, (5) जिस व्यक्ति में यह तत्व अधिक होता है वह दूसरों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त करता है, (6) इस तत्व की जीवन के सभी कार्यों में अधिक आवश्यकता होती है।

बुद्धि के विशिष्ट तत्व की ये विशेषताएँ हैं–(1) यह तत्त्व भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में कम या अधिक मात्रा में होता है। (2) विभिन्न क्रियाओं के लिए विभिन्न प्रकार के विशेष तत्व निर्धारित होते हैं। (3) जिस व्यक्ति में जिस विशेष तत्व की अधिकता होती है, वह उसी में क्षमता प्राप्त करता है। (4) विशेष तत्व को अर्जित किया जा सकता है। (5) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विशेष तत्व पाये जाते हैं।

3. **त्रिखंड सिद्धान्त–**इस सिद्धान्त से स्पीयरमैन ने बुद्धि के 'G' और 'S' तत्वों के साथ एक 'सामूहिक खण्ड'द और जोड़ दिया। इसके अनुसार बुद्धि-परीक्षा में तीन तत्वांशों की आवश्यकता होती है–सामान्य बुद्धि, विशिष्ट बुद्धि और भाषा या स्थानात्मक ज्ञान की। यह सिद्धान्त विवादास्पद रहा है। मनोवैज्ञानिकों ने इस पर मतभेद प्रकट किया है। अत: यह सर्वमान्य नहीं हो सका।

4. **बहुतत्व या असत्तात्मक सिद्धान्त–**इस सिद्धान्त के प्रवर्तक अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक हैं। इनके मतानुसार बुद्धि कई प्रकार की शक्तियों का एक समूह है और इन विभिन्न प्रकार की शक्तियों में किसी भी प्रकार की समानता आवश्यक नहीं है। थार्नडाइक बुद्धि के समान तत्व को नहीं मानते, उनके विचार से सभी मनुष्यों की बुद्धि विशेष होती है। यदि किसी में एक विषय की योग्यता है तो उससे उसके दूसरे विषय की योग्यता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। थार्नडाइक ने बुद्धि को तीन भागों में विभाजित किया है–
   (i) सामाजिक बुद्धि (Social Intelligence)
   (ii) स्थूल बुद्धि (Concrete Intelligence)
   (iii) अमूर्त बुद्धि (Abstract Intelligence)

5. **बहुमानसिक योग्यता का सिद्धान्त–**थार्नडाइक ने कई योग्यताओं के समूह को बुद्धि कहा है, किन्तु मनोवैज्ञानिक थर्स्टन (Thurston) और केली (Kelly) ने कहा है कि बुद्धि कुछ मानसिक योग्यताओं के समूह से बनी है। केली ने बुद्धि के निर्माण में निम्नलिखित 9 योग्यताओं उल्लेख किया है–
   (i) सामाजिक योग्यता (Social Ability)
   (ii) वाचिक योग्यता (Verbal Ability)
   (iii) सांख्यिकी योग्यता (Numerical Ability)
   (iv) क्रियात्मक योग्यता (Motor Ability)
   (v) शारीरिक क्षमता (Physical Ability)
   (vi) यान्त्रिक योग्यता (Mechanical Ability)
   (vii) संगीतात्मक योग्यता (Musical Talent) (viii) रुचि (Interest)
   (ix) स्थानिक सम्बन्धों के साथ व्यवहार करने की योग्यता (Ability to deal with Spatial Relations)

   थर्स्टन ने भी विभिन्न प्रकार क मनोवैज्ञानिक परीक्षण करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि बुद्धि निम्नांकित 7 मानसिक प्राथमिक योग्यताओं (Primary Mental Abilities) का समूह है।
   (i) सांख्यिकी योग्यता (Number Ability or N)
   (ii) शाब्दिक योग्यता (Verbal Ability or V)

(iii) स्थान-सम्बन्धी योग्यता (Spatial Ability or S)

(iv) शब्द प्रवाह-योग्यता (Word Fluency Ability or W)

(v) वाचिक या तार्किक योग्यता (Reasoning Ability or R)

(vi) स्मृति सम्बन्धी योग्यता (Memory Ability or M)

(vii) प्रत्यक्ष सम्बन्धी योग्यता (Perceptual Talent or P)

नोट

अंग्रेजी में इसे सूत्र में इस प्रकार लिखा जा सकता है–

Intelligence = N + V + S + W + R + M + P

6. **वर्ग घटक या संघ सत्तात्मक सिद्धान्त–**इस सिद्धान्त के समर्थक स्काटलैंड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जी. थामसन (G. Thomson) हैं। इनके अनुसार विशिष्ट योग्यताओं का वर्ग या समूह होता है। एक ही वर्ग या समूह की योग्याताओं में परस्पर समानता होती है, जैसे–साहित्यिक योग्यता के समूह के अन्तर्गत कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि में परस्पर सम्बन्ध रहेगा, किन्तु इन योग्यताओं का विज्ञान के समूह की योग्यताओं से कोई सम्बन्ध न रहेगा।

7. **क्रमिक महत्त्व का सिद्धान्त–**इस सिद्धान्त के समर्थक बर्ट (Burt) और वर्नन (Vernon) हैं। इन्होंने मानसिक योग्यताओं को क्रमिक महत्त्व दिया है और मानसिक योग्यताओं के चार निम्नलिखित स्तर बताये हैं–

(i) सामान्य मानसिक योग्यता

(ii) सामान्य मानसिक योग्यता के दो भाग–

(क) क्रियात्मक, यांत्रिक-आन्तरिक और शारीरिक योग्यताएँ

(ख) शाब्दिक, सांख्यिकी और शैक्षिक योग्यताएँ।

(iii) उपर्युक्त दोनों स्तर की योग्यताओं का अनेक मानसिक योग्यताओं में विभाजन जैसे स्मरण, कल्पना, विचार आदि।

(iv) विशेष मानसिक योग्यताएँ।

8. **कैटल का सिद्धान्त–**स्पीयरमैन द्वारा बताए गये बुद्धि के सामान्य तत्व के ही दो तत्व केटल ने बताए हैं। ये दो तत्व निम्नलिखित हैं–

(अ) निश्चित बुद्धि (Crystallized Intelligence) इसे कैटल ने GF तत्व बताया है, तथा

(ब) अनिश्चित बुद्धि (Fluid Intelligence) इसे कैटल ने GE तत्व बताया है।

अनिश्चित बुद्धि के विकास पर वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है। अत: वंशानुक्रमीय परिवर्तन तथा भेद के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की बुद्धि में अन्तर होता है। निश्चित बुद्धि के विकास पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है। अत: वातावरणीय परिवर्तन तथा भेद अथवा समानता के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की बुद्धि में असमानता या समानता दिखाई देती है। कैटल के अनुसार उक्त दोनों तत्वों का तात्विक विश्लेषण करके उन्हें अनेक तत्वों में विभक्त किया जा सकता है। कैटल ने बुद्धि-मापन के लिए संस्कृति स्वतन्त्र परीक्षण (Culture Free Test) का निर्माण किया था जिससे अनिश्चित बुद्धि का ही मापन किया जाता है।

नोट

(9) **सम्मिलित सिद्धान्त**–सम्मिलित सिद्धान्त (Unified Theory) का प्रतिपादन गिलफर्ड ने किया है। **गिलफर्ड** के अनुसार बुद्धि का एक 'संरचना प्रतिमान' (Structure of Intellect Model) होता है। संरचना प्रतिमान के तीन प्रमुख आयाम हैं जिसके अन्तर्गत विभिन्न योग्यताएँ आती हैं। ये निम्नलिखित हैं–

5.19 गिलफर्ड का S.I. मॉडल

बुद्धि संबंधी अनेक सिद्धांतों के अन्तर्गत गिलफर्ड ने बुद्धि संबंधी अपना एक अलग ही सिद्धांत प्रतिपादित किया है। गिलफार्ड के अनुसार बुद्धि कुछ प्राथमिक बौद्धिक योग्यताओं (Primary Intellectual Abilities) की संरचना (Structure) मात्र है। गिलफर्ड कहता है कि प्रत्येक बौद्धिक योग्यता अपने में विशिष्ट व अनूठी होती है। साथ ही, प्रत्येक कार्य को सही ढंग से करने के लिए किसी न किसी की बौद्धिक योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। अत: इस दृष्टि से गिलफर्ड की मान्यता है कि प्रत्येक बौद्धिक योग्यता की माप अलग-अलग ढंग से की जानी चाहिए। गिलफर्ड महोदय इस संदर्भ में यह भी मानते हैं कि विभिन्न बौद्धिक योग्यताओं में कुछ समानताएँ (similarities) भी दृष्टिगोचर होती है। गिलफर्ड ने इन्हीं समानताओं के आधार पर इन्हें तीन सामान्य श्रेणियों में रखा है। ये तीन सामान्य श्रेणियाँ इस प्रकार हैं–

1. प्रक्रिया (Process or Operation)
2. विषय-वस्तु (Content or Material)
3. परिणाम (Product)

गिलफर्ड महोदय ने इन तीनों के प्रत्येक भाग के लिए कुछ विशिष्ट मानसिक योग्याताओं का भी उल्लेख किया है,

जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1. **प्रक्रिया** (Process)–संक्रिया से तात्पर्य व्यक्ति द्वारा की जाने वाली मानसिक प्रक्रिया के स्वरूप से है, अर्थात् किसी दिये गये कार्य को करने में व्यक्ति द्वारा अपनायी जाने वाली मानसिक क्रियाओं का स्वरूप क्या होगा, इसकी व्याख्या संक्रिया के अन्तर्गत आती है। उदाहरणार्थ, यदि आज के युग में किसी व्यक्ति से 'मोबाइल' के गुण-दोषों की व्याख्या करने को कहा जाये तो यहाँ संक्रिया के पाँच घटकों में से मूल्यांकन (evaluation) की संक्रिया होती पायी जायेगी। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच प्रमुख मानसिक योग्यताएँ (Mental Abilities) आती हैं, जो इस प्रकार हैं–

   (क) **संज्ञान** (Cognition)–इस योग्यता के आधार पर व्यक्ति किसी चीज का पुन: स्मरण करता है, उसे दोहराता है तथा उसे पहचानने का प्रयास करता है।

   (ख) **स्मृति** (Memory)–इस योग्यता के आधार पर व्यक्ति अपने विगत अनुभवों के आधार पर वर्तमान से संबंध स्थापित करता है, विगत अनुभवों को याद करता है तथा उन्हें संजोकर रखता है।

   (ग) **अपसारी चिन्तन** (Divergent Thinking)–इस योग्यता के आधार पर व्यक्ति अपनी बुद्धि का प्रयोग अनेक दिशाओं में करता है। वह विभिन्न दिशाओं में सोच सकता है तथा परिस्थिति के अनुकूल निर्णय ले सकता है। उसकी सोच एकांगी नहीं होती।

(घ) **अभिसारी चिन्तन** (Convergent Thinking)–अभिसारी चिन्तन अपसारी चिन्तन का दूसरा रूप है। व्यक्ति के लिए दोनों ही प्रकार के चिन्तन जीवन में महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार की योग्यता में व्यक्ति इस प्रकार सोचने में समर्थ हो जाता है कि वह अन्त में किसी समस्या हेतु ठीक निष्कर्ष पर पहुँच जाये।

नोट

(ङ) **मूल्यांकन** (Evaluation)–इस योग्यता के आधार पर व्यक्ति जिस परिवेश में रहता है या किसी समस्या पर कार्य कर रहा होता है उसके बारे में सम्पूर्ण जानकारी रखने का प्रयास करता है। तभी वह सम्पूर्ण परिस्थिति का अवलोकन कर उपयुक्त रीति से सही निर्णय पर पहुँच पाता है।

2. **विषय-वस्तु** (Content)–विषय-वस्तु विमा से तात्पर्य उस क्षेत्र से है जिसकी सूचनाओं (Informations) के आधार पर संक्रिया की जाती है। गिलफर्ड ने इस प्रकार की सूचनाओं को चार भागों में विभक्त किया है। संक्रिया के अन्तर्गत जो उदाहरण हमने प्रस्तुत किया है उसमें मूल्यांकन प्रक्रिया निहित है उसकी विषय-वस्तु शाब्दिक (Semantic) है। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति को जो सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं वे शाब्दिक न होकर चित्र के रूप में हों। ऐसी स्थिति में विषय-वस्तु का स्वरूप आकृतिक (Figural) कहलायेगा। इसके अन्तर्गत गिलफर्ड महोदय ने निम्नलिखित चार प्रभागों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं–

   (i) आकृति (Figure)–इससे आशय यह है कि व्यक्ति आकृति विशेष को देखकर उसे समझने व पहचानने का प्रयास करे। यह कार्य वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से करता है तथा आकृति का सही ढंग से पूर्ण अवलोकन करता है।

   (ii) प्रतीकात्मक (Symbolic)–इसका आशय यह है कि व्यक्ति विभिन्न प्रकार के प्रतीकों को सही ढंग से समझकर उन्हें महत्त्व के अनुसार जीवन में प्रयोग कर सके। जीवन के विभिन्न कार्यों में विभिन्न प्रकार के प्रतीकों को समझने की आवश्यकता पड़ती है।

   (iii) **भाषा** (Language)–जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा संबंधी योग्यता आवश्यक समझी जाती है। भाषा पर अधिकार होने की स्थिति में ही व्यक्ति स्वयं के विचारों को दूसरों को भली भाँति समझा सकता है तथा दूसरों के विचारों को भली प्रकार समझ सकता है। साथ ही, विचारों के स्वरूप को भी आसानी से समझा (Perceive) जा सकता है।

   (iv) **व्यवहारात्मक** (Behavioural)–इसका अर्थ सामाजिक बुद्धि (Social Intelligence) से है, जिसकी सहायता से व्यक्ति विभिन्न मानव सम्प्रेषणों (Human Communication) को आसानी से समझने में समर्थ होता है। यह जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू माना जाता है।

3. **उत्पाद** (Product)–उत्पाद विमा से तात्पर्य किसी विशेष प्रकार की विषय-वस्तु द्वारा की गई संक्रिया के परिणाम (Product) से है। इस विमा को गिलफर्ड ने 6 भागों में विभक्त किया है। उदाहरण के तौर पर यदि हम किसी विद्यार्थी से गणित की सम व विषम संख्याओं को अलग-अलग श्रेणियों में रखने के लिए कहें तो विद्यार्थी द्वारा किया गया कार्य उत्पाद विमा वर्ग (Class or Category) घटक के अन्तर्गत रखा जायेगा। जब

विषय-वस्तु को किसी प्रक्रिया में लगाया जाता है तो परिणाम प्राप्त होते हैं। इसके अन्तर्गत जो छः प्रकार की मानसिक योग्यताएँ आती हैं, वे इस प्रकार हैं–

(1) **इकाइयाँ** (Units)–इसके अन्तर्गत दृश्य, श्रव्य एवं प्रतीकात्मक इकाइयों का अवबोधन तथा उनके अर्थ समझना मुख्य है। अर्थात् यहाँ व्यक्ति संवेदनात्मक प्रत्यक्षीकरण (Sensory perceptions) की विशिष्टताओं अथवा विलक्षणताओं को समझने का प्रयास करता है।

(2) **वर्ग** (Class or Categories)–इसके अन्तर्गत इकाइयों को वर्गीकृत करने की योग्यता आती है। इसमें यह देखा जाता है कि व्यक्ति विभिन्न विचारों को श्रेणीबद्ध कर सकता है अथवा नहीं।

(3) **संबंध** (Relations)–इसके अन्तर्गत यह देखा जाता है कि व्यक्ति विभिन्न वस्तुओं के मध्य पारस्परिक संबंध को समझ सकता है अथवा नहीं। साथ ही, इन संबंधों की व्याख्या भी कर सकता है अथवा नहीं।

(4) **व्यवस्थाएँ** (Systems)–इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के विचारों अथवा समस्याओं को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करना तथा उसके समाधान के तरीकों की खोज करना आदि सम्मिलित है।

(5) **रूपान्तरण** (Transformations)–इसका संबंध इस प्रकार की योग्यता से है कि व्यक्ति यह आभास कर सके कि पदार्थ में अमुक परिवर्तन करने पर उसका स्वरूप क्या होगा? अथवा किसी स्वरूप विशेष के लिए यह सुझाव देना कि उसमें अमुक प्रकार के परिवर्तन कर लिये जायें।

(6) **आशय** (Implications)–इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति में किसी भी वस्तु, विचार या तथ्य में निहित भावों को समझ सकने की पर्याप्त योग्यता है अथवा नहीं। इसीलिए कुछ लोग आशय को निहितार्थ के रूप में भी प्रयोग में लाते हैं।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि बौद्धिक योग्यताओं (Intellectual Abilities) के संदर्भ में गिलफर्ड के विश्लेषण के अनुसार मानसिक योग्यताओं में निम्नलिखित बातें निहित रहती हैं–

1. पाँच प्रक्रियाएँ (Five Operations)
2. चार विषय-वस्तु (Four Contents or Materials)
3. छः परिणाम (Six Products)

गिलफर्ड के अनुसार ये सभी मानसिक योग्यताएँ परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं। अतः इस प्रकार कुल बौद्धिक आयामों (Dimensions) की संख्या $5 \times 4 \times 6 = 120$ कही जा सकती है।

गिलफर्ड का उपरोक्त वर्णित सिद्धांत सबसे व्यापक सिद्धांतों में से एक है, फिर भी, गिलफर्ड का कहना है कि यह मॉडल बिल्कुल सैद्धान्तिक है और इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि यह अनुसंधान के क्षेत्र में नई संभावनाओं को जन्म देता है।

गिलफर्ड के इस सिद्धांत को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है–बुद्धि एक तर्क संगत संरचना है जो दो मुख्य कोटि से बनी है–स्मृति तथा चिन्तन। चिन्तन का वर्गीकरण संज्ञान, उत्पादन एवं मूल्यांकन के अन्तर्गत किया गया है। उत्पादन को पुनः दो वर्गों में विभक्त किया गया है–अपसारी चिन्तन तथा अभिसारी चिन्तन। इस प्रकार, कुल पाँच बुद्धि खण्डों के समूह हैं जो कुछ संक्रियाओं के माध्यम से स्पष्ट किये गये हैं। इन पाँच समूहों का गर्वीकरण दो सिद्धांतों के आधार

पर किया गया है। इन सभी के अन्तर्गत किस प्रकार का परिणाम (इकाइयों, वर्गों) समाहित है तथा किस प्रकार की विषय-वस्तु (आकृति, भाषायी, प्रतीकात्मक एवं व्यावहारिक) को लिया गया है, इस संबंध में गिलफर्ड अपने सिद्धांत को यह कहकर विराम देते हैं कि रिक्त प्रकोष्ठ (cells) उन प्राथमिक मानसिक योग्यताओं की ओर संकेत देते हैं जिनकी खोज करना अभी शेष है।

नोट

अपने विस्तृत कारक-विश्लेषण अनुसंधान के आधार पर गिलफर्ड ने सन् 1967 में डिब्बे के आकार का एक मॉडल (डवकमस) प्रस्तुत किया, जिसे 'बुद्धि संरचना मॉडल' (Intellect Structure Model) के नाम से जाना जाता है। इस मॉडल में उन्होंने 5 ञ 4 ञ 6 वर्ग बनाये हैं अर्थात्, कुल 120 कोश (Cells), जिनमें मानसिक योग्यता संबंधी तीन तत्वों पर आधारित विभिन्न कारकों को रखा गया है। प्रत्येक कोश में कम से कम एक कारक या योग्यता को रखा गया है, कुछ कोषों में एक से अधिक कारक भी रखे जा सकते हैं, वैसे, इस मॉडल में यह व्यवस्था कम ही की गई है। गिलफर्ड महोदय ने प्रत्येक कारक की व्याख्या तीनों आयामों पर ही की है तथा अपने कारक-विश्लेषण अनुसंधान के आधार पर 80 कारकों के अस्तित्व को स्थापित करने में सफल हुए हैं तथा शेष के प्रति आशावान हैं। गिलफर्ड ने बुद्धि के समस्त तत्वों का विभाजन इस प्रकार से किया–

सामान्य मानसिक बुद्धि

संक्रिया (Operation)	**विषय-वस्तु** (Content)	**उत्पादन** (Product)
1. मूल्यांकन (Evaluation)	1. रूप-आकार (Figural)	1. इकाई (Units)
2. उत्पादन (Production)	2. सांकेतिक (Symbolic)	2. वर्ग (Classes)
3. स्मृति (Memory)	3. शाब्दिक (Semantic)	3. संबंध (Relations)
4. संज्ञान (Cognition)	4. व्यावहारिक (Behavioural)	4. प्रणाली (Systems)
		5. रूप-परिवर्तन (Transformations)
		6. प्रयोग (Implications)

5.20 उत्पादकीय उपादेयता

जहाँ तक इस सिद्धांत की शिक्षा जगत में उपादेयता का प्रश्न है गिलफर्ड ने अपने इस सिद्धांत के प्रतिपादन के समय ही कहा था कि यह सिद्धांत शिक्षा के क्षेत्र में व अनुसंधान के क्षेत्र में नई संभावनाओं को जन्म देगा। गिलफर्ड को यह विश्वास था कि यह सिद्धांत सम्पूर्ण शिक्षण- अधिगम प्रक्रिया को एक नया स्वरूप प्रदान करेगा। साथ ही, अधिगमकर्त्ता की जिज्ञासाओं को भी शांत करेगा। उन्होंने अधिगमकर्त्ता की तुलना एक कम्प्यूटर से की है। अन्तर केवल इतना है कि विद्यार्थी अपना कार्यक्रम स्वयं सुनिश्चित करता है जबकि कम्प्यूटर दूसरों पर निर्भर रहता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि गिलफर्ड का उपरोक्त वर्णित सिद्धांत अभी पूर्ण नहीं है तथा इस संबंध में अभी और आगे खोज करने की आवश्यकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बुद्धि के क्षेत्र में इस सिद्धांत के प्रतिपादन से गिलफर्ड ने एक अन्वेषणा का मार्ग प्रशस्त किया है। गिलफर्ड के सिद्धांत के संबंध में आईजिंक लिखते हैं–

नोट

"Guilford classifies the intellect into operations, which it can perform, different contents of these operations and different products. By taking all possible interactions we obtain cells corresponding to different mental abilities. Of these, Guilford claims to have evidence in actual factorial studies for eighty, he is optimistic about discovering the remainder."

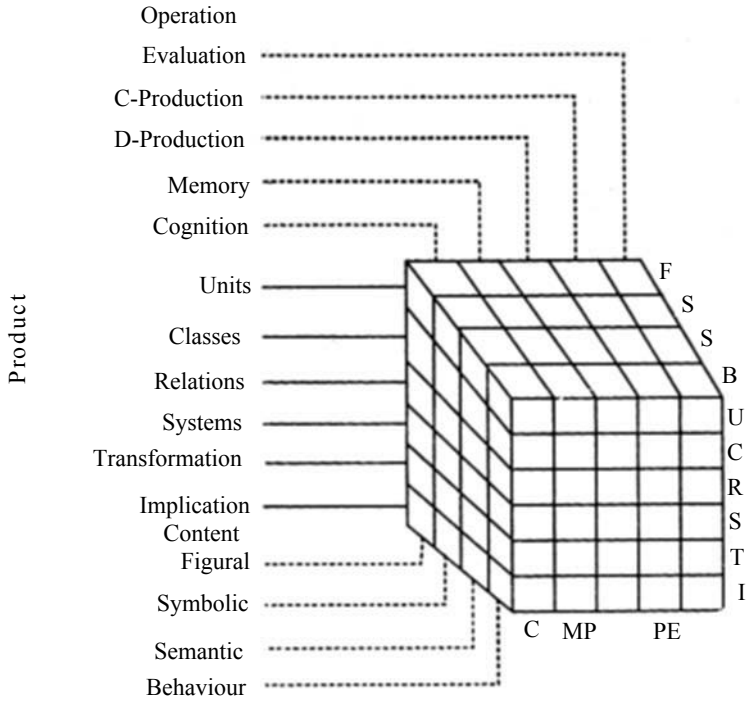

चित्र 5.4. बुद्धि संरचना मॉडल

5.21 स्मृति का अर्थ एवं परिभाषा

स्मृति एक मानसिक क्रिया है। इसकी सहायता से हम गत अनुभवों को जो कि मानसिक संस्कार के रूप में हमारे अचेतन मन में विद्यमान रहते हैं, अपनी वर्तमान चेतना में लाते हैं। हमारे व्यावहारिक जीवन में अनेक प्रकार की घटनाएँ घटित होती रहती हैं या हम किसी स्थान या वस्तु को देखते हैं तो उनसे कुछ अनुभव प्राप्त होते हैं जो कि सदा चेतन मन में नहीं रहते किन्तु अचेतन मन में बने रहते हैं। इन अनुभवों की छाप मस्तिष्क में अंकित हो जाती है। अचेतन मन में संचित इन्हीं अनुभवों के चेतन मन में आने की क्रिया को स्मृति कहते हैं। उदाहरणार्थ-आगरा के विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों में ताजमहल विशेष रूप से दर्शनीय है। इसे मैंने वर्षों पूर्व देखा था। उसे प्रत्यक्ष देखकर मस्तिष्क में जो प्रतिमा अंकित हो गई है, वह मेरे अचेतन स्तर पर थी। आज छोटी बहन के सामने ताजमहल का वर्णन करने में पूर्व अनुभव जो अचेतन स्तर पर संचित थे, चेतन मन में आ गये। यही स्मृति है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गई स्मृति की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

1. **स्टाउट** (Stout)–"स्मृति एक आदर्श पुनरावृत्ति है, उस सीमा तक जहाँ तक कि इसमें अतीत काल के अनुभवों को यथासम्भव उसी रूप और क्रम में याद किया जाता है, जैसा कि उनका पहले अनुभव किया गया था।" (Memory is the ideal revival so far as ideal revival is merely reproductive in which the object of past experience are reinstated as far as possible in the order and manner of their original occurence.)

2. **वुडवर्थ** (Woodworth)–"स्मृति सीखी हुई वस्तु का सीधा उपयोग है।" (Memory is the direct use of what is learned.)
3. **मैक्डूगल** (Mc Dougall)–"स्मृति से तात्पर्य है–अतीत की घटनाओं के अनुभवों की कल्पना करना और इस तथ्य को पहचान लेना कि ये अतीतकालीन अनुभव है।" (Memory implies imagining of events as experienced in the past and recognising them as belonging to one's own past experience.)
4. विलियम जेम्स (W. James)–"स्मृति चेतना से अलग हो जाने के बाद मन की अतीत दशा का ज्ञान है अथवा यह एक घटना या तथ्य का ज्ञान है, जिसके बारे में हमने कुछ समय तक नहीं सोचा है, पर साथ ही हमें यह सोचना है कि हम उसका पहले विचाार या अनुभव कर चुके हैं।"
5. **नन (छनदद)**–"हमारे अनुभवों को संचित करके रहने वाली शक्ति जब चेतना से युक्त होती है, तब हम उसे 'स्मृति' कहते हैं।
6. **रायबर्न** (Ryburn)–"अपने अनुभवों को संचित रखने और उनको प्राप्त करने के कुछ समय बाद चेतना के क्षेत्र में लाने की जो शक्ति हममें होती है, उसी को स्मृति कहते हैं।"

नोट

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्मृति एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा संचित या गत अनुभवों की आवश्यकता पड़ने पर पुनः चेतना में लाया जाता है।

5.22 स्मृति के तत्व

स्मृति एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है। वुडवर्थ के अनुसार स्मृति में अग्रलिखित चार तात्विक क्रियाओं का समावेश होता है–

1. अधिगम (Learning)
2. धारण (Retention)
3. प्रत्याह्वान (Recall)
4. प्रत्यभिज्ञा (Recognition)

1. **अधिगम** (Learning)–किसी विषय-वस्तु का स्मरण करने के लिए सर्वप्रथम उसे सीखना आवश्यक है। सीखने की प्रक्रिया क्या है और किस प्रकार होती है, इस सम्बन्ध में सीखने से सम्बन्धित अध्याय में विवेचन किया गया है। सीखने और स्मरण करने में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना भली-भाँति सीखे हम किसी विषय का स्मरण नहीं कर सकते और बिना स्मरण किये हम कुछ भी सीख नहीं सकते। किसी पाठ को सीखने के लिए बालक उसे बार-बार दोहराता है, उसका अर्थ समझता है और उसे दूसरे पाठों से सम्बन्धित करता है। इस क्रिया में उसकी 'छाप' मन पर पड़ जाती है। इस प्रकार पाठ की सीखी हुई बातों का स्मरण करके वह पूर्वाज्ञान का नवीन ज्ञान से साहचर्य स्थापित करता है। स्मृति के इस अंग में सीखने के नियमों का पूर्ण पालन किया जाता है।
2. **धारण** (Retention)–'स्मरण रखना' केवल सीखी हुई वस्तु को धारण करना है। स्मरण करने की शक्ति बहुत कुछ धारण शक्ति पर निर्भर है। धारण मस्तिष्क की वह शक्ति है जिसके द्वारा हम सीखे या स्मरण किये हुए विषय को मस्तिष्क में रोके रखते हैं। वुडवर्थ

नोट

के अनुसार–"धारण एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें प्रत्येक वस्तु, जो सीखी गई है जब तक कि दुबारा सक्रिय न हो, पड़ी रहती है।"

ये चिह्न नष्ट नहीं होते। ये अचेतन स्तर पर मानसिक संस्कार के रूप में सुरक्षित रहते हैं। जब तक स्मृति चिह्न हमारे मस्तिष्क में उपस्थित रहते हैं तब तक हम उस सीखी हुई सामग्री को स्मरण कर सकते हैं। 'धारण किसी सीखे हुए कार्य की निष्क्रिय दशा है।' 'धारण' एक ऐसा तत्व है जिसे स्मरण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। हम उन वस्तुओं को पुनः स्मरण कर सकते हैं जिन्हें हमने सीख कर मन में धारण कर लिया है। इस प्रकार पुनः स्मरण धारण और धारण सीखने पर निर्भर है।

धारण-शक्ति को प्रभावित करने वाले कारक–धारण शक्ति को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं–

(क) मस्तिष्क–मानसिक क्रियाएँ मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित होती हैं। मस्तिष्क में ही स्मृति चिह्न अंकित होते हैं। जिस व्यक्ति का मस्तिष्क अधिक विकसित होता है उसके स्मृति चिह्न भी अधिक सुदृढ़ होते हैं, फलस्वरूप धारण क्रिया पर वैयक्तिक भेद के कारण अर्थात् कम बुद्धि और अधिक बुद्धि का भी प्रभाव पड़ता है।

(ख) स्वास्थ्य–धारण-शक्ति पर स्वास्थ्य का भी प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति अस्वस्थ होते हैं वे अधिक समय तक किसी सीखी देखी या अनुभव की हुई बातों को धारण नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ–प्रातःकाल जब हम थके नहीं हाते और अधिक स्वस्थ रहते हैं, उस समय हम किसी वस्तु को शीघ्र सीख लेते हैं। इसीलिए विद्यार्थियों को प्रातःकाल जल्दी उठकर पढ़ने और सीखने पर जोर दिया जाता है ताकि वे पढ़ी हुई वस्तु को अच्छी तरह धारण कर सकें।

(ग) अभिरुचि–जिस विषय को रुचि और ध्यान से सीखा जाता है वह विषय अधिक समय तक मस्तिष्क में टिका रहता है। धारण-शक्ति को तीव्र बनाने के लिए शिक्षक को विषय के प्रति बालक की रुचि जाग्रत करने पर ध्यान देना चाहिए।

(घ) चिन्तन–धारण-शक्ति का चिन्तन से भी सम्बन्ध है। जिस विषय में हमारी रुचि होती है। हम उसी का चिन्तन करते हैं। चिन्तन द्वारा ही जब हम किसी समस्या पर विचार करते हैं तब पूर्व अनुभव और सीखी हुई बातें शीघ्र याद हो जाती हैं और मस्तिष्क उन्हें अच्छी तरह धारण कर लेता है।

धारण में अनुकूल दशाएँ (Favourable conditions of Retention)—मनोवैज्ञानिकों ने 'धारण में अनुकूल दशाएँ' के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्ष निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

1. उत्तेजना की अवधि का धारण शक्ति से अन्तःसम्बन्ध रहता है। अधिक देर तक रहने वाली उत्तेजना मस्तिष्क में अधिक अवधि तक धारण की जा सकती है।
2. **लुंट, एबिंगहास तथा क्रूगर** के अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि अति शिक्षण से धारण पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। किसी निश्चित अवधि में जितनी अधिक मात्रा में कोई वस्तु बालक को सिखाई जायेगी, उतनी ही अधिक मात्रा में उसमें धारण होगी।
3. अधिगम की गति का धारण-शक्ति पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है किसी विषय को जितनी तीव्र गति से सीखा जाता है उसी अनुपात में उसका धारण भी होता है।

4. बालक के स्वास्थ्य का धारण-शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ बालक सीखी हुई सामग्री को अधिक समय तक धारण कर सकता है।
5. जो अधिगम सामग्री रुचि व ध्यान के साथ सीखी जाती है वह अधिक समय तक धारण में बनी रहती है, अर्थात् रुचि तथा ध्यान का धारण शक्ति पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।
6. धारण शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि स्मरणीय सामग्री की उत्तेजना तीव्र, स्पष्ट, सार्थक तथा ताजा हो। उत्तेजना में ये विशेषताएँ जितनी अधिक होंगी धारण उतना ही अधिक होगा ये विशेषताएँ धारण के लिए अनुकूलता प्रदान करती हैं।
7. उपयुक्त अधिगम विधि धारण को अनुकूल स्थिति प्रदान करती है। जैसे निष्क्रिय विधि की तुलना में सक्रिय विधि को सीखने में धारण उत्तम एवं दीर्घकालिक होता है।
8. सामग्री की मात्रा अधिक होने पर धारण शक्ति पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। बड़ी विषय-सामग्री को स्मरण करने में अधिक समय और परिश्रम लगता हैं अधिक समय तथा परिश्रम धारण-शक्ति को पुष्ट करते हैं। छोटी विषय-सामग्री की अपेक्षा बड़ी विषय-सामग्री में बालक सार्थकता ढूंढकर विषय के विविध अंगों को परस्पर जोड़ता है। इससे धारण में सहायता मिलती है।
9. कुछ मनोवैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि स्मरण करने के पश्चात् निद्रा, धारण के लिए अनुकूल दशा के रूप में सहायक होती है। स्मृति करते समय यदि मन काम में लग जाए तो उससे धारण में बाधा पड़ेगी, किन्तु किसी विषय को सीखने के पश्चात् बालक सो जाए तो स्मृति चिह्नों को सुदृढ़ होने का अच्छा अवसर मिल जाता है।
10. किसी उद्देश्य से सीखा हुआ अनुभव या विषय सामग्री अधिक समय तक स्मृति में रहती है। इसीलिए प्रायः यह देखा गया है कि परीक्षा के समय याद की गई सामग्री अधिक समय तक धारण में बनी रहती है क्योंकि उस पर उद्देश्य का प्रभाव पड़ता है।
11. धारण में पूर्व संचित ज्ञान का अधिक महत्त्व होता है यदि विषय-सामग्री पूर्व संचित ज्ञान से सम्बन्धित नहीं होती तो धारण में कठिनाई होती है। पूर्व-संचित ज्ञान का मिलान धारण को अनुकूल अवस्था प्रदान करता है।
12. धारण में अनुभूतियों तथा भावात्मक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। दुःख, सुख, भय तथा निराशा आदि की परिस्थिति की अनुभूतियाँ मस्तिष्क में गहरी छाप अंकित कर देती हैं और वह बहुत समय तक धारण में बनी रहती हैं। किन्तु धारण को अनुकूल दशा प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की शैक्षिक परिस्थितियों का निर्माण नहीं किया जा सकता।

3. पुनः स्मरण (Recall)—पूर्व अनुभवों का चेतना में लाना ही पुनः स्मरण है। गत अनुभवों से मन पर जो संस्कार अंकित हो जाते हैं, पुनः स्मरण द्वारा वे चेतन स्तर पर आ जाते हैं। पुनः स्मरण धारण-शक्ति पर निर्भर है। यदि बालक किसी पाठ को सीखकर उसे उचित रूप से धारण कर लेता है तो फिर उसे वह सरलता से स्मरण कर सकता है। इस प्रकार—"पुनः स्मरण वह मानसिक क्रिया है जिससे हम पूर्वानुभूतियों को बिना मौलिक उद्दीपक के उपस्थित हुए अपनी चेतना में लाते हैं।" पुनः स्मरण प्रमुख रूप से दो प्रकार का होता है—

नोट

नोट

(क) स्वभावोत्पन्न पुनः स्मरण (Spontaneous),

(ख) सप्रयास पुनः स्मरण (Deliberate)। प्रथम प्रकार में किसी भी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है। वे स्वतः आवश्यकतानुसार चेतन स्तर पर आ जाते हैं। दूसरे प्रकार के पुनः स्मरण में प्रयास करना पड़ता है। जैसे परीक्षा-भवन में लिखते समय प्रश्न के उत्तर को स्मरण करने के लिए प्रयास करना पड़ता है। धारण-शक्ति को प्रभावित करने वाले कारकों के अतिरिक्त पुनः स्मरण को कुछ अन्य बातें भी प्रभावित करती हैं, जो इस प्रकार हैं–

(a) संवेगात्मक अवस्था–पुनः स्मरण की क्रिया को संवेगात्मक अवस्था प्रभावित करती है। पुनः स्मरण के समय यदि व्यक्ति चिन्तित, भयभीत या घबराड़ (nervous) जाता है जो अच्छी तरह सीखी और धारण की हुई वस्तु भी वह पुनः नहीं याद कर पाता। उदाहरणार्थ–परीक्षा-भवन में कभी-कभी प्रश्न-पत्र को देखकर छात्र किसी प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता, किन्तु परीक्षा भवन से बाहर आते ही उसका उत्तर अच्छी तरह स्मरण हो जाता है क्योंकि उसकी धारण-शक्ति अच्छी थी। इसका कारण सांवेगिक अवस्था है। यदि व्यक्ति प्रसन्न और स्वस्थ रहता है तो उसे पुनः स्मरण जल्दी होता है।

(bb) मानसिक तत्परता या विन्यास (Mental Set)–जब व्यक्ति किसी विषय को याद करने के लिए मानसिक रूप से तत्पर रहता है तब वह अधिक बातों को पुनः स्मरण कर सकता है। उदारहणार्थ-परीक्षा के दिनों में विद्यार्थी जो विषय पढ़ते या सीखते हैं वह उन्हें सफलतापूर्वक शीघ्र याद हो जाता है, क्योंकि विद्यार्थी के मन में परीक्षा के कारण विषय को याद करने की एक मानसिक वृत्ति बन जाती है, जिससे पुनः स्मरण में सहायता मिलती है।

4. **पहचान या प्रत्यभिज्ञा** (Recognition)–पहचान या प्रत्यभिज्ञा स्मृति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्व है। वुडवर्थ के अनुसार– "पूर्व अनुभवों को जानना ही पहचान है, या वर्तमान काल में उस वस्तु से परिचित होना जिससे कि अतीत काल में परिचित हो चुके हैं।" उदाहरणार्थ–एक वयस्क व्यक्ति जब अपने किसी अध्यापक को वर्षों बाद देखता है जिन्होंने कि उसे बाल्यकाल में चौथी या पाँचवी कक्षा में पढ़ाया था तो वह उन्हें पहचान लेता है कि 'वे मुझे गणित पढ़ाते थे।' अध्यापक भी पुनः स्मरण द्वारा उसे पहचान लेता है कि 'कक्षा का बहुत शैतान लड़का था।' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा विचार साहचर्य (Association of ideas) और परिचित होने की अनुभूति पर निर्भर है।

5.23 अच्छी स्मृति की विशेषताएँ

अच्छी स्मृति के प्रमुख लक्षण या विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. **शीघ्र याद होना या अधिगम** (Quick Learning)–अच्छी स्मृति का प्रथम लक्षण है जल्दी याद होना। जो बालक किसी बात को एक बार पढ़ लेने या सुन लेने से याद कर लेता है तो उसकी स्मृति अच्छी कही जाती है।
2. **उत्तम धारण-शक्ति** (Good Retention)–यदि कोई बालक सीखी या याद की हुई बातों को अधिक दिनों तक स्मरण रख सकता है तो उसकी स्मृति अधिक स्थायी होती है। यह अच्छी स्मृति का लक्षण है।

3. **शीघ्र पुनः स्मरण** (Quick Recall)–अच्छी स्मृति का एक अन्य लक्षण है–पुनः स्मरण। सीखी हुई विषय-सामग्री जितनी जल्दी याद आ जाती है उतनी ही अधिक उसकी उपयोगिता होती है। परीक्षा की दृष्टि से शीघ्र पुनः स्मरण बालक के लिए अत्यावश्यक है।
4. **शीघ्र एवं स्पष्ट पहचानना** (Quick and Accurate of Recognition)–अच्छी स्मृति के लिए शीघ्र पुनः स्मरण की नहीं बल्कि किसी विषय को शीघ्र एवं स्पष्ट रूप से पहचानना भी आवश्यक है। बालक ने विषय से सम्बन्धित बहुत-सी बातों को पढ़ा, सीखा और याद किया है, परीक्षा के समय वह उन बातों को पुनः स्मरण करता है किन्तु बिना शीघ्र एवं स्पष्ट रूप से पहचाने हुए वह वांछित प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ नहीं हो सकता।
5. **अनावश्यक बातों को भूलना** (Forgetting of Meaningless Things)–अच्छी स्मृति का एक आवश्यक लक्षण यह भी है कि बालक व्यर्थ बातों को भूल जाए और उपयोगी बातें ही याद रखे। अनावश्यक बातें याद रहने से उपयोगी बातों के पुनः स्मरण, धारण एवं पहचान में बाधा पड़ती है।

नोट

5.24 स्मृति के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने स्मृति के निम्नलिखित प्रकार बताये हैं–

1. **तात्कालिक स्मृति** (Immediate Memory)–किसी विषय या तथ्य को याद करके तुरन्त सुना देना तात्कालिक स्मृति है, किन्तु इस प्रकार की स्मृति में विस्मरण की अधिक सम्भावना रहती है।
2. **स्थायी स्मृति** (Permanent Memory)–इसमें सीखी हुई बातें बहुत समय तक याद रहती हैं। यह बालाकों में अधिक पाई जाती है।
3. स**क्रिय स्मृति** (Active Memory)–पूर्व अनुभवों को इच्छापूर्वक प्रयास करके पुनः स्मरण करना सक्रिय स्मृति कहलाती है, जैसे परीक्षा-भवन में पूर्व अनुभवों को प्रयासपूर्वक स्मरण करके उत्तर लिखना।
4. नि**ष्क्रिय स्मृति** (Passive Memory)–जब हम पूर्व अनुभवों को अनायास बिना प्रयास के पुनः स्मरण कर लेते हैं तो उसे निष्क्रिय स्मृति कहते हैं। उदारहणार्थ-श्यामपट्ट का नाम लेते ही उसके कालेपन की याद आ जाना।
5. व्य**क्तिगत स्मृति** (Personal Memory)–अतीत काल के स्वयं के अनुभवों का पुनः स्मरण व्यक्तिगत स्मृति है, जैसे किसी घटना को देखकर अपनी बाल्यावस्था के किसी अनुभव की याद आ जाना।
6. अव्**यक्तिक स्मृति** (Impersonal Memory)–इस प्रकार की स्मृति में स्वयं के अनुभवों के अतिरिक्त अन्य किसी मित्र, पुस्तक, समाचार-पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से प्राप्त अनुभवों को याद कर लिया जाता है।
7. यां**त्रिक स्मृति** (Rote Memory)–किसी विषय को भली-भाँति बिना समझे रट लेना और आवश्यकता पढ़ने पर सफलतापूर्वक पुनः स्मरण कर लेना ही यांत्रिक स्मृति है। आजकल अधिकांश विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए इसी प्रकार की स्मृति का सहारा लेते हैं। इस प्रकार की स्मृति अंकगणित के लिए पहाड़ों को याद करने में सहायक होती है।

8. **तार्किक स्मृति** (Logical Memory)–विषय-सामग्री को भली-भाँति सोच-विचार कर सीखना और स्मरण कर लेना तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे सुना देना तार्किक स्मृति है। इसे बौद्धिक स्मृति भी कहते हैं। इस प्रकार की स्मृति ही बालक की शिक्षा में अधिक उपयोगी होती है।
9. **आदतजन्य स्मृति** (Habit Memory)–जब व्यक्ति किसी बात को बार-बार दोहराता या याद करता है तो यह उसकी आदत में परिणत हो जाता है। इस आदत के कारण उसे स्मरण करने का प्रयास नहीं करना पड़ता है।
10. **इन्द्रिय-अनुभव स्मृति** (Sense Impression Experience)–इस प्रकार की स्मृति में जब हम किसी वस्तु, तथ्य या विचार को ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव के फलस्वरूप पुनः स्मरण करते या पहचानते हैं जैसे आँख बन्द करके किसी वस्तु को छूकर, चखकर या सूँघकर बता सकना या सुनकर किसी तथ्य की याद आ जाना।
11. **शारीरिक स्मृति** (Physical Memory)–जब हम किसी कार्य को बार-बार करते हैं तब हमारे सम्बन्धित अंगों को कार्य करने की आदत पड़ जाती है और फिर उस कार्य में किसी प्रकार की भूल नहीं होती, जैसे टाइप करते हुए उंगलियों का स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक ठीक-ठीक शब्दों पर पड़ना।
12. **वास्तविक स्मृति** (True Memory)–शिक्षाविद्ों ने इस स्मृति को सबसे श्रेष्ठ कहा है। इस प्रकार की स्मृति में विषय-वस्तु को क्रमबद्ध रूप से याद किया जाता है, इसमें याद की हुई सामग्री का क्रमबद्ध ज्ञान स्थायी बना रहता है। वास्तविक स्मृति द्वारा तथ्यों को शीघ्र पुनःस्मरण किया जा सकता है। शिक्षा में इस प्रकार की स्मृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

5.25 विस्मृति का स्वरूप

सीखने की क्रिया के लिए विस्मृति के स्वरूप और कारणों को जानना अति आवश्यक है। अधिगम-क्रिया में सफलता विस्मृति के कारणों का निवारण करने पर ही प्राप्त होती है। विस्मृति एक ऐसी मानसिक क्रिया है, जिसके कारण हम किसी सीखी हुई बात को, अनुभव को या विचार को अपनी चेतना पर लाने में असमर्थ होते हैं अर्थात् धारण किये हुए अनुभवों को पुनः स्मरण नहीं कर पाते। विस्मृति में व्यक्ति पूर्व अर्जित अनुभवों को जो मानस पटल पर स्मृति-चिह्न के रूप में अंकित हो जाते हैं, उनका प्रत्याह्वान या प्रत्याभिज्ञान करने में अपने को असमर्थ पाता है। इस स्मृति चिह्न का धुंधला पड़ जाना या मिट जाना विस्मृति कहलाता है। विस्मृति के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने निम्नांकित परिभाषाएँ दी हैं-

1. **मन** (Munn)–''ग्रहण किये या सीखे हुए तथ्यों को धारण करने या पुनः स्मरण की असफलता को विस्मृति कहते हैं।'' (Forgetting is failing to retain or to be able to recall what has been acquired.)
2. **ड्रेवर** (Drever)–''विस्मरण का अर्थ है-किसी समय प्रयत्न करने पर भी किसी पूर्व अनुभव का स्मरण करने या पहले की सीखी हुई किसी क्रिया को करने में असफलता।'' (Forgetting means failure at any time to recall an experience. When attempting to do so, or to perform an action previously learned.)
3. **फ्रायड** (Freud)–''विस्मरण वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा दुःखद अनुभवों को स्मृति से अलग कर दिया जाता है।'' (Forgetting is a tendency toward off from memory

नोट

that which is unpleasant.) उपर्युक्त विवेचन से विस्मरण का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने विस्मरण पर कुछ प्रयोग किये हैं, वो विस्मरण के कारणों पर प्रकाश डालते हैं। इन मनोवैज्ञानिकों में एबिंगहॉस (Ebbinghaus) का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने विस्मरण को एक 'निष्क्रिय मानसिक प्रक्रिया' (Passive Mental Process) कहा है। उनके अनुसार सीखने के बाद जैसे-जैसे स्कैग्स (Skaggs) म्यूलर (Mullar), पिल्जेकर (Pilzecker) तथा फ्रायड (Freud) ने एबिंगहॉस के मत का खण्डन करते हुए विस्मरण को 'सक्रिय मानसिक क्रिया' (Active Mental Process) कहा है। इन लोगों के अनुसार समय व्यतीत होने के कारण हम नहीं भूलते, बल्कि भूलने का कारण सीखने और पुनः स्मरण के बीच होने वाली अन्य क्रियाएँ तथा कारण होते हैं।

5.26 वस्मृति के कारण

विस्मृति के कारणों को निम्नांकित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

(क) सैद्धान्तिक कारण (Theoretical)

(ख) सामान्य कारण (General)

(क) विस्मृति के सैद्धांतिक कारण–विस्मृति के सैद्धांतिक कारण निम्नलिखित हैं–

(i) अनाभ्यास का सिद्धांत (Theory of Disuse)–इस सिद्धान्त के समर्थक एबिंगहॉस महोदय हैं। इनके मतानुसार जब सीखी हुई विषय सामग्री को बहुत दिनों तक प्रयोग में नहीं लाया जाता या उसका अभ्यास नहीं किया जाता तो वह भूलने लगती है। स्पष्ट है कि विस्मरण के लिए अनाभ्यास के उत्पन्न काल-व्यवधान (Lapse of Time) ही उत्तरदायी है। एबिंगहॉस ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है विस्मरण की मात्रा बढ़ती जाती है।

(ii) दमन का सिद्धान्त (Repression Theory)–इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मनोविश्लेषणवादी फ्रायड तथा उनके अनुयायियों ने किया है। इनके अनुसार व्यक्ति को अपने जीवन-काल में जो दुःखद और अप्रिय अनुभव होते हैं, उन्हें वह स्वेच्छापूर्वक पुनः स्मरण नहीं करना चाहता है। इस प्रकार के पीड़ादायक अनुभव अचेतन मन में दमित होकर विस्मृत हो जाते हैं।

(iii) बाधा का सिद्धान्त (Theory of Interference)–इस सिद्धान्त पर मुलर, वुडवर्थ एवं पिल्जेकर आदि मनोवैज्ञानिकों ने प्रकाश डाला है। इनके मतानुसार यदि सीखने और पुनः स्मरण के बीच कोई अन्य क्रिया की जाती है तो वह पहले सीखी हुई विषय-सामग्री के पुनः स्मरण में बाधा या रुकावट पहुँचाती है। इस क्रिया को प्रतिगामी या पूर्वलक्षी अवरोध (Retrospective Inhibition) कहते हैं। इसका अर्थ है पीछे की ओर रुकावट। सीखने और पुनःस्मरण के बीच जो क्रिया होती है, उसे अन्तर्वेशी क्रिया (Interpolated activity) कहते हैं। विशेष क्रिया सीखी हुई क्रिया से जितनी भिन्न होगी, विस्मरण भी अधिक मात्रा में होगा।

(ख) विस्मृति के सामान्य कारण- विस्मृति के सामान्य कारण निम्नलिखित हैं-

(i) विषय-सामग्री का स्वरूप (Nature of the Learning Material)–यदि सीखने या याद करने वाली सामग्री अधिक सार्थक, आनन्दवर्धक एवं सरल होती है तो

विस्मरण की क्रिया कम होती है। इसके विपरीत यदि विषय-सामग्री निरर्थक और जटिल होती है तो विस्मरण उतनी अधिक मात्रा में होता है।

(ii) विषय-वस्तु का परिमाण (Amount of Learning Material)–यदि कोई विषय अधिक लम्बा होता है तो उसे सीखने के लिए अधिक समय और अभ्यास की आवश्यकता होती है। अधिक अभ्यास के कारण यह अधिक दिनों तक याद रहता है। इसके विपरीत छोटे विषय शीघ्र याद हो जाते हैं, उनके लिए अधिक अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। फलत: इस प्रकार के याद किये विषयों में स्मृति चिह्न गहरे नहीं होते और उसे शीघ्र भूल जाते हैं। इस प्रकार भूलने का कारण विषय का कम लम्बा या छोटा होना भी है।

(iii) सीखने की मात्रा (Degree of Learning)–किसी विषय को यदि पर्याप्त या अधिक मात्रा में सीखा या अभ्यास किया जाता है तो वह अधिक समय तक याद रहता है। इसके विपरीत कम याद किया (Under Learning) या सीखा विषय शीघ्र भूल जाता है।

(iv) सीखने की दोषपूर्ण विधि (Defective Method of Learning)–यदि सीखने या याद करने की विधि उपयुक्त नहीं है तो विषय-सामग्री शीघ्र भूल जाती है।

(v) रुचि और ध्यान का अभाव (Lack of Interest and Attention)–जिस विषय को सीखने में व्यक्ति की अभिरुचि नहीं होती उसमें उसका ध्यान नहीं लगता और वह किसी बात को सीखने पर भी शीघ्र भूल जाता है।

(vi) समय अवधान (Lapse of Time)–सीखने एवं प्रत्याह्वान के बीच के समय में जितना अधिक अन्तर होगा विस्मृति की क्रिया भी उतनी अधिक मात्रा में होगी जैसा कि अनाभ्यास के सिद्धान्त में स्पष्ट किया गया है।

(vii) सीखने वाले की आयु एवं बुद्धि (Age and Intelligence of Learner)–विस्मृति की मात्रा सीखने वाले की आयु एवं बुद्धि पर भी निर्भर करती है। प्रौढ़ एवं प्रखर बुद्धि के व्यक्ति में विस्मृति की क्रिया मन्द होगी।

(vii) पुनरावृत्ति का अभाव (Lack of Repetition)–जब सीखी हुई विषय सामग्री को अधिक दिनों तक दोहराया नहीं जाता तो वह भी भूल जाती है क्योंकि स्मृति-चिह्न पुनरावृत्ति के अभाव में मन्द पड़ने लगते हैं।

(ix) संवेगात्मक कारण (Emotional Causes)–प्राय: भय, क्रोध, चिन्ता, घबराहट आदि के कारण संवेगात्मक असन्तुलन उत्पन्न होने से शारीरिक और मानसिक दशा में परिवर्तन हो जाता है। ऐसी दशा में याद की हुई या पिछली बातों का स्मरण करना कठिन हो जाता है। प्राय: परीक्षार्थी परीक्षा भवन में भय या घबराहट में अच्छी तरह याद किया हुआ पाठ भी भूल जाते हैं।

(x) भूलने की इच्छा (Desire to forget)–जब हम किसी बात को याद नहीं रखना चाहते तब भूल जाते हैं। प्राय: व्यक्ति अपने जीवन में घटित दु:खद घटना को याद नहीं रखना चाहता इसलिए भूल जाता है। इस प्रकार विस्मृति इच्छा-प्रेरित होती है। बालक जब अनिच्छापूर्वक सीखते हैं तो शीघ्र भूल जाते हैं।

(xi) संशय (Doubt)–संशय मानसिक दुर्बलता को जन्म देता है जिससे कि व्यक्ति में आत्मविश्वास की कमी हो जाती है। इस प्रकार मन में संशय उत्पन्न होने पर वह आवश्यक बातों को भूलने लगता है।

नोट

(xii) मस्तिष्क की चोट (Brain Injury)–यदि व्यक्ति के मस्तिष्क पर कभी चोट लग जाती है तो उसकी स्मरण-शक्ति क्षीण हो जाती है।

(xiii) मानसिक आघात (Mental Shock)–यदि किसी व्यक्ति को किसी कारण किसी प्रकार का मानसिक धक्का लगता है तो उसकी स्मरण-शक्ति पर इसका प्रभाव पड़ता है।

(xiv) मानसिक द्वन्द्व (Mental Conflict)–मानसिक द्वन्द्व से उत्पन्न परेशानी भी विस्मृति का कारण है।

(xv) मादक वस्तुओं का सेवन (Use of Intoxicants)–नशीली वस्तुओं का प्रयोग करने वाले लोगों की स्मरण-शक्ति मन्द पड़ जाती है। सीखने के बाद यदि किसी वस्तु का प्रयोग किया जाता है तो विषय-वस्तु अधिक समय तक याद नहीं रहती है।

(xvi) मानसिक रोग (Mental Disease)–मानसिक रोग या विकार भी स्मरण-शक्ति को निर्बल बना देते हैं।

उपर्युक्त बातों में असाधारण विस्मृति का कारण संवेगात्मक उथल-पुथल, भावना-ग्रन्थियाँ, संशय मानसिक द्वन्द्व आदि हैं। अन्य बातें साधारण विस्मृति के अन्तर्गत आती हैं।

5.27 विस्मृति के सिद्धांत

इससे पहले विस्मृति के कारणों का उल्लेख करने के लिए कुछ सैद्धान्तिक पक्ष दिये गये हैं। वास्तव में विस्मृति के कारणों का व्यापक आधार प्रस्तुत करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने विस्मृति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अत: यहाँ विस्मृति के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

विस्मृति के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

1. **चिह्न-ह्रास का सिद्धान्त** (Theory of Trace Decay)–चिह्न ह्रास का सिद्धान्त सामान्य अनुभवों पर आधारित है। प्राय: यह देखा जाता है। कि समय अन्तराल के कारण हम पिछली बातें भूल जाते हैं। स्मृति पटल पर बने स्मृति चिह्न धूमिल हो जाते हैं अथवा मिट जाते हैं। अत: पूर्व अनुभव, कृत कार्य अथवा अधिगम पूर्ण अथवा आंशिक रूप से विस्मरण हो जाते हैं। इस प्रकार से होने वाले विस्मरण में दो तत्व प्रधान रूप से पाये जाते हैं- समय तत्व तथा उपयोगिता तत्व। एक समय में स्मृति अथवा अधिगम सामग्री आगे के समय में यदि प्रत्याह्वानित (Recalled) न की जा सके तो इस प्रकार से होने वाले विस्मरण में तत्व (Time Factor) क्रियाशील होता अर्थात् स्मृति को समय तत्व धीरे-धीरे मिटा देता है। अत: इस विचार से विस्मरण की प्रक्रिया समय अन्तराल के कारण स्मृति चिह्न में ह्रास होने से घटित होती है। विस्मरण में उपयोगिता तत्व का भी प्रभाव पड़ता है। जिन बातों का उपयोग व्यवहार में होता रहता है अभ्यास के कारण उनकी स्मृति सुदृढ़ रहती है, किन्तु जिन बातों का उपयोग व्यवहार में नहीं होता, अर्थात् अभ्यास न होने के कारण स्मृति चिह्न में ह्रास होने लगता है, तो विस्मरण की प्रक्रिया घटित होती है। थॉर्नडाइक ने प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है कि जिन अधिगम व्यवहारों का उपयोग नहीं होता वे भूल जाते हैं। थॉर्नडाइक ने अपने अधिगम नियमों में इस विचार को अनुपयोगिता सिद्धान्त (Theory of Disuse) के रूप में वर्णित किया है। विस्मरण सम्बन्धी अध्ययन के क्षेत्र में इसे विस्मरण का अनुपयोगिता सिद्धान्त (Thoery of Disuse) कहा जाता है। उपर्युक्त कारणों से स्मृति चिह्नों में जो ह्रास दिखाई देता है उससे जब हम विस्मरण की

व्याख्या करते हैं तो वही विस्मृति का चिह्न ह्रास सिद्धान्त (Theory of Trace Decay) है। इस सिद्धान्त के पक्ष में हम अपने दैनिक जीवन के व्यवहार से अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं जो इस सिद्धान्त की पुष्टि कर सके। किन्तु मनोवैज्ञानिक अध्ययनों की कसौटी पर यह सिद्धान्त खरा नहीं उतरता। अतः इसको नकारा भी गया है। यह सिद्धान्त सामान्य अनुभवों पर आधारित है तथा वैज्ञानिक स्वरूप नहीं रखता। यह एक पुरातन सिद्धान्त है। इससे असन्तुष्ट होने के कारण ही अन्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

2. **व्यतिकरण का सिद्धान्त** (Theory of Interference)–विस्मृति के इस सिद्धान्त पर मुलर, वुडवर्थ तथा पिल्जेकर आदि मनोवैज्ञानिकों ने प्रकाश डाला है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक समय में जो अधिगम, धारण अथवा स्मरण किया जाता है। उस पर उसके पूर्व के तथा पश्चात् के कार्यों द्वारा पुनः स्मरण में बाधा (Interference) के रूप में ह्रासात्मक प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति जो कार्य कर रहा होता है वह वर्तमान में होता है, जो कर चुका है वह भूत में चला जाता है तथा बाद में किया जाने वाला कार्य भविष्य में होता है। समय के तीनों कालों में किये गये कार्यों में एक प्रभावात्मक सम्बन्ध होता है। इसको निम्नचित्र में प्रदर्शित किया गया है-

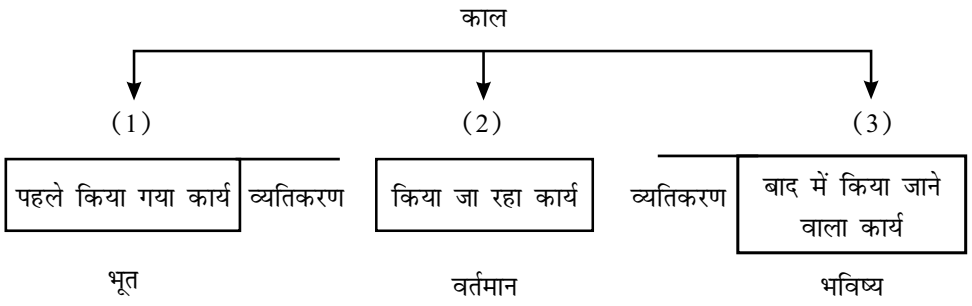

चित्र 5.5

जब वर्तमान काल के अधिगम कार्य (2) भूतकाल के कार्य (1) में व्यतिकरण (Interference) उत्पन्न करें अथवा भविष्य के कार्य (3) वर्तमान के कार्य (2) में व्यतिक्रम करें, जिससे पुनः स्मरण अथवा धारण-शक्ति में ह्रास हो तो इस प्रकार से होने वाली विस्मृति के विचार को व्यक्तिकरण का सिद्धान्त कहेंगे।

इस तथ्य से ज्ञात होता है कि व्यतिकरण की दो दशाएँ हैं, पहली, जब भूतकाल की अधिगम क्रियाएँ वर्तमान की क्रियाओं में व्यतिक्रम उत्पन्न करती हैं, तथा दूसरी, जब भविष्य की अधिगम क्रियाओं में व्यतिक्रम उत्पन्न करती हैं। मनोवैज्ञानिक भाषा में दोनों प्रकार के व्यतिकरणों को अग्रलिखित नामों से जाना जाता है-

1. अग्रोन्मुख व्यतिकरण (Pro-active Interference)
2. पृष्ठोन्मुख व्यतिकरण (Retro-active Interference)

1. **अग्रोन्मुख व्यतिकरण** (Pro-active Interference)– विस्मरण के कारक जब आगे की ओर उन्मुख होकर व्यतिकरण करते हैं तो उसे अग्रोन्मुख व्यतिकरण कहते हैं, जैसे कि इसके नाम से ही स्पष्ट है। इस विचार से यह प्रकट होता है कि वर्तमान काल में किये जा रहे अधिगम पर पिछली अधिगम सामग्री व्यतिक्रम के रूप में प्रभाव डालती है। अर्थात् पहले का अधिगम बाद के अधिगम में बाधा बन जाता है। उदाहरणार्थ, एक बालक को दो सूचियों में दी गई अधिगम सामग्री को धारण तथा

नोट

पुनः स्मरण करना है तो वह पहले एक सूची को याद करता है, फिर दूसरी सूची को याद करने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में यदि दूसरी सूची के धारण एवं पुनः स्मरण में पहली सूची की अधिगम सामग्री बाधा उत्पन्न करे तो इससे सिद्ध होगा कि विस्मरण में अग्रोन्मुख व्यतिकरण क्रियाशील रहता है- इसी प्रक्रिया को मनोविज्ञान की शब्दावली में अग्रोन्मुख व्यतिकरण कहते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि बालक के अधिकांश विस्मरण के कारणों में अग्रोन्मुख व्यतिकरण ही प्रधान रहता है। इस सम्बन्ध में एस. एस. चौहान का निम्नलिखित उद्धरण देना समीचीन होगा- ''हम प्रतिदिन के जीवन के अनुभवों से यह प्राप्त करते हैं कि अधिकांश विस्मरण अग्रोन्मुखी अवरोध (व्यतिकरण) के कारण ही होता है।'' (Forgeeting, we experience in daily life, is more due to proactive inhibition.)

2. **पृष्ठोन्मुख व्यतिकरण** (Retro-active Interference)– जब बाद में किया हुआ अधिगम कार्य उससे पूर्व के अधिगम धारण एवं पुनःस्मरण में अवरोध अथवा व्यतिकरण उत्पन्न करता है तो विस्मरण के इस विचार को पृष्ठोन्मुख व्यतिकरण कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक बालक पहले एक सूची को याद करने के पश्चात् दूसरी सूची को याद करने का प्रयास करे और दूसरी सूची याद करने से पहली सूची की धारण एवं पुनः स्मरण में व्यतिकरण का दुष्प्रभाव दिखाई दे तो यह क्रिया पृष्ठोन्मुख व्यतिकरण कहलाएगी। इस प्रकार के व्यतिकरण से भी विस्मरण होता है। इस तथ्य से यह भी स्पष्ट होता है कि दो अधिगम धारणाओं और उनके पुनःस्मरण के मध्य अन्तर्वेशी कार्य (Interpolated activity) क्रियाशील हो जाते हैं जिसके प्रभाव से विस्मरण होने लगता है। पहले और बाद की अधिगम सामग्री में जितनी अधिक समानता होगी पृष्ठोन्मुख व्यतिकरण का प्रभाव उतना ही अधिक होगा। जैसे, यदि दोनों सूचियों की सामग्री मे अधिक समानता होगी तो विस्मरण अधिक होगा इसी प्रकार अन्तर्वेशी सामग्री की अधिकता, अन्तर्वेशी अधिगम की अधिकता, अन्तर्वेशी अधिगम को प्रस्तुत करने में समय की अधिकता तथा धारण-विश्राम अवधि में क्रियाशीलता की अधिकता के कारण भी विस्मरण की मात्रा अधिक हो सकती है, क्योंकि ये कारक धारण शक्ति एवं पुनः स्मरण में व्यतिकरण करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्तर्वेशी कार्य की क्रियाशीलता से स्मरण में पृष्ठोन्मुख व्यतिकरण होता है। इस सम्बन्ध में एस. एस. चौहान के विचार का उद्धरण समीचीन होगा-

''पुनः स्मरणकाल में अधिगम के मूलभूत प्रदत्त एवं अन्तर्वेशी कार्य की सूची के बीच व्यतिकरण एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्य (Variable) है, जो पृष्ठोन्मुख व्यतिकरण की मात्रा को प्रभावित करता है।'' (Interference between the item of the original and interpolated list at the time of the recall is an important variable influencing the amount of retro-active inhibition.)

विस्मरण की व्याख्या में व्यतिकरण के सिद्धान्त को अधिकांश मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। विस्मरण में एक प्रकार का व्यतिकरण ही क्रियाशील होता है। यद्यपि कि कुछ मनोवैज्ञानिक, विशेष रूप से आसगुड आदि, इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार व्यतिकरण की मात्रा का मापन नहीं किया जा सकता, केवल उनका निरीक्षण तथा अनुभव किया जा सकता है। तथापि व्यतिकरण के सिद्धान्त की व्यापकता विस्मरण की अवधारणा को

नोट

स्पष्ट करने में सक्षम है, क्योंकि इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में मनोविज्ञान की प्रयोगशालाओं में अनेक प्रयोग किये जा चुके हैं तथा वर्तमान में भी किये जा रहे हैं।

3. **पुनर्आह्वान की विफलता का सिद्धान्त** (Theory of Retrieval Failure)– इस सिद्धान्त में यह विचार प्रतिपादित किया गया है कि विस्मरण का कोई स्थाई प्रारूप नहीं होता, बल्कि यह अस्थाई रूप में होता है।

   एक विषय वस्तु याद करने के पश्चात् उसका पुनर्आह्वान (Recall) करते समय बालक स्मृति कोष में उसे खोजता है। वह पुनर्आह्वान करने का प्रयास करता है। इस प्रयास में सफलता मिलने पर स्मृति क्रियाशील होती है, किन्तु प्रयास विफल होने पर विस्मृति क्रियाशील होती है। इस प्रकार पुनर्आह्वान में विफलता की स्थिति ही विस्मृति है। प्राय: यह देखने को मिलता है किसी स्मृति का पुनर्आह्वान करने के लिए बालक समय लगाता है, मस्तिष्क पर जोर देता है या माथा ठोंकता है-ये सभी क्रियाएँ पुनर्आह्वान के प्रयासों में सफलता प्राप्त करने के लिए होती है। हम कह सकते हैं कि विस्मृति का खो जाना या समाप्त हो जाना नहीं है, बल्कि यह स्मृति पटल पर ले आने अर्थात् पुनर्आह्वान में विफल हो जाने की परिणति है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि विषय-वस्तु स्मृति पटल पर है अथवा वह कुछ धुँधली अवस्था में है किन्तु पुनर्आह्वान (Retrieval) का स्वरूप नहीं ले पाती। प्रयास करने पर पुनर्आह्वान में सफलता मिल भी सकती है या नहीं भी मिल सकती है। कभी-कभी तो कोई विषय सामग्री बड़ी प्रवाह से और बिना प्रयास पर बल दिए पुनर्आह्ववानित (Recalled) की जा सकती है, जैसे कि वह जिह्वा की नोक पर रखी (Tip on the Tongue) हो। स्मृति तथा विस्मृति के रूप में धारण तथा उसके पुनर्आह्वान में एक अचेतन शक्ति कार्य करती है जो ज्ञात नहीं होती। अत: विस्मरण का कारण अचेतन तथा अज्ञात होता है। वस्तुत: बाह्य रूप से पुनर्आह्वान में विफलता की स्थिति ही विस्मरण है, चाहे वह स्थायी हो या अस्थायी।

4. **अभिप्रेरणात्मक सिद्धान्त** (Motivational Theory)–इस सिद्धान्त को दमन का सिद्धान्त (Theory of Repression) भी कहते हैं। वस्तुत: फ्रायड ने विस्मरण के सम्बन्ध में अभिप्रेरणा के प्रभाव का उल्लेख किया है। यह अभिप्रेरणा दमन है। दमनात्मक क्रियाएँ व्यक्ति में एक ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न करती हैं जिससे व्यक्ति एक विषय अथवा घटना को विस्मृत करने के लिए अभिप्रेरित हो। इससे व्यक्ति स्मृति-विशेष की उपेक्षा करना सीख जाता है। अत: सायास उपेक्षा भाव से धारण शक्ति में ह्रास होने तथा पुनर्आह्वान करने में बाधा आने या असमर्थ होने से विस्मरण होता है। इसमें अचेतन मन क्रियाशील होता है जो कि कष्ट, दु:ख तथा अशुभ आदि की स्मृति से सम्बन्धित होता है। व्यक्ति उस स्मृति से उत्पन्न भय से ग्रस्त हो जाता है। अत: स्मृति उसका पुन: स्मरण (Recall) नहीं चाहती। अभिप्रेरणा का प्रभाव स्मरण और विस्मरण दोनों की प्रक्रिया पर पड़ता है।

   अभिप्रेरणा का अभाव भी विस्मरण का कारण बन जाता है। शैक्षिक परिस्थितियों में प्राय: यह देखा जाता है कि बालक पिछली कक्षा का पाठ भूल जाते हैं और वर्तमान कक्षा के पाठ की स्मृति में अधिक प्रयास करते हैं। अत: वे वर्तमान कक्षा की विषय सामग्री के पुनर्आह्वान में, पिछली कक्षा की विषय सामग्री के पुनर्आह्वान की तुलना में अधिक सफलता प्राप्त करते हैं। इस सम्बन्ध में **जिगारनिक** (Zeigarnik) महोदय ने एक प्रयोग किया, जिसमें उन्होंने यह पाया कि बालक पूर्ण कार्यों की तुलना में अपूर्ण कार्यों के प्रति अधिक अभिप्रेरित रहते हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार- ''अपूर्ण कार्यों के प्रत्याह्वान में सफलता

का कारण वे अभिप्रेरणाएँ होती हैं जिनकी उपलब्धि पूर्ण नहीं होती और उद्देश्य की प्राप्ति का आर्कषण बना रहता है, किन्तु पूर्ण कार्यों में उपलब्धि के कारण अभिप्रेरणा सन्तुष्ट हो चुकी होती है।'' (The explanation of recalling incompleted task is that in case of com- pleted task, their motivation was satisfied and in the case of incompleted tasks, the attraction of those tasks they were unable to finish main.)

नोट

5. **अनुबद्धता का सिद्धान्त** (Theory of Consolidation)–यह सिद्धान्त स्मृति के परिपक्व और सुसंगठित हो जाने की व्यवस्था में कमी रह जाने या उसमें छेड़छाड़ करने से सम्बन्धित है। ऐसी स्थिति में प्रत्याह्वान (त्मबंसस) करने में सफलता नहीं मिल पाती। एक स्मृति चिह्न में दूसरी स्मृति चिह्न द्वारा बाधा पहुँचाना अथवा एक धारण (Retention) का दूसरी धारण पर हावी हो जाना विस्मरण का कारण बन जाता है। जिस प्रकार से सीमेन्ट के दृढ़ अथवा परिपक्व होने की एक अवधि सीमा होती है, यदि इसी समय के अन्दर उससे छेड़छाड़ किया जाए तो वह ठीक से अनुबद्धित (Consolidated) नहीं हो पाता। अत: इसके लिए कुछ समय देना होता है। इसी प्रकार एक विषय के धारण की एक धारण-अवधि होती है जिसमें स्मृति दृढ़ होती है। इस अवधि में दूसरी धारणाओं के निर्माण प्रयासों से बाधा या विघटन का प्रभाव पड़ने लगता है जिससे धारण का प्रत्याह्वान नहीं हो पाता। यही विस्मरण है। विस्मरण का यह सिद्धान्त अपूर्ण तथा असन्तोषजनक माना जाता है क्योंकि यह विस्मरण का आंशिक तथ्य ही प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विस्मरण के अनेक कारण हैं। विभिन्न कारणों पर बल देने के कारण विस्मरण के विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित हुए। समग्रता के अभाव के कारण प्रत्येक सिद्धान्त में कुछ-न-कुछ कमी परिलक्षित होती है। तुलनात्मक रूप से हम यह देखते हैं कि व्यतिकरण का सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत और समीचीन है, क्योंकि इसका मनोवैज्ञानिक आधार है और विस्मरण की व्याख्या करने के लिए इसी सिद्धान्त के आधार पर प्रयोगशालाओं में प्रयोग किये जा रहे हैं।

5.28 विस्मृति निवारण के उपाय

विस्मरण को कम करने के लिए मनोवैज्ञानिक मन ने अपने विचार प्रकट किये हैं। यहाँ संक्षेप में इनका उल्लेख किया जा रहा है-

1. किसी बात को सीखने के लिए स्मरण करने का इरादा होना चाहिए।
2. स्मरण रखने के लिए ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है।
3. स्मरण रखने के लिए स्मृति प्रतिभाओं का उपयोग करना चाहिए।
4. अनुभव की गई या सीखी हुई बातों का अन्य बातों से साहचर्य स्थापित करना चाहिए।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त विस्मरण का निवारण स्मृति-प्रशिक्षण द्वारा किया जा सकता है।

5.29 स्मरण एवं विस्मरण का शैक्षिक महत्त्व

स्मरण का महत्त्व- शिक्षा की प्रमुख प्रक्रिया में अधिगम (सीखना) के लिए स्मरण क्रिया के साथ विस्मरण का भी स्थान एवं महत्त्व है। स्मरण करने की विभिन्न विधियों का उल्लेख पहले किया

जा चुका है। इन विधियों की उपयोगिता एवं शैक्षिक महत्त्व यह है कि इनके द्वारा शिक्षार्थी को स्मरण करने के सरल ढंग का ज्ञान हो जाता है और किसी विषय को स्मरण करने में समय और श्रम की बचत होती है। स्मृति-प्रशिक्षण के लिए शिक्षक को विशेष बातों पर ध्यान देना चाहिए, जैसे-प्रेरणा प्रदान करना, विचार साहचर्य और सीखने के नियमों पर ध्यान देना, स्मरण करने की विधियों का प्रयोग करना आदि।

विस्मरण का महत्त्व- मनोवैज्ञानिकों ने विस्मरण की क्रिया पर अनेक अध्ययन एवं प्रयोग किये हैं। शिक्षा में विस्मरण के महत्त्व पर कालिन्स और ड्रेवर ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं- ''यह सत्य है कि विस्मरण, स्मरण के विपरीत है, पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विस्मरण लगभग उतना ही लाभप्रद है जितना कि स्मरण।'' (It is true that forgetting is the opposite of remembering, but from a practical point of view forgetting is almost as useful as remembering.)

शिक्षा में विस्मरण की उपयोगिता एवं महत्त्व के सम्बन्ध में निम्नांकित विचार प्रस्तुत किये जाते हैं-

1. विद्यालय में बालक बहुत-सी बातों को देखता, सुनता और सीखता है किन्तु बहुत-सी बातें अधिक महत्त्व की नहीं होतीं। अतः उन्हें भुला देना ही उपयुक्त होता है। बालक का स्मृति-क्षेत्र सीमित होता है। इसलिए नई बातों को सीखने के लिए पुरानी और निरर्थक बातों को विस्मरण करना आवश्यक होता है। वुडवर्थ का कथन है- ''नई बातों का सीखना, पुरानी बातों के स्मरण में बाधा डालता है और पुरानी बातों का स्मरण नई बातों को सीखने में बाधा डालता है।'' इस प्रकार विस्मरण और स्मरण में सन्तुलन रखने की योग्यता से शिक्षा का कार्य भली-भाँति पूरा होता है।
2. विस्मरण से पुराने अनुभवों के स्थान पर नये अनुभव संचित होते हैं। यदि बालक के मस्तिष्क में सभी बातों के स्मृति-चिह्न अंकित होते जायेंगे तो उसके विचार और अर्जित अनुभव अस्त-व्यस्त हो सकते हैं। अतः विचारों को व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए कुछ बातों को भुलाना आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में **स्टर्ट** और **ओकडन** (Sturt and Oakden) का विचार है- ''यदि हम अपने विचारों में व्यवस्था और बल चाहते हैं तो हमारे लिए विस्मरण आवश्यक है।''
3. बालक को विद्यालय एवं समाज में कभी-कभी दुःखद एवं कटु अनुभव भी प्राप्त होते हैं। अतः कटु अनुभवों के लिए विस्मरण आवश्यक है, क्योंकि इनसे बालक की शिक्षा एवं विकास प्रभावित हो सकता है।
4. विस्मरण सुधार की दृष्टि से भी उपयोगी होता है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है कि बालक की शिक्षा में स्मरण के साथ विस्मरण की भी उपयोगिता एवं महत्त्व है।

5.30 सृजनात्मकता का अर्थ

भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने सृजनात्मकता को भिन्न-भिन्न ढंग से परिभाषित किया है। सृजनात्मकता की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नवत् हैं– डीहान तथा हेविंगहर्स्ट के अनुसार "सृजनात्मकता वह विशेषता है जो किसी नवीन व वांछित वस्तु के उत्पादन की ओर प्रवृत्त करे। यह नवीन वस्तु सम्पूर्ण समाज के लिए नवीन हो सकती है अथवा केवल उत्पादक व्यक्ति के लिए नवीन हो सकती है।"

ड्रैवहल के शब्दों में, "सृजनात्मकता वह मानवीय योग्यता है जिसके द्वारा वह किसी रचना या विचारों को प्रस्तुत करता है।"

मनोवैज्ञानिक क्रो एवं क्रो के अनुसार, "सृजनात्मकता मौलिक परिणामों को अभिव्यक्त करने की मानसिक प्रक्रिया है।" कोल और ब्रूस के शब्दों में "सृजनात्मकता मौलिक उत्पाद के रूप में मानव मस्तिष्क को समझने व्यक्त करने तथा सराहना करने की योग्यता व क्रिया है।"

नोट

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि सृजनात्कमता का सम्बन्ध प्रमुख रूप से मौलिकता या नवीनता से है। सृजनात्मकता समस्या पर नये ढंग से साचने तथा समाधान खोजने के प्रयास से परिलक्षित होती है दूसरे शब्दों में सृजनात्मकता वह योग्यता है जो व्यक्ति को किसी समस्या का विद्वतापूर्ण समाधान खोजने के लिए नवीन ढंग से सोचने व विचार करने में समर्थ बनाती है। प्रचलित ढंग से हटकर किसी नये ढंग से चिन्तन करने तथा कार्य करने की योग्यता ही सृजनात्मकता है।

5.31 सृजनात्मकता के तत्व

सृजनात्मकता की परिभाषाओं के अवलोकन तथा विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सृजनात्मकता को संवेदनशीलता, जिज्ञासा, कल्पना, मौलिकता, खोजपरकता, लचीलापन, प्रवाह, विस्तार, नवीनता आदि के संदर्भ में समझा जा सकता है। सृजनात्मकता के समानार्थी यह सभी प्रत्यय वैज्ञानिक अनुसंधानों, कलाकृतियों, संगीत, रचना, लेखन व काव्य कला, चित्रकला, भवन निर्माण आदि सृजनात्मक कार्यों में परिलक्षित होते हैं। सृजनात्मकता के चार प्रमुख तत्व निम्नवत हैं–

1. **प्रवाह** (Fluency)–प्रवाह से तात्पर्य किसी दी गई समस्या पर अधिकाधिक प्रत्युत्तरों से है। प्रवाह को पुनः चार भागों–वैचारिक प्रवाह (Ideational Fluency), अभिव्यक्ति प्रवाह (Expressional Fluency)] साहचर्य प्रवाह (Associative Fluency) तथा शब्द प्रवाह (Word Fluency) में बाँटा जा सकता है। वैचारिक प्रवाह में विचारों के स्वतन्त्र प्रस्फुटन को प्रोत्साहित किया जाता है। जैसे किसी कहानी के शीर्षक बताना, किसी वस्तु के उपयोग बताना, किसी वस्तु को सुधारने के तरीके बताना आदि। अभिव्यक्ति प्रवाह में मानवीय अभिव्यक्तियों के स्वतन्त्र प्रस्फुटन को प्रोत्साहित किया जाता है। जैसे दिये गये चार शब्दों से वाक्य बनाना, दिये अपूर्ण वाक्य को पूरा करना आदि। साहचर्य प्रवाह से तात्पर्य दिये गये शब्दों या वस्तुओं में साहचर्य स्थापित करने से है। जैसे किसी दिये गये शब्द के पर्यायवाची या विलोम शब्द लिखना। शब्द प्रवाह का सम्बन्ध शब्दों से होता है। जैसे दिये गये प्रत्ययों तथा उपसर्गों (Prefix and suffix) से शब्द बनाना। किसी व्यक्ति के द्वारा किसी सृजनशील परीक्षण के किसी पद (item) पर प्रवाह को प्रायः उस पद पर दिये गये प्रत्युत्तरों की संख्या से व्यक्त किया जाता है। परीक्षण पर व्यक्ति के प्रवाह प्राप्तांक को ज्ञात करने के लिए सभी पदों के प्रवाह अंकों का योग कर लिया जाता है।
2. **विविधता** (Flexibility)–विविधता से अभिप्राय किसी समस्या पर दिये प्रत्युत्तरों या विकल्पों में विविधता के होने से है। इससे ज्ञात होता है कि व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत किये गये विकल्प या उत्तर एक दूसरे से कितने भिन्न-भिन्न हैं। विविधता की तीन विमाएँ–आकृति स्वतः स्फूर्त विविधता (Figural Spontaneous Flexibility)] आकृति अनुकूलन विविध ता (Figural Adaptive Flexibility) तथा शाब्दिक स्वतः स्फूर्त विविधता (Semantic Spontaneous Flexibility) हो सकती हैं। आकृति स्वतः स्फूर्त विविधता से तात्पर्य किसी

वस्तु या आकृति में सुधार करने के उपायों की विविधता से है। आकृति अनुकूलन विविध ता से अभिप्राय किसी वस्तु या आकृति के रूप में किसी दिये गये रूप में परिवर्तित करने की विधियों की विविधता से है। शाब्दिक स्वत: स्फूर्त विविधता में वस्तुओं या शब्दों के प्रयोग में विविधता को देखा जाता है सृजनात्मकता के परीक्षणों के किसी पद (item) पर विविधता को प्राय: उस पद पर व्यक्ति के द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रत्युत्तरों (different types of responses) से व्यक्त किया जाता है। परीक्षण पर किसी व्यक्ति के विविधता प्राप्तांक को ज्ञात करने के लिए उसके द्वारा विभिन्न पदों पर प्राप्त विविधता अंकों को जोड़ लिया जाता है।

3. **मौलिकता** (Originality)–मौलिकता से अभिप्राय व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत किये गये विकल्पों या उत्तरों के असामान्य (न्दबवउउवद) होने से है। इसमें देखा जाता है कि दिये गये विकल्प या उत्तर सामान्य या प्रचलित (च्वचनसंत) विकल्पों या उत्तरों से कितने भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में मौलिकता मुख्य रूप से नवीनता (छमूदमे) से सम्बन्धित होती है। जो व्यक्ति अन्यों से भिन्न विकल्प प्रस्तुत करता है वह मौलिक कहा जा सकता है। वस्तुओं के नये उपयोग बताना, कहानी, कविता या लेख के शीर्षक लिखना, परिवर्तनों के दूरगामी परिणाम बताना, कहानी, कविता, या लेख के शीर्षक लिखना, परिवर्तनों के दूरगामी परिणाम बताना नवीन प्रतीक खोजना आदि मौलिकता के कुछ उदाहरण हैं।
4. **विस्तारण** (Elaboration)–विस्तारण से तात्पर्य दिये गये विचारों या भावों की विस्तृत व्याख्या, पूर्ति या प्रस्तुतीकरण से होता है। विस्तारण को दो भागों–शाब्दिक विस्तारण (Semantic Elaboration) तथा आकृति विस्तारण (Figural Elaboration) में बाँटा जा सकता है शाब्दिक विस्तारण में किसी दी गई संक्षिप्त घटना, क्रिया, कार्य परिस्थिति आदि को विस्तृत करने के लिए कहा जाता है जबकि आकृति विस्तारण में किसी दी गई रेखा या अपूर्ण चित्र में कुछ जोड़कर पूर्ण एवं सार्थक चित्र बनाना होता है।

5.32 सृजनात्मक व्यक्तित्व की विशेषताएँ

टोरेन्स (Torrance) ने अनेक सृजनात्मक व्यक्तियों के व्यवहारों का विशद अध्ययन करने के उपरान्त, सृजनात्मक व्यक्ति की 84 व्यक्तित्व विशेषताओं की एक सूची तैयार की थी। सृजनात्मकता के मापन में सृजनात्मक व्यक्तित्व की द्योतक ये 84 विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण व सार्थक भूमिका अदा कर सकती है। ये चौरासी विशेषताएँ निम्नवत हैं–

1. अव्यवस्था को स्वीकारना (Accepts Disorder)
2. जोखिम उठाना (Adventurous)
3. दृढ़ भावात्मकता (Strong Affection)
4. अन्यों के प्रति जागरूकता (Awareness to others)
5. अव्यवस्था की ओर आकर्षण (Attraction to Disorder)
6. कठिन कार्यों का करना (Attempts Difficult Jobs)
7. रचनात्मक आलोचना (Constructive Criticism)
8. तीव्र व अन्तर्विवेकशील परम्पराएँ (Deep and Conscientious Conventions)
9. परार्थोन्मुख (Altruistic)

10. सदैव परेशान रहना (Always Beffled by Something)
11. रहस्यात्मक खोजों के प्रति आकर्षित होना (Attracted to Mysterious Discoveries)
12. झेंपू या लज्जालू (Bashful Outwardly)
13. साहसिक (Courageous)
14. नम्रता की परम्पराओं को स्पष्ट करना (Defines Conventions of Courtesy)
15. स्वास्थ्य की परम्पराओं को स्पष्ट करना (Defines Conventions of Health)
16. श्रेष्ठ बनने की इच्छा (Desire of Excel)
17. दृढ़ निश्चय (Determination)
18. विभेदीकृत मूल्य अधिक्रम (Differentiated Value-hierarchy)
19. असन्तुष्ट (Discontented)
20. व्यवस्था को बिगाड़ने वाले (Disturbs Organization)
21. प्रबल, हावी (Dominant)
22. संवेगात्मक (Emotional)
23. संवेगात्मक रूप से संवेदनशील (Emotionally Sensitive)
24. उत्साही (Energetic)
25. दोष निकालने वाला (A Fault Finder)
26. लोगों की चिन्ता नहीं करना (Does not fear being thought differently)
27. जिज्ञासा से परिपूर्ण (Full of Curiosity)
28. प्रायः आत्म-सन्तुष्ट प्रतीत होना (Appears self-satisfied at times)
29. एकान्तप्रिय (Likes Solitude)
30. अनुभव करना कि सारी व्यवस्था गड़बड़ है (Feels whole parade is out of step)
31. निर्णय में स्वतन्त्रता (Independence in Judgement)
32. चिन्तन में स्वतन्त्रता (Independence in Thinking)
33. व्यक्तिवादी (Individualistic)
34. अन्तःप्रज्ञात्मक (Intuitive)
35. परिश्रमी (Industrious)
36. अन्तःमुखी (Introversive)
37. व्यावहारिक योग्यता में कमी (Lacks Business Ability)
38. त्रुटि करना (Makes Mistakes)
39. कभी न ऊबना (Never Bored)
40. आक्रामक और पलायनवादी नहीं होना (Not Hostile or Negativistic)
41. जनप्रिय न होना (Not Popular)
42. विचित्र आदतें (Oddities of Habits)
43. सतत् (Persistent)

नोट

नोट

44. अपने विचारों में लीन (Becomes Preoccupied)
45. जटिल विचारों को पसन्द करना (Preference for Complex Ideas)
46. अनैष्ठिक (Non-conformity)
47. अनियमित समय पर कार्य करना (Keeps Unusual Hours)
48. प्रश्न करने की योग्यता (A Questioning Ability)
49. आमूल-चूल परिवर्तनवादी (Radical)
50. बाह्य संवेदनाओं को ग्रहण करना (Receptive to External Stimuli)
51. अन्य व्यक्तियों के विचारों का ग्राही (Receptive to Ideas of Others)
52. कभी-कभी पलायनवादी (Regresses Occasionally)
53. विचारों के दमन का विरोधी (Rejection of Suppression as a Mechanism of Impulse Control)
54. दमन को नकारना (Rejection of Repression)
55. संकल्पी (Resolute)
56. आत्मसात (Reserved)
57. आत्म-सचेत (Self-aware)
58. आत्म विश्वासी (Self-confident)
59. आत्म निर्भर (Self-sufficient)
60. हँसोड़ (Sense of Humour)
61. सुन्दरता के प्रति संवेदनशील (Sensitive to Beauty)
62. निश्छल (Sincere)
63. शक्ति को त्यागने वाला (Shuns Power)
64. अपने आपको थोपने वाला (Self-assertive)
65. स्वचालित (Self-starter)
66. नियति को मानना (Senses of Destiny)
67. छोटी-मोटी बातों से अरुचि (Not Interested in Small Details)
68. परिकल्पनात्मक (Speculative)
69. असहमत होने को तत्पर (Spirited in Disagreement)
70. दूरगामी लक्ष्यों का आकांक्षी (Strives for Distant Goals)
71. हठी या अड़ियल (Stubborn)
72. अस्थायी स्वभाव (Temrperamental)
73. दृढ़ (Tenacious)
74. वात्सल्य (Tender Emotions)
75. डरपोक (Timid)
76. परिपूर्ण (Thorough)

77. शक्ति के परे तटस्थ (Unconcerned about Power)
78. कुछ अनुसंस्कृत, आदिम (Somewaht Uncultured Primitive)
79. अपरिष्कृत (Unsophisticated Naive)
80. कहने मात्र से किसी बात को स्वीकार करने का अनिच्छुक (Unwilling to accept any thing on mere say to)
81. दृष्टा (Visionary)
82. बहुमुखी (Versatile)
83. जोखिम उठाने को तैयार (Willing to take Risks)
84. काफी विरक्त और खामोश (Somewhat withdrawn and Quiescent)

नोट

5.33 सृजनात्मकता का मापन

यद्यपि सृजनात्मकता वास्तव में एक मानसिक योग्यता ही है, फिर भी अन्य मानसिक योग्यताओं के मापन की तुलना में सृजनात्मकता का मापन एक जटिल कार्य है। सृजनात्मकता के अन्तर्गत अनूठे, अस्पष्ट, विस्तृत तथा जटिल कार्यों को करने की अनेकों विभिन्न क्षमतायें समाविष्ट रहती हैं इसीलिए सृजनात्मकता का मापन करना मुश्किल कार्य होता है। वास्तव में किसी भी एक परीक्षण की सहायता से किसी व्यक्ति की सम्पूर्ण सृजनात्मकता को कदापि माना नहीं जा सकता यही कारण है कि मैकनील (Mc Neil. 1960) ने सुझाव दिया था कि सृजनात्मकता के प्रत्येक कारक या घटक को अलग-अलग परीक्षणों के द्वारा मापा जाना चाहिए। सृजनात्मकता के किसी भी कारक या घटक को मापने के लिए परीक्षण तैयार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि उस कारक या घटक को मानव व्यवहार के रूप में स्पष्ट व वस्तुनिष्ठ ढंग से परिभाषित किया जा सके। सृजनात्मकता के प्रमुख घटकों तथा सृजनशील व्यक्ति की विशेषताओं का वर्णन पीछे किया जा चुका है। हरग्रीव्ज (भ्ंतहतमंअमे), थर्सटन (Thurstone), विल्सन (Wilson), टेलर (Tailor), गिलफोर्ड (Guilford)] मेरीफील्ड (Marrifield), हालैन्ड (Holland), कैन्ट (Kent), हेरिस (Harris), ओविन (Owen), टोरेन्स (Torrance) आदि ने सृजनात्मकता के मापन के प्रयासों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। गिलफोर्ड तथा मेरीफील्ड के द्वारा निर्मित 'कालेज छात्रों के लिए सृजनात्मकता परीक्षण', हालैण्ड तथा कैण्ट द्वारा निर्मित 'स्कूल छात्रों के लिए सृजनात्मकता परीक्षण' तथा टोरेन्स के द्वारा तैयार किया गया 'सृजनात्मक चिन्तन का मिनिसोटा परीक्षण' काफी प्रसिद्ध हुए। भारत में बी.के पासी तथा बाकर मेंहदी के द्वारा के द्वारा विकसित किये गये सृजनात्मकता परीक्षणों को पर्याप्त सफलता मिली है।

यद्यपि सृजनात्मकता के मापन के लिए अनेकों परीक्षणों का निर्माण किया जा चुका है, परन्तु इन सृजनात्मकता परीक्षणों की अपनी व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध नहीं हो सकी है। अधिकांश परीक्षणों की विश्वसनीयता संदिग्ध है, परीक्षण-पुनर्परीक्षण विश्वसनीयता गुणांकों का मान प्रायः 40 से 75 के बीच पाया गया है। इन परीक्षणों की पूर्व-कथन वैधता (Predictive Validity) काफी कम प्राप्त हुई है। सृजनात्मकता के विभन्न परीक्षणों पर प्राप्त अंक परस्पर घनिष्ठ रूप से सहसम्बन्धित नहीं होते हैं। यही कारण है कि सृजनात्मकता परीक्षणों से प्राप्त अंकों की विश्वसनीयता तथा वैधता को संतोषजनक मानने में कठिनाई होती है। फिर भी जब तक अधिक विश्वसनीय तथा वैध मापन विधियों का प्रतिपादन नहीं होता है तब तब उपलब्ध परीक्षणों के प्रयोग से ही सृजनात्मकता का मापन करना होगा।

नोट

5.34 सृजनात्मकता परीक्षण का निर्माण

अन्य परीक्षणों के निमार्ण व प्रमापीकरण की तरह से सृजनात्मकता परीक्षणों के निर्माण में भी योजना बनाना, प्रश्न तैयार करना, पद विश्लेषण करके प्रश्न छांटना तथा परीक्षण का मूल्यांकन करना-चार मुख्य सोपानों का अनुगमन किया जाता है। इन चारों सोपानों के अन्तर्गत किया जाने वाले कार्य लगभग वही है जो किसी सम्प्राप्ति परीक्षण अथवा बुद्धि परीक्षण के निर्माण के दौरान सम्पादित किये जाते हैं। प्राय: सृजनात्मकता परीक्षण के लिए पदों का चयन करने के लिए पद वैधता (Item Validity) अथवा पद विभेदकता (Item Discrimination) ज्ञात की जाती है तथा इसके लिए परीक्षण प्राप्तांकों व पद प्राप्तांकों के मध्य सहसम्बन्ध गुणांकों की गणना की जाती है तथा उच्च व निम्न सृजनात्मक समूहों की तुलना पद प्राप्तांकों के लिए करके **टी मानों को ज्ञात** किया जाता है। पद वैधता अथवा पद विभेदकता ज्ञात करते समय अधिकांश परीक्षण रचयिता परीक्षण पदों के द्वारा प्रदत्त सृजनात्मकता प्राप्तांकों का उपयोग करते हैं। सृजनात्मकता परीक्षणों के निर्माण व प्रमापीकरण के लिए पद विश्लेषण की यह प्रविधि उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है। वास्तव में किसी सम्प्राप्ति या बुद्धि परीक्षण तथा सृजनात्मकता परीक्षण की प्रकृति में कुछ मूलभूत अन्तर होता है जिसके कारण दोनों प्रकारों के परीक्षणों के लिए एक जैसी पद विश्लेषण प्रविधि का प्रयोग करना मनोमितिय दृष्टि से उचित नहीं है।

सम्प्राप्ति या बुद्धि परीक्षण में प्रत्येक प्रश्न का केवल एक उत्तर दिया जाता है तथा प्रत्येक प्रश्न के लिए छात्र को केवल एक ही प्राप्तांक प्रदान किया जाता है। विभिन्न प्रश्नों के प्राप्तांकों का योग करने पर कुल सम्प्राप्ति प्राप्तांक या बुद्धि प्राप्तांक ज्ञात हो जाता है। परन्तु सृजनात्मकता परीक्षण में ऐसा नहीं होता है। सृजनात्मक परीक्षण में किसी एक प्रश्न पर प्रयोज्य द्वारा अनेक प्रतिक्रियाएँ दी जा सकती हैं अत: प्रयोज्य को अधिकाधिक प्रतिक्रियाएँ देने के लिए प्रेरित किया जाता है। इन प्रतिक्रियाओं का अंकन सही-गलत के रूप में न होकर व्यक्ति की कल्पना शक्ति की उड़ान अथवा नवीन ढंग से सोचने की क्षमता के रूप में किया जाता है। एक ही प्रश्न पर दी गई प्रतिक्रियाओं के लिए विभिन्न दृष्टिकोण (प्रवाहता, विविधता, मौलिकता आदि) के आधार पर तीन-चार विभिन्न प्राप्तांक प्रदान किये जाते हैं। इसी प्रकार से किसी व्यक्ति के लिए कुल सृजनात्मकता प्राप्तांक के साथ-साथ कई अन्य प्राप्तांक (प्रवाहता, विविधता, मौलिकता आदि के लिए) प्राप्त होते हैं। किसी प्रश्न या कुल परीक्षण पर प्राप्त होने वाले ये प्राप्तांक एक ही प्रतिक्रिया/प्रतिक्रियाओं को भिन्न-भिन्न ढंग से विश्लेषित करने पर प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ माना कि किसी सृजनात्मकता परीक्षण के किसी प्रश्न पर किसी छात्र ने कुल चार प्रतिक्रियाएँ दीं, तो इनके आधार पर उसे प्रवाहता के लिए 4. विविधता के लिए 2 तथा मौलिकता के लिए 3 अंक मिल सकते हैं। स्पष्ट है कि अंक देते समय प्रथम बार प्रतिक्रियाओं की संख्या देखी गई है, द्वितीय बार प्रतिक्रियाओं की प्रकृति के प्रकार को देखा गया है तथा तीसरी बार प्रतिक्रियाओं की दुर्लभता को ध्यान में रखा गया है। तीनों प्राप्तांकों का योग उस प्रश्न पर कुल सृजनात्मकता का प्राप्तांक होगा। नि:सन्देह किसी प्रश्न के लिए कुल सृजनात्मकता प्राप्तांक व्यक्ति की सामूहिक सृजनात्मकता (Global Creativity) को इंगित करेगा। परन्तु इसके आधार पर प्रश्न पर व्यक्ति द्वारा दी गई प्रतिक्रियाओं में प्रवाहता, या मौलिकता आदि के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है, जबकि विभिन्न प्रतिक्रियाओं का अंकन इन्हीं आधार पर करना होता है। अत: कुल सृजनात्मकता प्राप्तांकों की सहायता से ही पद विश्लेषण करके प्रश्नों का चयन करना वांछित प्रतीत नहीं होता है।

नोट

यह कहा जा सकता है कि सम्प्राप्ति या बुद्धि परीक्षणों में भी विमीय प्राप्तांक प्राप्त किये जाते हैं जिनका योग करने पर कुल सम्प्राप्ति या बुद्धि प्राप्तांक ज्ञात होते हैं। परन्तु इन परीक्षणों तथा सृजनात्मकता परीक्षण में प्राप्त विमीय प्राप्तांकों की प्रकृति पर्याप्त भिन्न होती है। किसी सम्प्राप्ति या बुद्धि परीक्षण में पाठ्यवस्तु (Content) को कुछ भागों में विभक्त करके विमायें बनाई जाती हैं तथा कोई भी प्रश्न केवल एक ही विमा में आ सकता है। किसी प्रश्न पर छात्र को केवल एक ही प्राप्तांक प्रदान किया जाता है जो केवल उसी विमा के कुल प्राप्तांक में योगदान करता है, किसी अन्य विमा में उसका कोई योगदान नहीं होता है। स्पष्टत: ऐसी स्थिति में विमीय प्राप्तांक परस्पर पूर्णत: स्वतन्त्र होते हैं। इसके विपरीत सृजनात्मकता परीक्षण में विमाएँ पाठ्यवस्तु के विभाजन पर आधारित न होकर प्रक्रियाओं का अंकन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से करने के आधार पर निर्धारित की जाती है। प्रत्येक प्रश्न के लिए दी गई प्रतिक्रियाएँ सभी विमाओं के लिए प्राप्तांक प्रदान करती हैं। परिणामत: विमीय प्राप्तांकों का योग करके कुल सृजनात्मकता ज्ञात करना व्यावहारिक दृष्टि से उचित हो सकता है, परन्तु पद विश्लेषण के लिए सांख्यिकीय दृष्टिकोण से उचित स्वीकार करना कठिन है। सृजनात्मकता परीक्षण के पद विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य ऐसे प्रश्न छाँटना होना चाहिये जो व्यक्ति की प्रवाहता, विविधता, मौलिकता आदि का अधिकाधिक प्रस्फुटन (Manifestaon) करने में समर्थ हों। इसके लिए पद विश्लेषण की किसी अन्य व विशिष्टि विधि का अनुसरण करना होगा। दूसरे शब्दों में, या तो सृजनात्मकता परीक्षण पर प्रवाह, विविधता, मौलिकता आदि के लिए अलग-अलग प्राप्तांक न प्राप्त करके कुल प्राप्तांक (Total Score) को प्राप्त किया जाये अथवा विभिन्न विमीय प्राप्तांकों को दृष्टिगत रखकर ही पद विश्लेषण किया जाये। यदि परीक्षण पर केवल कुल सृजनात्मकता प्राप्तांक (Total retivity Score) ही प्राप्त करने होते हैं तब तो सामान्य प्रविधियों से पद वैधता या पद विभेदकता ज्ञात की जा सकती है तथा अधिक पद वैधता या विभेदकता वाले प्रश्नों को परीक्षण के अन्तिम प्रारूप में सम्मिलित किया जा सकता है।

सृजनात्मकता की विभिन्न विमाओं यथा प्रवाह, विविधता, मौलिकता आदि पर प्राप्तांक प्राप्त करने के निमित्त बनाये जाने वाले परीक्षणों का पद विश्लेषण करने के लिए किन्हीं विशिष्ट प्रविधियों को प्रयोग करना होगा। इसके लिए दो विकल्प हो सकते हैं। परीक्षण निर्माण के परम्परागत चिन्तन के अनुरूप प्रथम विकल्प के अन्तर्गत प्रत्येक प्रश्न की पद वैधता या पद विभेदकता विभिन्न विमाओं के लिए अलग-अलग ज्ञात करके ऐसे प्रश्नों का चयन किया जा सकता है जो सभी विमाओं के सन्दर्भ में सार्थक पर वैधता या विभेदकता रखते हों। स्पष्टत: तब एक ही प्रश्न के लिए कई पद वैधता या विभेदकता गुणांक (सृजनात्मकता की प्रत्येक विमा के लिए एक-एक) ज्ञात करने होंगे तथा उन सभी गुणांकों को दृष्टिगत रखकर ही पदों का चयन करना होगा। विभिन्न विमाओं के लिए अलग-अलग पद-विश्लेषण करके पद वैधता या विभेदकता ज्ञात करने की यह विधि समय व श्रम की दृष्टि से कुछ कठिन जान पड़ती है।

विभिन्न विमाओं की प्रकृति को देखते हुए कहा जा सकता है कि सृजनात्मकता परीक्षण का उद्देश्य व्यक्ति में छिपी सृजनात्मकता को उद्वेलित करके सामने लाना है जिससे व्यक्ति के चिन्तन की प्रवाहता विविधता, मौलिकता आदि का मापन किया जा सके। क्योंकि किसी प्रश्न पर व्यक्ति के द्वारा दी गई प्रतिक्रियाएँ सही अथवा गलत नहीं होती हैं, इसलिए दो व्यक्तियों के द्वारा समान संख्या में प्रतिक्रियाएँ देने के बावजूद उन दोनों के विभिन्न विमाओं पर तथा कुल सृजनात्मकता प्राप्तांक भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार से दो व्यक्तियों के द्वारा असमान संख्या में दी गई प्रतिक्रियाओं के बावजूद वे एक समान प्राप्तांक प्राप्त कर सकते हैं ऐसी स्थिति में लेखक के

मतानुसार पद विश्लेषण के लिए पद वैधता या विभेदकता ज्ञात करने के समय प्रश्नों के चयन का एक मात्र आधार प्रश्नों के द्वारा प्रवाहता, मौलिकता, विविधता आदि चिन्तन योग्यताओं को उद्वेलित करने की क्षमता ही होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, जो प्रश्न व्यक्ति की सृजनात्मक चिन्तन योग्यताओं यथा प्रवाह, विविधता, मौलिकता आदि के प्रस्फुटन (Manifestation) में अधिक समर्थ हों, उन्हें ही सृजनात्मकता के मापन के लिए बनाये जा रहे परीक्षण में सम्मिलित किया जाना चाहिए। निःसन्देह किसी प्रश्न पर व्यक्तियों के किसी बड़े समूह के द्वारा सृजनात्मकता की विभिन्न विमाओं पर प्राप्त अंकों के मध्यमान उस प्रश्न की सृजनात्मक योग्यताओं को प्रस्फुटित करने की क्षमता को इंगित करेंगे। किसी प्रश्न पर प्रवाह, विविधता, मौलिकता आदि के मध्यमान अधिक होने का अर्थ है कि प्रश्न इन विमाओं को अधिक मात्रा में प्रस्फुटित करने में समर्थ रहा है।

किसी प्रश्न पर व्यक्तियों के द्वारा विमीय प्राप्तांकों के विस्तार या मानक विचलन उस पद की विभिन्न विमाओं पर व्यक्तियों में विभेद की क्षमता के परिचायक होंगे। किसी प्रश्न पर किसी विमीय प्राप्तांकों के मानक विचलन का अधिक होना, उस विमा के प्राप्तांकों के लिए समूह की विषमता (Hetrogenety) को इंगित करेगा। स्पष्ट है कि किसी प्रश्न पर प्रवाह, विविधता, मौलिकता आदि प्राप्तांकों के मानक विचलन अधिक होने का तात्पर्य प्रश्न के द्वारा इन योग्यताओं पर 'व्यक्तियों' में अधिक विभेद करने में समर्थ होना है। अतः सृजनात्मकता परीक्षण में केवल ऐसे प्रश्न रखे जाने चाहिए जिनके लिए विभिन्न विमीय प्राप्तांकों के मध्यमान तथा मानक विचलन अधिक हों। ऐसे प्रश्न व्यक्तियों की सृजनात्मक योग्यताओं को अधिक मात्रा में प्रस्फुटित होने के अवसर प्रदान करने के साथ-साथ व्यक्तियों में विभिन्न सृजनात्मकता योग्यताओं के सन्दर्भ में अधिक विभेद भी कर सकेंगे। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सृजनात्मकता परीक्षण का पद विश्लेषण करते समय पहले विभिन्न प्रश्नों के लिए विभिन्न विमाओं पर प्राप्तांक प्राप्त कर लेने चाहिए। फिर विभिन्न विमाओं के लिए मानक विचलन ज्ञात कर लेने चाहिए। तत्पश्चात् ऐसे प्रश्नों का चयन करना चाहिए जिनके लिए सभी विमाओं पर मध्यमान तथा मानक विचलन अन्य प्रश्नों से अधिक हों।

5.35 कतिपय सृजनात्मकता परीक्षण

जैसी कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि सृजनात्मकता के मापन के लिए अनेक परीक्षणों का निर्माण तथा प्रमापीकरण किया जा चुका है। पाठकों की जानकारी के लिए कुछ प्रमुख परीक्षणों का संक्षिप्त वर्णन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. गिलफोर्ड व मेरीफील्ड का कालेज छात्रों के लिए सृजनात्मकता परीक्षण

गिलफोर्ड तथा मेरीफील्ड के अनुसार सृजनात्मक चिन्तन में गैर परम्परागत उत्पादन (Divergent Production) रूपान्तरण (Transformation) तथा पुनः पारिभाषीकरण (Re-definition) की योग्यताएँ निहित होती हैं। उन्होंने कालेज छात्रों की सृजनात्मकता का मापन करने के लिए एक परीक्षण का निर्माण किया, जिसमें निम्न छः घटकों या कारकों को सम्मिलित किया–

(i) समस्या के प्रति संवेदनशीलता (Senstivity)

(ii) विविधता (Flexibility)

(iii) प्रवाह (Fluency)

(iv) मौलिकता (Originality)

(v) विस्तारण (Elaboration)

(vi) पुनः परिभाषीकरण (Re-definition)

2. टोरेन्स के सृजनात्मक चिन्तन के परीक्षण

नोट

ोरेन्स के द्वारा तैयार की गई इस परीक्षणशृंखला में दो परीक्षण हैं–प्रथम, शाब्दिक परीक्षण (Verbal Test) जिसे शब्दों के साथ सृजनात्मक चिन्तन (Thinking Creatively with Words) कहते हैं, तथा दूसरा, आकृतिक परीक्षण (Figural Test). जिसे चित्रों के साथ सृजनात्मक चिन्तन (Thinking Creatively with Figures) कहते हैं। इस परीक्षणशृंखला में निम्न चार प्रकार के कार्य सम्मिलित हैं–

(i) किसी चित्र के सम्बन्ध में अधिकाधिक प्रश्न करना।

(ii) किसी खिलौने में सुधार के लिए परिवर्तन सुझाना।

(iii) किसी सामान्य वस्तु के अधिकाधिक प्रयोग बताना।

(iv) किसी दी गई वक्रीय रेखा के चारों ओर कोई चित्र बनाना तथा चित्र को शीर्षक देना।

यह परीक्षण प्रवाह (fluency), विविधता (Flexibility), मौलिकता (Originality) तथा विस्तारण (Elabo- ration) नामक चार प्राप्तांक प्रदान करता है।

3. पासी का सृजनात्मकता परीक्षण

इन्दौर के प्रो.बी.के. पासी के द्वारा 1972 में निर्मित इस सृजनात्मकता परीक्षण में निम्नलिखित छः उपपरीक्षण सम्मिलित हैं–

(i) समस्या देना परीक्षण (Seeing Problem Test)

(ii) असामान्य उपयोग परीक्षण (Unusual Uses Test)

(iii) परिणाम परीक्षण (Consequences Test)

(iv) जिज्ञासा परीक्षण (Test of Inquisitiveness)

(v) वर्ग पहेली परीक्षण (Square Puzzle Test)

(vi) ब्लाक परीक्षण (Blocks Test)

स्पष्ट है कि इस परीक्षण में शाब्दिक तथा अशाब्दिक दोनों ही प्रकार के कार्य सम्मिलित किये गये हैं। परीक्षण पर कुल सृजनात्मकता प्राप्तांक के साथ-साथ चौदह अन्य विमीय प्राप्तांक भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस परीक्षण की परीक्षण निर्देशिका (Manual) अंग्रेजी भाषा में है परन्तु परीक्षण पुस्तिकाएँ हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में उपलब्ध है।

बाक़र मेंहदी के सृजनात्मक चिन्तन परीक्षण

अलीगढ़ के प्रो. बाक़र मेंहदी के द्वारा सृजनात्मक चिन्तन की इस परीक्षणशृंखला में दो परीक्षण–(i) सृजनात्मक चिन्तन का शाब्दिक परीक्षण (Verbal Test of Creative Thinking) तथा (ii) सृजनात्मक चिन्तन चित्रों द्वारा (Thinking Creatively with Figures) हैं । पहले परीक्षण, जो कि शाब्दिक परीक्षण है, में निम्न चार कार्य सम्पादित किये गये हैं–

(i) यदि ऐसा हो जाये तो (Consequences Test)

(ii) वस्तुओं के नये-नये प्रयोग (Unusual Uses Test)

(iii) नये-सम्बन्ध पता लगाना (New Relationship Test)

(iv) वस्तुओं को मनोरंजक बनाना (Product Improvement Test)

इस परीक्षण के द्वारा सृजनात्मकता के तीन कारकों यथा प्रवाह (Fluency) विविधता (Flexibility) तथा मौलिकता (Originality) का मापन होता है।

नोट

बाक़र मेंहदी द्वारा निर्मित दूसरे परीक्षण, जो कि अशाब्दिक परीक्षण हैं, के अन्तर्गत निम्नांकित तीन कार्य सम्मिलित किये गये हैं–

(i) चित्र बनाओ

(ii) चित्र पूर्ति व शीर्षक बताओ

(iii) त्रिभुजाकार व अण्डाकार आकृतियाँ

इस परीक्षण के द्वारा सृजनात्मकता के विस्तारण (Elaboration) तथा मौलिकता (Originality) नामक दो कारकों का मापन होता है।

5.36 अभिक्षमता का अर्थ

अभिक्षमता किसी क्षेत्र विशेष में व्यक्ति की कार्य कुशलता की विशिष्ट योग्यता (ेचमबपपिब इंपसपजल) तथा विशिष्ट क्षमता (specific potentiality) को इंगित करती है।

बिंघम के अनुसार– "किसी विशिष्ट प्रशिक्षण के उपरान्त दिये गये क्षेत्र में कुछ ज्ञान या कौशल या प्रतिक्रियओं को समुच्चय को अर्जित करने की किसी व्यक्ति की योग्यता को लाक्षणिक रूप से व्यक्त करने वाली विशेषता अथवा दशाओं का समुच्चय अभिक्षमता है।" (An aptitude is a characteristic or set of conditions, that are symptomatic to the individual's ability to acquire with some specified train- ing some knowledge or skill or a set of responses in a given field.)

फ्रीमैन के शब्दों में, "अभिक्षमता ऐसी विशेषताओं के समूह का द्योतक है जो (प्रशिक्षण के उपरान्त) किसी विशिष्ट ज्ञान, कौशल या संगठित प्रतिक्रियाओं के समुच्चय को अर्जित करने के व्यक्ति की योग्यता का द्योतक, है जैसे भाषा बोलने, संगीतकार बनने, यान्त्रिक कार्य करने की योग्यता।''

(An aptitude is a city combination of characteristics indicative of an individuals's capaticy to acquire (with training) some specific knowledge, skill, or set of organized responses, such as he ability to speak a language, to become a musician, to do mechanical work.)

अभिक्षमता के अर्थ के सम्बन्ध में उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अभिक्षमता से हमारा तात्पर्य व्यक्ति के उस रुझान, रुचि या योग्यता से है जो किसी विशिष्ट कार्य, पाठ्यक्रम या व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक व महत्त्वपूर्ण होती है। पाठकों को अभिक्षमता तथा कुशलता व दक्षता के बीच के अन्तर को भी समझ लेना होगा। कुशलता (Skills) से तात्पर्य किसी दिये गए कार्य को सुगमता एवं परिशुद्धता से करने की योग्यता से होता है। दक्षता (Proficiency) शब्द का अर्थ भी बहुत कुछ यही है, परन्तु यह कुशलता से अधिक व्यापक (Comprehensive) होता है। दक्षता में न केवल कुछ गामक व हस्त क्रियाओं (Motor and Manual activities) में कुशलता (skills) सम्मिलित रहती है वरन् अन्य क्रियाओं में कुशलता जैसे भाषा, इतिहास, अर्थशास्त्र, गणित,

नोट

विज्ञान आदि में व्यक्ति की योग्यताएँ भी समाहित रहती हैं। अभिक्षमता (Aptitude) से अभिप्राय उपयुक्त परिस्थितियों में किसी क्षेत्र विशेष में दक्षता अर्जित करने की क्षमता से होता है। दूसरे शब्दों में अभिक्षमता किसी क्षेत्र विशेष में सफलता प्राप्त करने का पूर्व कथन (prediction) करने वाली बीजभूत योग्यता (Potential Abilities) को इंगित करती है। अभिक्षमता का वास्तविक आशय आगे दिए गए चित्र से स्पष्ट हो सकेगा।

बिंघम (Bingham) ने अभिक्षमता की पाँच प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है ये पाँच विशेषताएँ निम्नवत् हैं–

(i) किसी व्यक्ति की वर्तमान अभिक्षमता उसके वर्तमान गुणों का एक ऐसा समुच्चय है जो उसकी भावी क्षमताओं की ओर संकेत करता है।

(ii) किसी व्यक्ति की अभिक्षमता किसी कार्य को करने में उसकी समुपयुक्तता (थ्पजदमे) को व्यक्त करती है।

(iii) अभिक्षमता किसी मूर्त (Concrete) वस्तु या योग्यता का नाम न होकर एक अमूर्त (Abstract) संज्ञा है जो व्यक्ति के सम्पूर्ण वयक्तित्व के एक विशेष गुण को व्यक्त करती है।

(iv) अभिक्षमता वर्तमान में होने पर भी भविष्य की क्षमताओं का प्रतीक होती है।

(v) अभिक्षमता की योग्यता, रुचि तथा सन्तुष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

बिंघम ने अभिक्षमता की उपरोक्त वर्णित पाँच विशेषताओं के अतिरिक्त, अभिक्षमता की निम्न तीन मान्यताओं का भी वर्णन किया है–

1. किसी व्यक्ति की समस्त अभिक्षमताएँ समान रूप में नहीं होती है। व्यक्ति की विभिन्न अभिक्षमताओं में अन्तर होना स्वाभाविक ही है। व्यक्ति में किसी कार्य की अभिक्षमता कम हो सकती है तथा किसी कार्य की अभिक्षमता अत्यधिक हो सकती है।
2. अभिक्षमता की प्रकृति वैयक्तिक होती है। दूसरे शब्दों में अभिक्षमताओं में व्यक्तिगत भिन्नताएँ पाई जाती है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों की अभिक्षमताओं में अन्तर का होना स्वाभाविक होता है।
3. यद्यपि किसी व्यक्ति की अभिक्षमताएँ स्थिर रहती हैं फिर भी इनमें परिवर्तन आ सकते हैं। परन्तु ये परिवर्तन क्रमिक तथा अत्यन्त अल्प मात्र होते हैं।

5.37 अभिक्षमता का मापन

अभिक्षमता के मापन के लिए अभिक्षमता परीक्षणों (Aptitude Tests) का प्रयोग किया जाता है। **फ्रीमैन** (Freeman) के अनुसार "अभिक्षमता परीक्षण वह है जिसकी रचना किसी विशेष प्रकारकी तथा किसी सीमित क्षेत्र की क्रिया करने की बीजभूत योग्यता को मापने के लिए की जाती है।" (An aptitude tests is one designed to measure a person's potential ability in an activity of a specialized kind and within a restricted range.)

अभिक्षमता परीक्षणों को उनकी प्रकृति के आधार पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

(i) सामान्य अभिक्षमता परीक्षण (General Aptitude Test)

(ii) भेदक अभिक्षमता परीक्षण (Differential Aptitude Tests)

(iii) विशिष्ट अभिक्षमता परीक्षण (Specified Aptitude Tests)

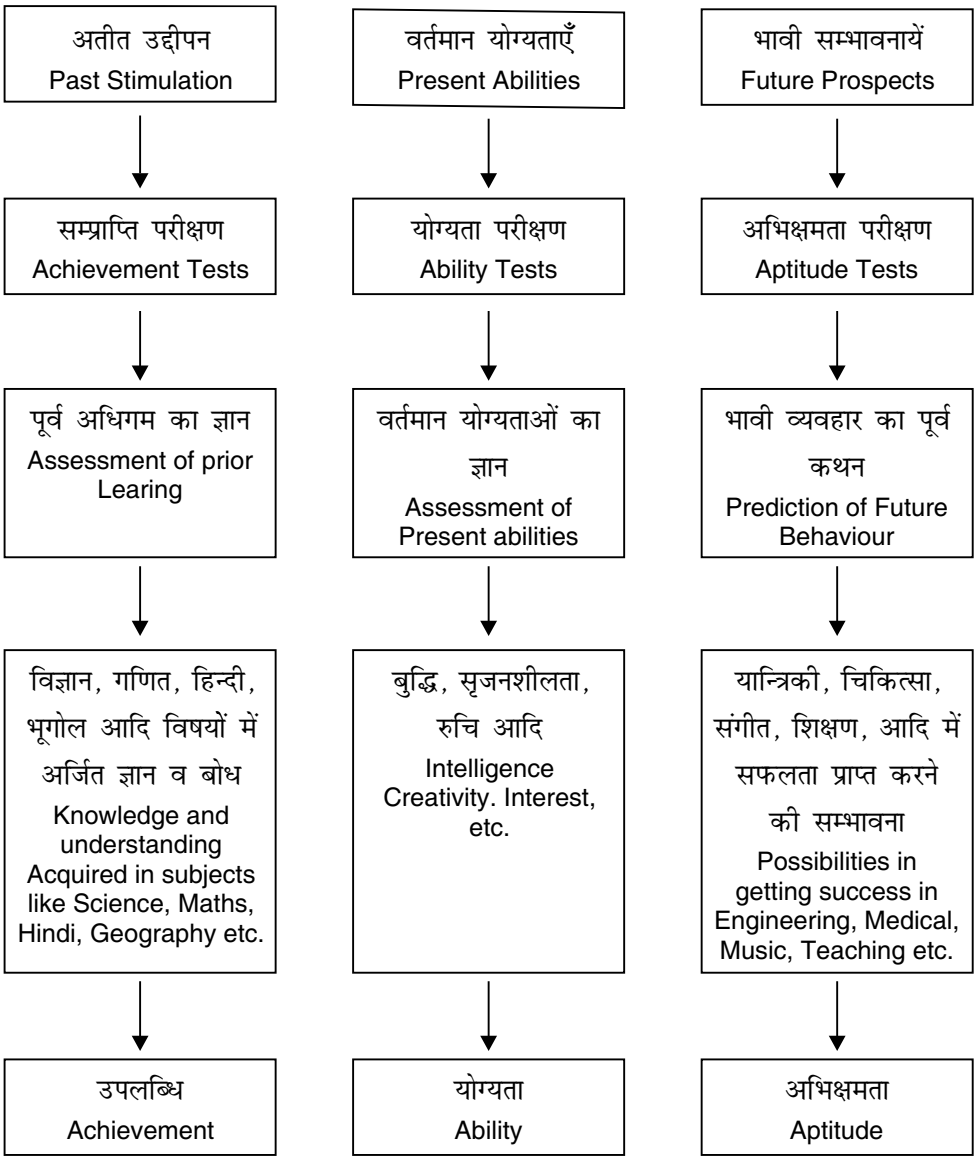

चित्र 5.6. सम्प्राप्ति, योग्यता तथा अभिक्षमता की तुलना

5.38 सामान्य अभिक्षमता परीक्षण

सामान्य अभिक्षमता परीक्षण वे हैं जो किसी भी सामान्य कार्य क्षमता का मापन करते हैं। ये परीक्षण प्राय: व्यक्ति की सामान्य बुद्धि (General Intelligence). मानसिक योग्यता (Mental Ability) अथवा सीखने की योग्यता (Learning Ability) का मापन करते हैं। इस प्रकार के परीक्षण व्यक्ति की सामान्य भावी सफलता को इंगित करते हैं। क्योंकि सामान्य बुद्धि परीक्षणों के द्वारा छात्रों की विद्यालयी सफलता का सफलतापूर्वक पूर्व कथन किया जा सकता है। इसलिए कुछ विद्वान इन्हें शैक्षणिक अभिक्षमता परीक्षण (Scholastic Aptitude tests) के नाम से पुकारना अधिक उपयुक्त समझते हैं। स्पष्ट है कि अभिक्षमता परीक्षण वर्ग में सामान्य बुद्धि परीक्षण अथवा सामान्य मानसिक योग्यता परीक्षण जैसे मापन उपकरण रखे जाते हैं।

5.39 भेदक अभिक्षमता परीक्षण

नोट

इस प्रकार के अभिक्षमता परीक्षण प्रायःश्रृंखला प्रकार के परीक्षण (Battery Type Tests) होते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस प्रकार के अभिक्षमता परीक्षण या तो अनेक परीक्षण का समूह याश्रृंखला होती है अथवा इस प्रकार के परीक्षणों में अनेक-उप-परीक्षण होते हैं। ये विभिन्न परीक्षण या उप-परीक्षण व्यक्ति की भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की अभिक्षमताओं को इंगित करते हैं तथा जिन पर व्यक्ति के द्वारा प्राप्त अंकों का तुलनात्मक विवेचन करके व्यक्ति की अधिक अभिक्षमता वाले क्षेत्रों (Areas) को ज्ञात कर लिया जाता है। क्योंकि ये परीक्षण व्यक्ति की विभिन्न अभिक्षमताओं में विभेद को व्यक्त करते हैं। इसलिए इन्हें भेदक अभिक्षमता परीक्षण (Differential Aptitude Tests) कहा जाता है। इस प्रकार के परीक्षणों में प्रायः शाब्दिक, बोध, आंकिक बोध, स्थानगत बोध, यान्त्रिक बोध, लिपिकीय क्षमता, स्वभावगत झुकाव (Behavioural tendencies) आदि से सम्बन्धित उप-परीक्षण होते हैं। विभेदक अभिक्षमता परीक्षण (DAT), सामान्य अभिक्षमता परीक्षण बैटरी (GATB), अभिक्षमता सर्वेक्षण (A.S) तथा अभिक्षमता वर्गीकरण परीक्षण (ACT) कुछ प्रमुख विदेशी अभिक्षमता परीक्षण हैं। इन में से कुछ का भारतीय दशाओं में अनुशीलन भी किया जा चुका है तथा इन अनुशीलनों को भारत में बहुतायत से प्रयुक्त किया जाता है। भेदक अभिक्षमता प्रकार के किसी मौलिक व सफल परीक्षण का निर्माण भारत में अभी तक नहीं हो सका है। विभेदक अभिक्षमता परीक्षण की प्रकृति से पाठकों को अवगत कराने की दृष्टि से अमेरिका की मनोवैज्ञानिक कारपोरेशन के द्वारा प्रकाशित विभेदक अभिक्षमता (DAT) का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

अमेरिका की मनोवैज्ञानिक कारपोरेशन (Psychological Corporation) के द्वारा प्रकाशित तथा बैनेट (Bannett), सीशोर (Seashore) तथा वेसमैन (Wesman) के द्वारा तैयार किया गया विभेदक अभिक्षमता परीक्षण, जिसे संक्षेप में क्ण्ण्ज्ण् कहते हैं, एक अत्यधिक प्रसिद्ध तथा बहुतायत से प्रयुक्त किया जाने वाला परीक्षण है। यह परीक्षण कक्षा 8 से कक्षा 12 तक के लिए है तथा इसके दो प्रारूप (Form S and T) उपलब्ध हैं। प्रत्येक प्रारूप में आठ-आठ उप-परीक्षण हैं जो दो परीक्षण पुस्तिकाओं में व्यवस्थित रहते हैं। एक परीक्षण पुस्तिका में शाब्दिक तर्क (Verbal Reasoning या VR), आंकिक योग्यता (Numerical Ability या NA), अमूर्त तर्क (Abstract Reasoning या AR) तथा लिपिकीय गति व परिशुद्धता (Clerical Speed and Accuracy या CSA) नामक चार उप-परीक्षण होते हैं, जिनके लिए क्रमशः 30, 30, 25 व 6 मिनट (कुल 91 मिनट) का समय निर्धारित रहता है। दूसरी परीक्षण पुस्तिका में यान्त्रिक तर्क (Mechanical reasoning या MR), स्थानगत सम्बन्ध (Space Relations या SR), वर्ण विन्यास (Spelling या SP) तथा भाषा प्रयोग (Language Usage या LU) नामक चार उप-परीक्षण होते हैं जिनके लिए क्रमशः 30, 25, 10 व 25 मिनट (कुल 90 मिनट) का समय निर्धारित रहता है। यद्यपि आठों परीक्षणों का समय निर्धारित है फिर भी केवल लिपिकीय गति व परिशुद्धता का परीक्षण गति परीक्षण (Speed Test) है, शेष सभी परीक्षण शक्ति परीक्षण (Power Test) है। सम्पूर्ण परीक्षण को परिस्थितिनुसार दो, चार या छह सत्रों में प्रशासित किया जा सकता है। आठों परीक्षणों पर अलग-अलग प्राप्तांक प्राप्त होते हैं। परीक्षण निर्माताओं ने VR + N। नामक एक नवाँ परीक्षण प्राप्तांक भी इंगित किया है। जिसे सामान्य शैक्षणिक अभिक्षमता (General Scholastic Aptitude) के रूप में व्यक्त किया जाता है। इन नौ प्राप्तांकों को प्रतिशतीय क्रमांक (Percentile Ranks) तथा स्टेनाइन (Stanines) में परिवर्तित किया जा सकता है। लिपिकीय परीक्षण के लिए समतुल्य विधि तथा अन्य परीक्षणों के लिए अर्द्धविच्छेद विधि का प्रयोग करने पर विभिन्न उप-परीक्षणों के विश्वसनीयता गुणांक लड़कों के लिए 79 से

97 तथा लड़कियों के लिए 80 ये 97 के बीच पाये गये। इस परीक्षणश्रृंखला की पूर्व कथन वैधता (Predictive Validity) तथा समवर्ती वैधता (Concurrent Validity) ज्ञात की गई है।

नोट

विभिन्न विषयों में छात्रों के द्वारा अर्जित ग्रेडों को DAT के द्वारा पूर्व कथित करने से सम्बन्धित अनुसंधान कार्यों के परिणाम निम्नवत हैं–

(i) VR + NA, LU तथा VR प्राप्तांकों से अंग्रेजी विषय के ग्रेडों का सर्वोत्तम पूर्व कथन किया जा सकता है।

(ii) VR + NA, या केवल NA प्राप्तांकों से गणित विषय के ग्रेडों का सर्वोत्तम पूर्व कथन किया जा सकता है।

(iii) VR + NA, VR, NA या LU प्राप्तांकों से विज्ञान विषय के ग्रेडों का सर्वोत्तम पूर्व कथन किया जा सकता है।

(iv) VR + NA, VR, NA या LU प्राप्तांकों से सामाजिक अध्ययन विषय के ग्रेडों का भी सर्वोत्तम पूर्व कथन किया जा सकता है।

(v) DAT के सर्वोत्तम उप-परीक्षण प्राप्तांकों तथा विभिन्न विषयों में ग्रेडों के मध्य सहसम्बन्ध गुणांकों का मान 40 से 60 के बीच था।

(vi) VR + NA प्राप्तांकों तथा सामान्य बुद्धि परीक्षणों पर प्राप्त अंकों के मध्य उच्च सहसम्बन्ध गुणांक, 70 से, 85 के बीच प्राप्त हुए।

5.40 विशिष्ट अभिक्षमता परीक्षण

इस प्रकार के अभिक्षमता परीक्षण वे परीक्षण हैं जो किन्ही/किसी विशिष्ट क्षेत्र में व्यक्ति की अभिक्षमता का मापन करने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे यान्त्रिक अभिक्षमता परीक्षण, संगीत अभिक्षमता परीक्षण, शिक्षण अभिक्षमता परीक्षण तथा चिकित्सकीय अभिक्षमता परीक्षण क्रमशः यान्त्रिक, संगीत, शिक्षण व चिकित्सा के क्षेत्र में किसी व्यक्ति की अभिक्षमता का मापन करने के लिए तैयार किये जाते हैं। विभिन्न विशिष्ट अभिक्षमताओं का मापन करने के लिए तैयार किये गये कुछ प्रमुख विदेशी परीक्षण निम्नवत हैं–

(i) सीशोर संगीत प्रतिभा परीक्षण Seashore Measures of Musical Talent

(ii) विंग संगीत बुद्धि के प्रमापीकृत परीक्षण Wing standardized Tests of Musical Intelligence

(iii) संगीत अभिक्षमता प्रोफाइल (Musical Aptitude profile)

(iv) हॉर्न कला अभिक्षमता सूची (Horn Art Aptitude Inventory)

(v) मियर कला परीक्षण (Meier Art Tests)

(vi) ग्रेवस डिजाइन निर्णय परीक्षण (Graves Design Judgement Tests)

(vii) मिनिसोटा लिपिकीय परीक्षण (Minnesota Clerical Test)

(viii) यान्त्रिक बोध के परीक्षण (Tests of Mechanical Comprehension)

(ix) चिकित्सा महाविद्यालय प्रवेश परीक्षण (Medical College Admission Test)

(x) कानून विद्यालय प्रवेश परीक्षण (Law School Admission Test)

(xi) पूर्व-अभियान्त्रिकी योग्यता परीक्षण (Pre-Engineering Ability Test)

भारतवर्ष में भी कुछ अभिक्षमता परीक्षणों का निर्माण मनोविज्ञानशालाओं, शैक्षिक व व्यावसायिक परामर्श संस्थाओं तथा अनुसंधानकर्त्ताओं के द्वारा किया गया है। इनमें से कुछ परीक्षण निम्नवत हैं–

(i) यान्त्रिक अभिक्षमता परीक्षण – आत्मानन्द शर्मा

(ii) लिपिकीय अभिक्षमता परीक्षण – किरन गुप्ता

(iii) वैज्ञानिक अभिक्षमता परीक्षणमाला – के. के. अग्रवाल

(iv) अध्यापन अभिक्षमता परीक्षण – सिंह एवं शर्मा

(v) डी. ए. टी. के प्रारूप एल का अनुशीलन – जे. एम. ओझा

चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए ली जाने वाली पूर्व-चिकित्सा परीक्षा (Pre Medical Test), अभियान्त्रिकी उपाधि पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए ली जाने वाली प्रवेश परीक्षा (Adminision Test), बी. एड. कक्षाओं के लिए ली जाने वाली बी. एड. प्रवेश परीक्षा (B.Ed. Admission Test) तथा विधि कक्षाओं के लिए ली जाने वाली विधि प्रवेश परीक्षा (Law Admission Test) अप्रमापीकृत प्रकार के अभिक्षमता परीक्षण ही हैं।

नोट

5.41 सारांश

प्रत्येक व्यक्ति में कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं जो कि उसे दूसरे से भिन्न व्यक्ति के रूप में, प्रस्तुत करती हैं। व्यक्तिगत भेद का वैज्ञानिक अध्ययन कुछ समय पूर्व ही आरम्भ हुआ है। मनोविज्ञान का विकास तथा व्यवहार सम्बन्धी अध्ययन जैसे-जैसे होता गया, शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ। सर्वप्रथम 19वीं शताब्दी में सर फ्रांसिस गाल्टन (Galton) का ध्यान वंशानुक्रम का अध्ययन करते समय इस ओर गया। इसके बाद 20वीं शताब्दी में इसका अध्ययन पियर्सन (Pearson), कैटेल (Cattel) तथा टरमैन (Terman) आदि मनोवैज्ञानिकों ने किया। फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में इन अध्ययनों के आधार पर वैयक्तिक भिन्नता के कारणों को जानकर, शिक्षाशास्त्रियों ने, शिक्षा की योजना, उपयुक्त एवं उपयोगी शिक्षा प्रणालियों एवं सिद्धान्तों का निर्माण किया।

वैयक्तिक भिन्नता या व्यक्तिगत भेद का अर्थ एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से रूप, रंग, शारीरिक गठन, विशिष्ट योग्यताओं, बुद्धि, रुचि, स्वभाव, उपलब्धियों तथा व्यक्तित्व के अन्य गुणों आदि में भिन्नता से है। स्किनर के अनुसार, "आज हमारा यह विचार है कि व्यक्तिगत विभिन्नताओं में सम्पूर्ण व्यक्तित्व का कोई भी ऐसा पहलू सम्मिलित हो सकता है, जिसकी माप की जा सकती है।" स्किनर की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि व्यक्तिगत भिन्नताओं में व्यक्तित्व के वे सभी पहलू आ जाते हैं, जिनकी माप की जा सकती है।

दैनिक जीवन में बुद्धि एक सामान्य शब्द है जिसका प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। वैयक्तिक भिन्नता का विस्तृत अध्ययन करते समय हम यह देखेंगे कि कोई दो व्यक्ति बिल्कुल समान नहीं होते, कुछ तीव्र बुद्धि के होते हैं तो कुछ मंद बुद्धि के कुछ सुस्त, कुछ समस्याओं को शीघ्र हल कर लेते हैं और कुछ बहुत देर बाद, उनमें परस्पर भिन्नता के कई कारण होते हैं, जिसमें एक बुद्धि महत्त्वपूर्ण है। बालक की मानसिक योग्यता पर उसकी बुद्धि का प्रभाव पड़ता है। यह एक सर्वमान्य सत्य है कि बुद्धिमान व्यक्ति को जीवन के हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त होती है, किन्तु दूसरी तरफ इसके विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की भी आवश्यकता होती है। बुद्धि में कोई एक गुण नहीं होता है बल्कि बुद्धि अनेक गुणों का समुच्चय है।

शिक्षा के क्षेत्र में मानसिक योग्यता में भिन्नता का अध्ययन करना महत्त्वपूर्ण है। छात्रों का मानसिक योग्यता या क्षमता में अन्तर बुद्धि के कारण होता है। शिक्षा में व्यक्तिगत भिन्नताओं का

नोट

अध्ययन करना आवश्यक है। व्यक्तिगत भिन्नताओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कई विधियों का प्रयोग किया जाता है। बुद्धि परीक्षाएँ शिक्षा की बहुत-सी समस्याओं का समाधान करने में सहायता देती हैं, अत: इनके विषय में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। आधुनिक काल में बुद्धि-परीक्षण के संबंध में वैज्ञानिक अध्ययन यूरोप में आरंभ हुए।

बुद्धि संबंधी अनेक सिद्धांतों के अन्तर्गत गिलफर्ड ने बुद्धि संबंधी अपना एक अलग ही सिद्धांत प्रतिपादित किया है। गिलफार्ड के अनुसार बुद्धि कुछ प्राथमिक बौद्धिक योग्यताओं (Primary Intellectual Abilities) की संरचना (Structure) मात्र है। गिलफर्ड कहता है कि प्रत्येक बौद्धिक योग्यता अपने में विशिष्ट व अनूठी होती है। साथ ही, प्रत्येक कार्य को सही ढंग से करने के लिए किसी न किसी की बौद्धिक योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। अत: इस दृष्टि से गिलफर्ड की मान्यता है कि प्रत्येक बौद्धिक योग्यता की माप अलग-अलग ढंग से की जानी चाहिए। गिलफर्ड महोदय इस संदर्भ में यह भी मानते हैं कि विभिन्न बौद्धिक योग्यताओं में कुछ समानताएँ (similarities) भी दृष्टिगोचर होती है।

व्यक्ति जो कुछ भी नित्य अनुभव करता है वह मस्तिष्क में किसी-न-किसी रूप में संचित होता रहता है। जो अनुभव मन के अचेतन स्तर पर रहते हैं या चेतनायुक्त नहीं होते उन्हें 'संचय' कहते हैं और जो चेतन स्तर पर आ जाते हैं उन्हें स्मृति कहते हैं। जीवन के व्यावहारिक कार्यों में स्मृति से ही सहायता मिलती है।

विस्मृति के कारणों का व्यापक आधार प्रस्तुत करने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने विस्मृति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जिससे अधिगम को प्रभावशाली बनाये रखने हेतु विस्मृति के दुष्प्रभावों से बचा जा सके। शिक्षा की प्रमुख प्रक्रिया में अधिगम (सीखना) के लिए स्मरण क्रिया के साथ विस्मरण का भी स्थान एवं महत्त्व है। स्मृति-प्रशिक्षण के लिए शिक्षक को विशेष बातों पर ध्यान देना चाहिए, जैसे-प्रेरणा प्रदान करना, विचार साहचर्य और सीखने के नियमों पर ध्यान देना, स्मरण करने की विधियों का प्रयोग करना आदि। कालिन्स और ड्रेवर ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं- ''यह सत्य है कि विस्मरण, स्मरण के विपरीत है, पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विस्मरण लगभग उतना ही लाभप्रद है जितना कि स्मरण।''

वैज्ञानिक, तकनीकी तथा औद्योगिक विकास के आधुनिक युग में नित प्रतिदिन नूतन आविष्कार हो रहे हैं। इनमें से अधिकांश अविष्कारों के पीछे जहाँ वैज्ञानिकों का अथक प्रयास छिपा है वहीं उनकी सृजनात्मकता का भी कम योगदान नहीं है। पहले यह माना जाता था कि केवल लेखक, कवि, चित्रकार, संगीतकार आदि व्यक्ति ही सृजनात्मक होत हैं परन्तु अब माना जाने लगा है कि मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति हो सकती है। वास्तव में संसार के समस्त प्राणियों में सृजनात्मकता पाई जाती है–किसी में कम मात्रा में सृजनात्मकता होती है तथा किसी में अधिक मात्रा में सृजनात्मकता होती है मानवीय जीवन को सुखमय बनाने के लिए नवीन आविष्कार करने तथा समस्याओं का समाधान खोजने के कार्य में सृजनात्मकता महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

5.42 अभ्यास-प्रश्न

1. वैयक्तिक भिन्नता के अर्थ एवं स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. वैयक्तिक भिन्नता के कारण समझाइए।
3. वैयक्तिक भिन्नता कितने प्रकार की होती है।
4. वैयक्तिक भिन्नता के ज्ञान का शिक्षा में महत्त्व दर्शाइए।

5. वैयक्तिक भिन्नता को प्रभावित करने वाले कारक तत्वों का उल्लेख कीजिए।
6. बुद्धि का स्वरूप समझाइए।
7. बुद्धि की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
8. बुद्धि को प्रभावित करने वाले कारक कौन-कौन-से हैं? विस्तार से समझाइए।
9. बुद्धि और ज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।
10. बुद्धि परीक्षण को विस्तार से समझाइए।
11. बुद्धि परीक्षण के इतिहास पर संक्षिप्त नोट लिखिए।
12. 'बिने साइमन स्केल' तथा 'स्टैनफोर्ड-बिने स्केल' में मूल अंतर समझाइए।
13. भारत में बुद्धि परीक्षण की स्थिति स्पष्ट कीजिए।
14. बुद्धि-लब्धि से आप क्या समझते हैं।
15. बुद्धि परीक्षणों की उपयोगिता समझाइए।
16. बुद्धि के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।
17. एक सत्तात्मक तथा असत्तात्मक सिद्धांत में अंतर स्पष्ट कीजिए।
18. गिलफर्ड को 'सम्मिलित सिद्धांत' का मूल्यांकन कीजिए।
19ण विस्मृति के स्वरूप को विस्तार से समझाइए।
20. विस्मृति के कारणों पर प्रकाश डालिए।
21. विस्मृति के सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।
22. 'स्मरण' एवं 'विस्मरण' का शैक्षिक महत्त्व समझाइए।
23. सृजनात्मकता का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके तत्वों पर प्रकाश डालिए।
24. सृजनात्मक व्यक्तित्व की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
25. सृजनात्मकता परीक्षण निर्माण प्रक्रिया समझाइए।
26. पासी एवं बाक़र मेंहदी के सृजनात्मक परीक्षण समझाइए।
27. अभिक्षमता किसे कहते हैं? परिभाषा सहित समझाइए।
28. अभिक्षमता मापन हेतु प्रयोग में लाए जाने वाले विभिन्न परीक्षणों पर प्रकाश डालिए।
29. भेदक तथा विशिष्ट अभिक्षमता परीक्षणों की विशेषताएँ बताइए।

नोट

5.43 संदर्भ पुस्तकें

- शैक्षिक अनुसंधान की कार्यप्रणाली–एल. कौल, विकास पब्लिशिंग।
- शैक्षिक अनुसंधान विधियाँ–शरीन एवं शशिकला, विनोद पुस्तक मंदिर।
- शैक्षिक तकनीकी एवं मूल्यांकन–डॉ. रामपाल सिंह, भट्ट ब्रदर्स।
- शिक्षा तकनीकी–आर.ए. शर्मा, भट्ट ब्रदर्स।